

आचार्य श्री हरिभद्र सूरि

# जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय



संयोजन- जैनसाध्वी उमरावकंवर 'अर्चना'  
संपादन- डा० छगनलाल शास्त्री

आचार्य श्री हरिमद्र सूरि

जैन योग  
ग्रन्थ चतुष्टय



श्रीहरिभद्र सूरि रचित—

# जैन योग : ग्रन्थ-चतुष्टय

[ योगदृष्टिसमुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक एवं योगविशिक  
हिन्दी अनुवाद तथा विवेचन सहित ]

कार्य-दर्शन : संयोजन

परम विदुषी जैन साध्वी श्री उमरावकंवजी 'अर्चना'

सम्पादक : अनुवादक : विवेचक

डॉ० छगनलाल शास्त्री एम.ए.

(हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी)

पी-एच-डी. काव्यतीर्थ विश्वामहोदधि

प्रकाशक

मुनि श्री हजारामिल स्मृति प्रकाशन

ब्यावर (राजस्थान)



विदुषी श्रमणीरत्न महासती श्री उमरावकुंवर जी महाराज के  
५६ वें जन्म दिवस के उपलक्ष्य में संकल्पित प्रकाशन

- जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय—आचार्य श्री हरिभद्र सूरि
- संयोजिका—विदुषी जैन साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'
- सम्पादक—डा० छगनलाल शास्त्री
- सम्प्रेरक—मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
- प्रकाशक—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन  
पीपलिया बाजार, व्यावर ३०५६०१
- प्रथम संस्करण—वि. सं. २०३८ । ई. सन् अगस्त १९८२  
वीर निर्वाण संवत् २५०६
- मूल्य—१२) बारह रुपया सिर्फ
- मुद्रण—श्रीचन्द्र सुराना के निदेशन में  
स्वास्तिक आर्ट प्रिंटर्स, सेठ गली, आगरा

## समर्पण

जिनके जीवन से शौर्य की दीप्तिमयी आभा सदा छिटकती रही,

कर्म-शूर तथा धर्म-शूर की द्विपदी का अमर घोष जिनके जीवन में अनवरत गुञ्जित रहा,

जिनके कर्म-समवाय से करुणा का अमल, धवल निर्झर सदा प्रवहणशील रहा,

निःस्पृहता, तितिक्षा, सेवा, पर-दुःख-कातरता जैसे उत्तमोत्तम मानवीय गुणों द्वारा जिनका जीवन सुसज्ज एवं शोभित रहा, जिनका योगविभूति-भूषित, प्रभविष्णु व्यक्तित्व सब के लिए दिव्य प्रेरणा-स्रोत था,

जो अपनी वदान्यता द्वारा जन जन को उपकृत करते रहे, जिनसे मैंने अपनी जीवन-यात्रा में, धर्म-यात्रा में सदा पाया ही पाया : वात्सल्य, स्नेह, प्रेरणा, करुणा तथा अनुग्रह का अपरिसीम पुण्य-संभार,

उन

अविस्मरणीय, अभिवन्दनीय, स्तवनीय परम श्रद्धास्पद

पितृचरण

स्व० मुनि श्री मांगीलालजी महाराज की पावन स्मृति में

— जैन साध्वी उमरावकुंवर 'अर्चना'



## प्रकाशकीय

ज्ञान मनुष्य का तृतीय नेत्र है। यह नेत्र पूर्व कर्म-क्षयोपशम से स्वयं भी खुल सकता है, और किसी किसी के गुरु जनों के उपदेश व शास्त्र-स्वाध्याय से भी खुलते हैं। उपादान तो आत्मा स्वयं है, किंतु निमित्त भी बहुत मूल्यवान होता है। गुरु-उपदेश और शास्त्र-स्वाध्याय का निमित्त प्राप्त होना भी अति महत्त्वपूर्ण है।

शास्त्र-स्वाध्याय के लिए सद्ग्रन्थों की उपलब्धि आवश्यक है। हमारा संस्था सत्साहित्य के प्रकाशन में प्रारम्भ से ही रुचि ले रही है, और अनेकानेक साधन जुटाकर पाठकों को कम मूल्य में उपयोगी व महत्त्वपूर्ण साहित्य उपलब्ध कराने में प्रयत्नशील रही हैं। संस्था के प्राणसम आधार एवं चक्षु-सम मार्गदर्शक युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज इस दिशा में बहुत ही जागरूक हैं। आपकी प्रेरणा व मार्गदर्शन में संस्था ने कुछ ही वर्षों में आशातीत प्रगति की है, और भविष्य में भी अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन योजनाधीन हैं।

दो वर्ष पूर्व युवाचार्य श्री की भावना के अनुसार विदुषी श्रमणी रत्न महासती श्री उमरावकंवरजी महाराज ने आचार्य श्री हरिभद्र कृत योग ग्रन्थों का सम्पादन व संशोधन करवाया था। महासती जी के मार्गदर्शन में विद्वान डा० छगनलाल जी शास्त्री ने इन चारों ग्रन्थों का सुन्दर सम्पादन-विवेचन कर एक अनूठा कार्य किया है।

वर्तमान में योग के प्रति आकर्षण बढ़ता जा रहा है। शान्ति, आनन्द और आरोग्य का मूल योग है, योग से ध्यान सिद्ध होता है, और योग व ध्यान की—अभ्यास-साधना से ही आज के संत्रासपूर्ण युग में मानव को शान्ति सुलभ हो सकती है। हमारी संस्था ने कुछ वर्ष पूर्व आचार्य श्री हेमचन्द्रकृत योगशास्त्र का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशन किया था जो काफी लोकप्रिय हुआ। योग के महान् आचार्य हरिभद्र की कृतियाँ प्रायः दुर्लभ थीं। स्वाध्याय प्रेमी जन इनके लिए प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं कर पा रहे थे, अब युवाचार्य श्री तथा महासती उमरावकंवर जी एवं डा० छगनलाल जी के प्रेरणा, मार्गदर्शन एवं सम्पादन-श्रम से ये चारों दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो रहे हैं, इसके लिए हमें भी गौरव है।

‘जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय’ के प्रकाशन का निर्णय गत वर्ष नोखा चान्दावतों के चातुर्मास में लिया गया। नोखा चान्दावतों का यद्यपि एक बहुत ही छोटा-सा ग्राम है, किंतु वहाँ के मूलनिवासी धनी-मानी धार्मिक व उद्यमी सज्जन बड़े ही उदार व उत्साही हैं। वि. सं. २०३७ का ऐतिहासिक वर्षावास नोखा में ही सम्पन्न हुआ। इस चातुर्मास में अनेक विशाल आयोजन व समारोह हुए। तपस्याएं हुईं। ज्ञान की सरिता बही। स्वधर्म-वात्सल्य का अनूठा उदाहरण देखने को मिला। वहाँ के मूल निवासी तथा दक्षिण-प्रवासी श्रावकों ने जो उत्साह व उदारता दिखाई वह वास्तव में चिर स्मरणीय रहेगी। इस चातुर्मास में उपप्रवर्तक शासनसेवी स्थविरवर स्वामी श्री ब्रज लालजी महाराज, युवाचार्य प्रवर श्री मधुकर मुनि जी म० व्याख्यान वाचस्पति श्री नरेन्द्र मुनि जी, तपस्वीराज श्री अभय मुनि जी, युवा-कवि एवं गीतकार मुनि श्री विनयकुमार जी ‘भीम’ तथा विद्या विनोदी मौनसेवी श्री महेन्द्रमुनि जी ‘दिनकर’ आदि ठाणा ६ से विराजमान थे। तपस्वी श्री अभयमुनि जी ने मासखमण तप कर तपोमहिमा की, तो गुरुदेव श्री के प्रवचनों से प्रभावित समाज ने दान-शील-तप-भाव रूप धर्म की विशेष गरिमा बढ़ाई।

इस ग्रन्थ की संप्रेरिका विदुषीरत्न काश्मीरप्रचारिका महासती श्री उमरावकंवर जी ‘अर्चना’ तपस्विनी विदुषी स्वाध्याय रसिका सती श्री उम्मेदकंवर जी म. सती श्री कंचनकंवर जी म. सती श्री सेवावंती जी म. सती श्री सुप्रभा जी म., सती श्री प्रतिभा जी म., सती श्री सुशीला जी म. एवं सती श्री उदितप्रभा जी म. आदि ठाणा आठ के ठाठ भी नोखा चातुर्मास की शोभा में चार चाँद लगा रहे थे।

गुरुदेव श्री के चातुर्मास की खुशी में ही नोखा श्री संघ के सदस्यों ने प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में उदारता पूर्वक सहयोग दिया। जिसकी सूची भी संलग्न है। ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण, संशोधन साज-सज्जा तथा श्लोकों की अकरादि अनुक्रमणिका, बनाने में साहित्य सेवी श्रीचन्द्रजी सुराणा का तथा श्री वृजमोहन जी जैन का सहयोग प्राप्त हुआ। हम सभी सहयोगी सज्जनों के प्रति हृदय से आभारी हैं, तथा पाठकों के शुभ-मंगल हेतु यह ग्रन्थ उनकी सेवा में प्रस्तुत है—

मंत्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन



स्वाध्याय-ध्यान-योग साधना-निरत  
विदुषी जैन श्रमणी  
**महासती श्री उमरावकुंवरजी 'अर्चना'**



# आशीर्चन

भारतवर्ष की संस्कृति अत्यन्त व्यापक, उदार तथा विशाल है। यह वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्परा की त्रिवेणी के रूप में भिन्न-भिन्न मार्गों से बहती हुई भी समन्वय के संगम पर पहुँची। यह इसका अपना वैशिष्ट्य है। इन तीनों ही परम्पराओं द्वारा आविष्कृत विचार-दर्शन के सुधा-कर्णों से इसका सन्निर्माण हुआ। अतएव यह सर्वदा और सर्वथा सुधास्यन्दिनी रही और आज भी है।

इस संस्कृति के निर्मापक, परिपोषक तत्त्वदर्शन एवं वाङ्मय का गहन अध्ययन हो, इसमें मैं इसके समुन्नयन एवं विकास का बीज पाता हूँ। इस देश का साहित्य असीम विशालता और व्यापकता लिए हुए है, जो संस्कृति के प्रकृष्ट प्राण-प्रतिष्ठापक रूप में अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता आ रहा है। इस प्रसंग में मैं संस्कृति, साहित्य तथा दर्शन के क्षेत्र में कार्यरत विद्वानों, अनुसन्धित्सुओं तथा साहित्यिकों का विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा, वे अपने तुलनात्मक अध्ययन, अनुशीलन के सन्दर्भ में जैन वाङ्मय का विशेष रूप से पर्यवेक्षण करें। सामष्टिक अध्ययन से चिन्तन की परिपक्वता निष्पन्न होती है।

जैन आचार्यों, विद्वानों, लेखकों तथा कवियों ने ऐसा पुष्कल साहित्य रचा, जिसने भारतीय संस्कृति तथा जीवन-दर्शन के विकास एवं संवर्द्धन में बहुत बड़ा योगदान किया। उनमें एक अत्यन्त उत्कृष्ट विद्वान तथा महान् ग्रन्थकार थे—याकिनी महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि, जिनका समय ई० सन् ७००—७७० माना जाता है। उन्होंने साहित्य की विविध विधाओं में अनेक ग्रन्थ रचे। योग पर भी उन्होंने चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की, जो पाठकों के समक्ष प्रस्तुत पुस्तक के रूप में उपस्थापित हैं।

योग एक महत्त्वपूर्ण विषय है, जिसका जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। आज योग को लेकर देश-विदेश में अनेक प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। योग क्या है, जीवन में उससे क्या सधना चाहिए—इसे यथावत् रूप में समझने की आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। जैनयोग ग्रन्थों में—विशेषतः इन ग्रन्थों में इन विषयों पर बड़ा मार्मिक तथा तलस्पर्शी विवेचन हुआ है। अतएव इनके पठन-पाठन की अपनी विशेष उपयोगिता है।



मुझे यह प्रकट करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि आयुष्मती, अन्तेवासिनी, परम विदुषी, कुशलयोग-साधनानुरता, स्वाध्याय-ध्यान-प्रवणा, सरलचेता महासती श्री उमरावकुँवर जी 'अर्चना' के कुशल मार्गदर्शन तथा निष्ठापूर्ण संयोजन में भारतीय वाङ्मय, जैन दर्शन एवं संस्कृत, प्राकृत, पालि, अपभ्रंश आदि प्राच्य भाषाओं के विद्वान डॉ० छगनलाल जी शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी० ने उक्त चारों ग्रन्थों को संपादित, अनूदित, विविक्त कर वास्तव में जैन साहित्य के क्षेत्र में बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे अपने युग के परम प्रज्ञाशील उद्भट मनीषी तथा समन्वयवादी महान् चिन्तक द्वारा रचित इतना उपादेय एवं उपयोगी साहित्य राष्ट्र भाषा हिन्दी में प्राप्त न हो, सचमुच यह बड़ी अखरने वाली कमी थी। प्रस्तुत प्रकाशन द्वारा यह अभाव सम्यक् रूप में पूरा हो रहा है, जो स्तुत्य है।

महासती श्री उमरावकुँवरजी 'अर्चना' एवं विद्वद्वर डा० छगनलाल जी शास्त्री के इस सत्प्रयास की मैं हृदय से वर्धापना करता हूँ तथा कामना करता हूँ कि उन द्वारा श्रुत-सेवा के और भी अनेक सुन्दर कार्य सुसम्पन्न हों।

जिज्ञासु, मुमुक्षु तथा अनुसन्धित्सु पाठकों के लिए यह ग्रन्थ बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

—युवाचार्य मधुकर मुनि

नोखा चांदावतों का  
(राजस्थान)  
१२-११-८१

जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय में

## उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

- श्रीमान् धर्म परायण एवं उदारमना प्रसन्नचन्दजी सा. चौरड़िया सुपुत्र—श्रीमान् रतनचन्द्रजी सा. चौरड़िया मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमान् बालचन्दजी सा. बँद तथा श्रीमती सौ. स्वमाबाई, उदार-चित्त एवं अल्पभाषी, मूल निवासी डेह, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमान् बादलचन्दजी सा. चौरड़िया, सेवाभावी सुपुत्र श्री समरथ-मलजी सा. चौरड़िया, मूल निवासी नोखा, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमान् शांतिलालजी उत्तमचन्दजी सा. चौरड़िया, सुपुत्र श्री ऋखमचन्दजी सा. चौरड़िया, धर्मप्रेमी मूल निवासस्थान नोखा, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमान् पारसमलजी सा. चौरड़िया, सुपुत्र श्री ताराचन्दजी सा. चौरड़िया, अति सरल हृदय एवं उदारमना, मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में ।
- दानवीर श्रीमान् फतेहचन्दजी सा. दुग्गड़, मूल निवास कुचेरा, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमती सौ. भँवरीबाई, धर्मपत्नी दानवीर सेठ खींवराजजी सा. चौरड़िया, उदारमना, प्रमुख समाज सेवी, धर्म प्रेमी, मूल निवास नोखा, व्यवसाय मद्रास में ।
- श्रीमती सौ. मोहनबाई गोठी, धर्मपत्नी श्रीमान् मोहनलालजी गोठी निवास—महामन्दिर (जोधपुर)
- श्रीमती सौ. इन्द्रबाई, धर्मपत्नी श्रीमान् तेजराजजी सा. भण्डारी गुरुभक्ति विशेष, महामन्दिर (जोधपुर)
- श्रीमती सौ. चाँदकुँवरबाई, कुचेरा निवासी श्रीमान् उदारमना मांगीलालजी सा. सुराणा, व्यवसाय बोलारम (सिकंदराबाद)

## उदार दानदाताओं का संक्षिप्त परिचय

- श्रीयुत जड़ावमल जी सुगनचन्द्र जी चोरड़िया । मूल निवासी—  
नोखा चांदावतो का, व्यवसाय—मद्रास । उदारमना, सरलवृत्ति  
तथा श्रद्धालु गुरुभक्त ।
- श्रीयुत विजयराज जी रिखबचन्द्र जी कांकरिया । मूल निवासी—  
हरमोलाव, व्यवसाय—विल्लीपुरम्, १०६, कामराज स्ट्रीट,  
विल्लीपुरम् । उदारचेता, गुरुभक्त ।
- श्रीमान पुखराज जी वाफना । मूल निवासी — हरमोलाव,  
जिला गोटन । व्यवसाय—मद्रास । स्वाध्याय प्रेमी, समाज सेवा  
में सक्रिय ।
- श्रीमान सम्पतराज जी मुथा । मूल निवासी — भारलिया ।  
व्यवसाय—मद्रास । धर्मप्रेमी, समाज सेवा में सक्रिय ।

उक्त महानुभावों ने साहित्य प्रचार एवं धर्मानुराग से प्रेरित  
होकर पुस्तक प्रकाशन में उदारतापूर्वक अर्थ सहयोग प्रदान  
किया है । हमें विश्वास है भविष्य में भी इसी प्रकार आप  
महानुभावों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा ।

—चांदमल चोपड़ा

मन्त्री—मुनि श्री हजारीमल स्मृति प्रकाशन  
ब्यावर (राज०)



# परमात्मकीय

ऊर्ध्वगमन आत्मा का सहज स्वभाव है, क्योंकि आत्मा वस्तुतः परमात्मा का ही आवृत या आच्छन्न रूप है, वेदान्त की भाषा में जिसे अविद्या, माया तथा आर्हत दर्शन की भाषा में कर्मावरण से आप्नुत कहा गया है। अविद्या, माया अथवा कर्मों के आवरण का अपगम आत्मा के शुद्ध स्वरूप या परमात्म-भाव की अभिव्यक्ति का हेतु है। दूसरे शब्दों में जीव अपने अपरिसीम पुरुषार्थ द्वारा अपने यथार्थ रूप-परमात्म-भाव को उद्घाटित, व्यवत या अधिगत करने में समर्थ हो जाता है। बहिरात्म-भाव से अन्तरात्मभाव की ओर गति करता हुआ जिस दिन वह परमात्मभाव में लीन हो जाता है, निःसन्देह उसके लिए वह एक स्वर्णिम दिन या परम सौभाग्य की वेला होती है। सूफी संतों ने आत्मा के परमात्मभाव अधिगत करने के प्रेमात्मक उपक्रम-तीव्रतम उत्कण्ठा को आशिक और माशूका के रूपक द्वारा व्याख्यात किया है। कबीर आदि निर्गुणमार्गी संतों ने अपने को राम की बहुरिया बताते हुए इसी आध्यात्मिक प्रेम को अपने ढंग से प्रस्तुत किया है। वास्तव में भारत ही वह देश है, जहाँ जीवन के इस गहनतम विषय पर विविध रूप में चिन्तन की धाराएँ प्रवाहित हैं। यहाँ की प्रज्ञा ने केवल भौतिक किंवा मांसल उपलब्धि में ही जीवन की सार्थकता नहीं मानी। इतना ही नहीं, इस ओर के उद्वेग को उसने दुर्बलता तक कहा।

आत्मा को इस ऊर्ध्वगामिता के केन्द्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण स्थान चित्त का है। चित्त की वृत्तियाँ ही मनुष्य को न जाने कहाँ से कहाँ भटका देती हैं। इसलिए ऊर्ध्वगमन की यात्रा में चित्तवृत्तियों की उच्छृंखलता को नियन्त्रित करना आवश्यक होता है, योग की भाषा में जिसे चित्तवृत्ति-निरोध कहा गया है।<sup>१</sup> निरोध शब्द यहाँ विशेषतः एकाग्रता के अर्थ में है। विधायक और निषेधक दोनों पक्ष इसमें समाविष्ट हैं। परिष्कार और परिमार्जन, संशोधन और विशोधन के माध्यम से यह निरोध की आन्तरिक चेतनामयी गति चरमोत्कर्ष प्राप्त करती है।

भारत का यह सौभाग्य है कि यहाँ की रत्नगर्भा वसुन्धरा ने चिन्तकों, मनीषियों और ऋषियों तथा ज्ञानियों के रूप में ऐसे-ऐसे नर-रत्न जगत् को दिये, जिनके ज्ञान, चिन्तन एवं अनुभूति की अप्रतिम आभा से मानव जाति ने अन्तर्जागृति के रूप में एक अभिनव आलोक प्राप्त किया। सामष्टिक रूप में हम इस सारी परम्परा को योग या अध्यात्म-योग के नाम से अभिहित कर सकते हैं। वास्तव में योग का क्षेत्र

बड़ा व्यापक है। साम्प्रदायिक संकीर्णता से यह निश्चय ही अछूता है। योग की दीप्ति सममुच धूमिल हो जाती है, जब हम उसे साम्प्रदायिकता में बाँध लेते हैं। हाँ, विधिक्रम, साधना-पद्धति आदि में विविधता हो सकती है, जो साम्प्रदायिकता नहीं है। वह तो यौगिक तत्त्वों की विराट्ता की द्योतक है।

भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र का इतिहास इसका साक्ष्य है कि समय-समय पर हमारी इस भूमि में अनेक योगी उत्पन्न हुए, जिन्होंने अपनी शक्ति और अनुभूति द्वारा जगत को बहुत दिया। वैदिक परम्परा के महर्षि पतंजलि, व्यास, गोरक्ष तथा श्रमण-परम्परा के आचार्य हरिभद्र, नागार्जुन, सरोजवज्र, शुभचन्द्र, हेमचन्द्र, योगीन्दु आदि के नाम बड़े आदर से लिये जा सकते हैं, जिनका साहित्य अत्यन्त प्रेरक एवं उद्बोधक है। वे केवल शब्द-शिल्पी ही नहीं थे, वरन् कर्म-शिल्पी तथा भाव-शिल्पी भी थे। इसलिए उन्होंने जो कुछ लिखा, अनुभूतियों की अतल गहराइयों में डूबकरियाँ लगाकर लिखा, भारतीय वाङ्मय की वह एक ऐसी अमूल्य निधि है, जो कभी पुरानी या अनुपयोगी नहीं हो सकती। विवेकपूर्वक इस साहित्य का अध्ययन किया जाना चाहिए।

मानव स्वभावतः नवीनता प्रेमी है। समय-समय पर विविध नवीनताओं के प्रवाह में बहता रहता है, आज की भाषा में जिसे फैशन कहा जा सकता है। पाठक अन्यथा न मानें, आज योग भी कुछ ऐसी ही स्थिति में से गुजर रहा है। योग (के बाह्य अंगों) का एक वेत्ता, अभ्यासी, शिक्षक, जन-साधारण को आश्चर्य लगने वाले कठिन आंगिक उपक्रम दिखाने में, सूक्ष्म प्राणायाम के विधि-विधानों में निष्णात एक योगी-शब्द-वाच्य पुरुष यदि अत्यन्त दुर्बल चित्तवृत्ति का पाया जाए, बाहर से सधते से लगने वाले योग के साथ जिसके भीतर भोग की दुर्दम ज्वाला जलती रहे, क्या वहाँ योग सधता है? कदापि नहीं। दुःख है, आज हमारे देश में यन्न-तन्न ऐसी परिस्थितियाँ भी पोषण पा रही हैं। योग की परम्परा पर निश्चय ही ये वे काले धब्बे हैं, जिनके संयोजक एक पवित्र परम्परा के साथ कितना जघन्य खिलवाड़ कर कर रहे हैं, कुछ कहने-मुनने की बात नहीं। अभ्यास के कारण देह द्वारा कुछ अद्भुत करिष्मे दिखा देना योग नहीं है। वैसे तो पेट पालने के प्रयत्न में बहुत से नट व मदारी भी करते रहते हैं। योग तो आन्तर साम्राज्य पर अधिकार पाने का वह पवित्र राजपथ है, जहाँ से अन्तर्विकार दस्युओं और तस्करों की तरह भाग जाते हैं। पर यह सधता तब है, जब हमारा विवेक का नेत्र उद्बुद्ध हो। हम केवल अयथावत् परंपरित रूढ़ि के रूप में इसका शिक्षण प्राप्त न कर सम्यक् बोध, विवेक तथा तदनुरूप लक्ष्य को आत्मसात् करते हुए इस में अग्रसर हों। आज तो स्थिति यह हो गई है कि मूल लक्ष्य गौण हो गया है और साधनों ने प्रधानता ले ली है। आसन, प्राणायाम आदि बाह्य योगांगों को अनुपादेय नहीं माना जा सकता किन्तु उनकी सही उपयोगिता सध पाये, उसके लिए सही मनोभूमि के निर्माण की आवश्यकता है। उसकी पूर्ति के साथ हमारा अध्यवसाय गतिमान् हो।

इस सन्दर्भ में हमारा चिन्तन है कि जैन, बौद्ध तथा वैदिक परम्पराओं के उन तत्त्व-द्रष्टाओं का वह साहित्य समीक्षा, अनुसन्धान तथा वैज्ञानिक विश्लेषण के साथ प्रकाश में आए, जिससे जिज्ञासुओं को योग के सन्दर्भ में सही दिशा प्राप्त हो सके। जैसा पहले संकेत किया गया है, योग साम्प्रदायिक प्राचीरों से सर्वथा मुक्त है। यहाँ जो बौद्ध, वैदिक एवं जैन प्रभृति नामों का उल्लेख हुआ है, वह परम्परा-विशेष की ऐतिहासिकता के सूचन के दृष्टिकोण से है।

सामाजिक स्थितियों की शृंखलाएँ कुछ इस प्रकार की रही हैं कि हम न चाहते हुए भी साम्प्रदायिक बन जाते हैं। फलतः जिस परम्परा से हम सम्बद्ध होते हैं, उसके अतिरिक्त इतर परम्परा के उच्चकोटि के महापुरुष तथा उन द्वारा रचित महत्त्वपूर्ण उपयोगी साहित्य को अधीत और अधिगत करने की हमारे मन में ही नहीं आती अन्यथा योग वाङ्मय पर एक अद्भुत और अभिनव चिन्तन देने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि आदि मनीषी योग-जगत् के लिए क्या इतने अज्ञात या अल्प-ज्ञात रह पाते, जितने आज वे हैं। इतना ही क्यों आचार्य हरिभद्र जिस परम्परा के थे, आज उस परम्परा के लोग भी उनको अधिकांशतः यथार्थ रूप में नहीं जानते क्योंकि प्रायः हम बहिर्द्रष्टा हो गये हैं, जो योग के अनुसार हमारी अधस्तन दशा है। योग तो अपने विस्मृत स्वरूप को स्वायत्त कर लेने की दिव्य यात्रा का प्रशस्त पथ है जिसे यथावत् रूप से समझने और अनुसृत करने का अर्थ है जीवन में उस शान्ति का प्रादुर्भाव, जिसके लिए क्या धनी, क्या सत्ताधीश, क्या जनसाधारण—सब लालायित हैं।

मैं भारतीय दर्शन, वाङ्मय तथा प्राच्य भाषाओं का अध्येता रहा हूँ। इनके परिशीलन, मनन तथा अनुसन्धान में जीवन का दीर्घकाल मैंने लगाया है, जिसे मैं अपने जीवन की आंशिक ही सही, सार्थकता मानता हूँ। अपने अध्ययन, अन्वेषण के सन्दर्भ में जब मैं उद्भट मनीषी, महान् ग्रन्थकार स्वनामधन्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के ज्ञान-विज्ञानोद्भासित व्यक्तित्व के संपर्क में आया, इस महान् सरस्वती-पुत्र से अत्यधिक प्रभावित हुआ। यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि आर्हत परम्परा में आचार्य हरिभद्र एक ऐसे जीवन-वैभव को लेकर उद्भासित हुए, जो अनेक दृष्टियों से अनुपम था, अद्भुत था। भारतवर्ष की विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं को निकट से देखने, परखने, समझने का सौभाग्य उन्हें विशेषरूप से प्राप्त हुआ। वैदिक परम्परा के ब्राह्मण कुल में उनका जन्म हुआ था। चित्रकूट या चित्तौड़ के राजपुरोहित के पद पर वे आसीन रहे। वेद, उपनिषद्, स्मृति, पुराण, व्याकरण, न्याय आदि अनेक विषयों के वे पारगामी विद्वान थे। प्रगाढ़ विद्वत्ता के साथ-साथ सरल, निष्कपट और निर्दम्भ व्यक्तित्व के वे धनी थे। एक विशेष घटना के सन्दर्भ में उन्हें जैन धर्म के सम्पर्क में आने का सुअवसर प्राप्त हुआ, जिसने उन महान् प्रज्ञा-पुरुष का जीवन ही बदल दिया। उनकी आस्था जैन दर्शन और धर्म के साथ सम्पृक्त हो गई। जब ज्ञान

अन्तर्मुखी हो जाता है तो वह काया पलट कर देता है। आचार्य हरिभद्र के साथ ऐसा ही हुआ। उन्होंने परम-त्यागमय श्रमण-जीवन के स्वीकार में विलम्ब नहीं किया। तत्काल श्रमण-प्रव्रज्या अंगीकार कर उन्होंने जैन आगम, दर्शन, न्याय तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य शास्त्रों का अर्हनिश परिशीलन किया। क्षयोपशमजनित प्रतिभा का सुयोग उन्हें प्राप्त था ही, श्रम के साहचर्य से प्रतिभा फल-निष्पात्त लाने में कितनी सफल होती है, आचार्य हरिभद्र सूरि के जीवन से यह स्पष्ट है। थोड़े ही समय में उन्होंने जैन विद्या की अनेक शाखाओं पर असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया। उनके अध्ययन, चिन्तन से जिज्ञासु तथा मुमुक्षुजन लाभान्वित हों, उस हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की; जो आगम-व्याख्या, धर्म, दर्शन, कथाकृति आदि अनेक रूपों में प्रकाश में आए। जैन वाङ्मय के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, असाधारण देन उन्होंने और दी। वह है उनका जैनयोग सम्बन्धी साहित्य।

भारत के साधना-क्षेत्र में उस समय योग का विशेष प्रचलन था। योग के सन्दर्भ में बहुमुखी चिन्तन प्रकाश में आ रहा था, ग्रन्थ-रचनाएँ हो रही थीं। एक ओर शैवयोगी, नाथयोगी, हठयोगी अपने-अपने साधना क्षेत्र में प्रवृत्त थे तथा दूसरी ओर सहजयान या वज्रयान का अपना योगक्रम चल रहा था, जिसे सहजयानी सिद्धयोगी अपनी दृष्टि से विकसित कर रहे थे। यह सब देख परम प्रबुद्ध मनीषी, अनेक शास्त्र निष्णात, परमोच्च साधक आचार्य हरिभद्र सूरि के मन में संभवतः एक ऐसी संस्फुरण हुई हो कि जैन-साधना पद्धति को भी जैन योग के रूप में अभिनव विधा के साथ प्रस्तुत किया जाए। उसी का फल है, उन्होंने जैन योग पर योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविशिका नामक चार ग्रन्थ लिखे। उनमें पहले दो संस्कृत में हैं तथा अन्तिम दो प्राकृत में। इनके अतिरिक्त शास्त्रवार्तासमुच्चय, षोडशक, अष्टक आदि अपने अन्यान्य ग्रन्थों में भी उन्होंने यथाप्रसंग योग की चर्चा की है। आचार्य हरिभद्र महान् विद्वान् होने के साथ-साथ महान् अध्यात्मयोगी भी थे। इसलिए उनके जीवन के कण-कण में योग मानों अनुस्यूत था। ऊन्हें योग में बड़ी निष्ठा थी, जो उनके निम्नांकित शब्दों से प्रकट होती है:—

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग) सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का अनन्य हेतु है।

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—संसार में बार-बार जन्म-मरण में आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नहीं होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर

देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म-मरण से छुटकारा हो जाता है।

योगरूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, कुण्ठित हो जाते हैं—योगरूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मज्ञात किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योगरूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है।<sup>१</sup>

भारतीय दर्शनों में जैन दर्शन तथा जैनदर्शन में जैनयोग मेरा सर्वाधिक प्रिय विषय है। जैनयोग के सन्दर्भ में मैंने उन सभी ग्रन्थों का पारायण किया है, जो मुझे उपलब्ध हो सके। मैं इस सम्बन्ध में आचार्य हरिभद्र से अत्यधिक प्रभावित हूँ। उन्होंने जो भी लिखा है, वह मौलिक है, गहन अध्ययन, चिन्तन पर आधृत है।

पिछले कुछ वर्षों से मेरे मन में यह भाव था कि आचार्य हरिभद्र के इन चारों योग ग्रन्थों पर मैं कार्य करूँ। हिन्दी-जगत् को अधुनातन शैली में सुसम्पादित तथा अनूदित रूप में ये ग्रन्थ प्राप्त नहीं हैं। अच्छा हो, इस कमी की पूर्ति हो सके। इसके लिए मुझे उत्तम मार्ग-दर्शन तथा संयोजन चाहिए था। किसके समक्ष यह प्रस्ताव रखूँ, यह सूझ नहीं पड़ रहा था। क्योंकि आज अध्यात्म तथा योग के नाम पर जो कार्य चल रहे हैं, वे यथार्थमूलक कम तथा प्रशस्त एवं प्रचारमूलक अधिक हैं। उन तथाकथित योग-प्रवर्तकों को, आचार्यों को अपना-अपना नाम चाहिए, विश्रुति चाहिए, प्रचार चाहिए, जो उनके लिए प्राथमिक है। खैर, जैसी भी स्थिति है, कौन क्या कर

१ योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।

योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रहः ॥

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा ।

दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।

योगवर्मावृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥

अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः ।

गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धैर्महात्मभिः ॥

मलिनस्य यथा हेम्नो बह्लेः शुद्धिनियोगतः ।

योगाग्नेश्चेतसस्तद्वदविद्या मलिनात्मनः ॥

—योगविन्दु ३६--४१



सकता है। अतः इनके झंझट में न पड़कर जितनी जिसकी शक्ति हो, अपना कार्य करते रहना चाहिए।

लगभग नौ दस महीने पूर्व की घटना है, मैं एक साहित्यिक कार्य के सन्दर्भ में वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य, बहुश्रुत मनीषी, पंडितरत्न श्री मधुकर मुनि जी म० सा० से भेंट करने नागौर गया था। इस समय प्रौढ़ विदुषी, परम अध्यात्मसाधिका महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० 'अर्चना' भी साध्वी-समुदाय सहित वहाँ विराजित थीं।

पिछले पाँच छः वर्षों से मैं श्रद्धेय युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० सा० के संपर्क में हूँ। सुयोग्य विद्वान्, प्रबुद्ध आगम-वेत्ता तथा प्रौढ़ लेखक होने के साथ-साथ उनके व्यक्तित्व की बहुत बड़ी विशेषता है—उनकी सहज ऋजुता, कोमलता तथा मधुरता। न उन्हें अपने ज्ञान का दम्भ है, न पद का अभिमान। उनके स्वभाव में जो अनिर्वचनीय सरलता का दर्शन होता है, वह उनके व्यक्तित्व का सर्वाधिक आकर्षक गुण है। वे स्वयं विद्वान् हैं, अतएव विद्या की गरिमा जानते हैं, विद्या का और विद्वान् का सम्मान करते हैं, उन्हें स्नेह देते हैं। यही कारण है, ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, उनके प्रति मेरा आकर्षण बढ़ता गया। उनके सान्निध्य में चल रहे आगम-प्रकाशन के कार्य में भी मेरा भाग है तथा उनके दूसरे साहित्यिक कार्य में भी मेरा यत्किञ्चित् साहचर्य है।

अस्तु, युवाचार्य श्री ने अगले दिन सबेरे नागौर से प्रस्थान किया। अगला पड़ाव एक छोटे से गाँव में था। मैं भी पैदल ही उनके साथ गया। दिन भर मैं उनकी सन्निधि में रहा। अपराह्न में जब युवाचार्य श्री से वापस लौटने की अनुमति लेने लगा तो उन्होंने विशेष रूप से कहा कि नागौर में महासती जी श्री उमरावकुंवर जी से मिलियेगा। मैं शाम को नागौर लौट आया। नृसिंह सरोवर पर रुका था, रात्रि प्रवास वहीं किया। महासती जी से भेंट करने के सम्बन्ध में प्रातः सोच ही रहा था, मैं नहीं जानता, ऐसा क्यों हुआ, पर हुआ—योग वाङ्मय के अपने अध्ययन के सन्दर्भ में आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के उस संस्करण की ओर सहसा मेरा ध्यान गया, जिसे मैंने पढ़ा था, जिसके सम्पादन, प्रकाशन आदि में महासती श्री उमरावकुंवर जी म० सा० का सबसे बड़ा योगदान रहा था। महासती जी के जीवन का अध्यात्म-संपृक्त योग-पक्ष सहसा मेरे अन्तर्नेत्रों से गुजर गया, जिसमें मुझे साधना की दिव्यता दृष्टिगोचर हुई। महासतीजी का मैं पहली बार दर्शन करने नहीं जा रहा था। अब से तीन चार वर्ष पूर्व जब मेड़ता गया था तो अपने स्नेही मित्र श्रीयुक्त जतनराज जी मेहता के साथ पहले पहल उनके दर्शन करने तथा उनसे ज्ञान-चर्चा करने का प्रसंग प्राप्त हुआ था। उसके बाद भी सौभाग्यवश कई बार वैसा अवसर मिलता रहा। उन सबका एक समवेत प्रभाव मेरे मानस पर यह था कि जैन योग में पूजनीया महासती जी की अनन्य अभिरुचि है तथा असाधारण अधिकार भी।

मैंने मन ही मन निश्चय किया कि उनकी सेवा में अपनी भावना उपस्थित करूँ। तदनुसार वहाँ पहुँचा और यह अनुरोध किया कि यदि उनका मार्गदर्शन तथा संयोजन प्राप्त होता रहे तो प्रकाण्ड विद्वान्, महान् योगी आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थ हिन्दी जगत् की सेवा में प्रस्तुत किये जा सकें। उत्तर में महासतीजी के जो प्रेरक उद्गार मुझे प्राप्त हुए, मैं हर्ष-विभोर हो गया। उनकी स्वीकृति प्राप्त कर मैंने अपने को धन्य माना। एक परमोत्तम संयमशील पवित्रात्मा की सत्प्रेरणा का संबल लेकर मैं अपने स्थान—सरदारशहर लौट आया तथा अपने को सर्वतोभावेन इस कार्य में लगा दिया। इस बीच कार्य उत्तरोत्तर गति पकड़ता गया। उस सन्दर्भ में मार्ग-दर्शन प्राप्त करने हेतु महासतीजी महाराज की सेवा में उपस्थित होने के अवसर मिलते रहे। ज्यों-ज्यों मैं उनकी आध्यात्मिक सन्निधि में आता गया, मुझे उनके व्यक्तित्व की वे असाधारण विशेषताएँ अधिगत होने लगीं जिन्हें साधारण चर्मचक्षुओं से देखा नहीं जा सकता।

आचार्य हरिभद्र ने योगदृष्टि समुच्चय में गोत्रयोगी, कुलयोगी, प्रवृत्तचक्र योगी तथा निष्पन्नयोगी के रूप में योग-साधकों के जो चार भेद किये हैं, परमश्रद्धेया महासतीजी की गणना मैं कुलयोगियों में करता हूँ। आचार्य हरिभद्र के अनुसार कुलयोगी वे होते हैं जिन्हें जन्म से ही योग के संस्कार प्राप्त होते हैं, जो समय पाकर स्वयं उद्बुद्ध हो जाते हैं, व्यक्ति योग-साधना में सहज रस की अनुभूति करने लगता है। जो योगी अपने पिछले जन्म में अपनी योग-साधना सम्पूर्ण नहीं कर पाते, बीच में ही आयुष्य पूरा कर जाते हैं, आगे वे उन संस्कारों के साथ जन्म लेते हैं। अतएव उनमें स्वयं योग-चेतना जागरित हो जाती है। कुलयोगी शब्द यहाँ कुल परम्परा या वंश-परम्परा के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हैं। क्योंकि योगियों का वैसा कोई कुल या वंश नहीं होता पर महासतीजी के साथ इस शब्द से नहीं निकलने वाला यह तथ्य भी घटित हो जाता है, ऐसा एक विचित्र संयोग उनके साथ है। महासतीजी के पूज्य पितृचरण भी एक संस्कारनिष्ठ योगी थे। घर में रहते हुए भी वे आसक्ति और वासना से ऊपर उठकर साधनारत रहते थे। यों आनुवंशिक या पैतृक दृष्टि से भी महासतीजी को योग प्राप्त रहा। इस प्रकार कुलयोगी का प्रायः अन्यत्र अघटमान अर्थ भी पूजनीया महासतीजी के जीवन में सर्वथा घटित होता है। ऐसे व्यक्तित्व के संदर्शन तथा सान्निध्य से सत्त्वोन्मुख अन्तःप्रेरणा जागरित हो, यह स्वाभाविक ही है। न यह अतिरंजन है और न प्रशस्ति ही, जब भी मैं महासतीजी के दर्शन करता हूँ, कुछ ऐसा अध्यात्म-संपृक्त पवित्र वात्सल्य प्राप्त करता हूँ, जिससे मुझे अपने जीवन की रिक्तता में आपूर्ति का अनुभव होता है। मैं इसे अपना पुण्योदय ही मानता हूँ कि मुझे इस साहित्यिक कार्य के निमित्त से समादरणीया महासतीजी का इतना नैकदय प्राप्त हो सका।

महासतीजी के जीवन के सम्बन्ध में गहराई से परिशीलन कर जैसा मैंने पाया, निश्चय ही वह पत्रिच उत्क्रान्तिमय जीवन रहा है। एक सम्पन्न, सम्भ्रान्त परिवार

में उन्होंने जन्म पाया । केवल वे सात दिन की थीं, तभी मातृवियोग हो गया । देव-दुर्लभ मातृ-वात्सल्य से विधि ने उन्हें सदा के लिए वञ्चित कर दिया । पिता की स्नेहमयी गोद में उनका लालन-पालन हुआ । मातृत्व एवं पितृत्व के दुहरे स्नेह का केन्द्र केवल उनके पितृचरण थे, जिन्होंने अपने अन्तर्तम की स्निग्धता से उसे फलवत्ता देने में कोई कसर नहीं रखी । पिता की छत्रच्छाया में परिपोषण, संवर्धन प्राप्त करते हुए ज्यों ही उन्होंने अपना ग्यारहवां वर्ष पूरा कर बारहवें में प्रवेश किया, केवल थोड़े से समय बाद (साढ़े ग्यारह वर्ष की अवस्था में) वे परिणय-सूत्र में आबद्ध कर दी गईं । विधि की कैसी विडम्बना थी, अभी गौना भी नहीं हो पाया था, मात्र दो वर्ष बाद उनके पतिदेव दिवंगत हो गये । वह एक ऐसा भीषण दुःसह वज्रपात था, जिसकी कोई कल्पना तक नहीं की जा सकती । पर विधि-विधान के आगे किसका क्या वश ! फूल सी कोमल बालिका यह समझ तक न सकी, क्या से क्या हो गया । सारे परिवार में अपरिसीम शोक व्याप्त हो गया । हिमाद्रि जैसे सुदृढ़ एवं सबल हृदय के धनी पिता भी सहसा विचलित से हो गये ।

यह वह स्थिति थी, जिसमें जीवन भर रोने-विलखने के अतिरिक्त और कुछ बाकी रह नहीं पाता । पर यह सामान्य जनों की बात है । महासतीजी तो विपुल सत्त्वसंभृत संस्कारवत्ता के साथ जन्मी थीं, उनके चिन्तन ने एक नया मोड़ लिया, जो उन जैसी बोधि-निष्पन्न आत्माओं को लेना ही होता है । उन्होंने अपने जीवन की दिशा ही बदल दी । उनके मन में निर्वेद का जो बीज सुषुप्तावस्था में था, अंकुरित हो उठा और थोड़े ही समय में वह पल्लवित एवं पुष्पित पादप के रूप में विकसित हो गया । जैसा मैंने ऊपर उल्लेख किया है, महासतीजी के पितृचरण एक दिव्य संस्कारी वीर पुरुष थे । उनका लौकिक जीवन साहस, शौर्य और पराक्रम का जीवित प्रतीक था । क्षयोपमवश कुछ ऐसी दिव्यता उन्हें जन्म से ही प्राप्त थी कि साधारण उदरभरि और भोगोपभोगी मनुष्य के रूप में वे जीवन की इतिश्री कर देना नहीं चाहते थे । बाह्य अध्ययन विशेष न होते हुए भी उनकी आभ्यन्तर चेतना उद्बुद्ध थी, जो जन्म के साथ ही आती है । पिता और पुत्री के परम पवित्र अन्तर्भाव की फल निष्पत्ति श्रमण-प्रव्रज्या में हुई । उद्बुद्धचेता, सात्त्विक जन, जब अन्तरात्मा जाग उठती है, तब फिर विलम्ब क्यों करें । उक्त विषम, दुःखद घटना के लगभग वर्ष भर बाद उन्होंने (पिता पुत्री ने) परम पूज्य स्व० आचार्य श्री जयमल्लजी म० सा० से आम्नायानुगत तत्कालीन श्रमण संघीय मारवाड़ प्रान्त मन्त्री पूज्य स्वामीजी श्री हजारीमल जी म० सा० तथा बालब्रह्मचारिणी महासती श्री सरदारकुँवर जी म० सा० की सन्निधि में श्रमणदीक्षा स्वीकार कर ली ।

बड़ा आश्चर्य है, इस भोगसंकुल जीवन में यह कैसे सध जाता है, जहाँ मौत की अन्तिम सांसें गिनता हुआ मनुष्य भी मन से भोगों को नहीं छोड़ पाता । मृत्यु मस्तक पर मंडराती है पर उस समय भी क्षुद्र सांसारिक सुखमय, वासनामय मनःस्थिति में

आबद्ध रहता है। कितनी दयनीय स्थिति है यह ! वह जीना चाहता है, फिर छककर भोगों को भोग लेना चाहता है। इन स्थितियों के साथ-साथ है तो विरल पर एक और स्थिति भी है, जहाँ भोग विषवत् त्याज्य प्रतीत होने लगते हैं। क्या कारण है, यह स्थिति सब में नहीं आती, किन्हीं किन्हीं— बहुत थोड़े से लाखों में एक दो व्यक्तियों में प्रस्फुटित होती है। संस्कारवत्ता तो है ही, मनोविज्ञान एक और समाधान देता है। उसके अनुसार काम, वासना, भोग आदि मनुष्यों की निसर्गज वृत्तियाँ हैं, जिनमें वह अनुपम सुख की मान्यता लिये रहता है। इसलिए तीव्रतम उत्कण्ठा के रूप में उसकी निष्ठा उनसे जुड़ी रहती है। पर यह अपरिवर्त्य नहीं है। कुछ थोड़े से व्यक्तियों के जीवन में किसी घटना-विशेष से या विशिष्ट ज्ञान के उद्भव से इसके विपरीत भी कुछ घटित होता है। इच्छा की तीव्रता तो नहीं मिटती पर इच्छा जिस पर टिकी होती है, वह लक्ष्य बदल जाता है, भोग के स्थान पर वैराग्य, साधना, ज्ञान, कला या साहित्य संप्रतिष्ठ हो जाता है। परम उदग्र इच्छाशक्ति इनमें से किसी के साथ जुड़ जाती है। निश्चय ही तब फल निष्पत्ति में एक चमत्कार आता है। मनोविज्ञान की भाषा में यह दिक्-परिष्कार (Sublimation) कहा जाता है। वैसे व्यक्ति बहुत बड़े साधक, प्रखरज्ञानी, महान् साहित्यकार आदि होते हैं। अन्तर्वृत्ति में यों परिवर्तन हो जाने पर व्यक्ति को अपने स्वीकार्य और गन्तव्य पथ से कोई चलित नहीं कर सकता।

इसी मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर यदि चिन्तन करें तो लगता है, पिता एवं पुत्री के साथ जो घटित हुआ, जिस दिव्य दिशा की ओर उनके कदम बढ़े चले, उनसे यही संभावित था। साधना की इस यात्रा में आगे जो कुछ हुआ, वह साक्ष्य है इस बात का, (जो पहले चर्चित हुई है) तीव्रतम इच्छाशक्ति का परिणाम शक्ति-स्फोट में आता है, जो जीवन को असाधारण वैशिष्ट्य से समायुक्त कर देता है। पिता श्री मांगीलालजी, जो तब मुनि श्री मांगीलालजी थे, सर्वतोभावेन प्राणपण से अध्यात्म-साधना में जुट गये। योगी के जीवन में सहजरूप में जो विभूतियाँ प्राकट्य पा लेती हैं, उनमें भी कुछ वैसी निष्पत्तियाँ हुईं। तभी तो यह संभव हो सका, उन्होंने छः महीने पूर्व ही अपने मरण का समय बता दिया था, जो ठीक उसी रूप में घटित हुआ।

ऐसे महान् पिता की पुत्री और महान् गुरु की शिष्या महासतीजी ने प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने के बाद जहाँ एक ओर अपने को श्रुतोपासना में लगाया, दूसरी ओर योग साधना का वरेण्य क्रम भी उनके जीवन में चलता रहा। अनेक ज्ञानियों, साधकों तथा महापुरुषों का सान्निध्य प्राप्त करने, उनसे सीखने, समझने का उन्हें सौभाग्य रहा, जिसका उन्होंने तन्मयता तथा लगन के साथ उपयोग किया, जो उनके वैदुष्य और साधना प्रवण जीवन में साक्षात् परिदृश्यमान है।

महासती जी एक जैन श्रमणी हैं, पाद-विहार, धर्म-प्रसार जिनके जीवन का अपरिहार्य भाग होता है। उन्होंने राजस्थान, हरियाणा, दिल्ली, पंजाब, उत्तर-

प्रदेश, हिमाचल प्रदेश आदि क्षेत्रों की पद-यात्राएँ कीं, जन-जन को भगवान् महावीर के दिव्य सन्देश से अनुप्राणित किया, आज भी कर रही हैं। उनकी हृदता, साहस, उत्साह तथा निर्भीकता निःसन्देह स्तुत्य हैं, उन्होंने काश्मीर जैसे दुर्गम प्रदेश की भी यात्रा की, जो वास्तव में उनकी ऐतिहासिक यात्रा थी। शताब्दियों में संभवतः यह प्रथम अवसर था, जब एक जैन साध्वी ने काश्मीर-श्रीनगर तक की पद-यात्रा की हो। महासतीजी द्वारा अपने जीवन के संस्मरणों के रूप में लिखित 'हिम और आतप' नामक पुस्तक मैंने देखी। पुस्तक इतनी रोचक लगी कि मैंने एक ही बैठक में उसे आद्योपान्त पढ़ डाला। पुस्तक में उनकी काश्मीर-यात्रा के घटना क्रम, संस्मरण भी उनकी लेखिनी द्वारा शब्द बद्ध हुए हैं, जो निःसन्देह बहुत ही प्रेरणा-प्रद है। दुर्गम, विषम, संकड़े पहाड़ी मार्ग, तन्निकटवर्ती काल-सा-मुँह बाये सैकड़ों फुट गहरे खड्ड, नुकीली चट्टानें, उफनती नदियाँ, पिघलते ग्लेशियर, (Glacier) छनते बादल—अपरिसीम, अद्भुत प्राकृतिक सुषमा पर साथ ही साथ एक पदयात्री के लिए भीषण, विकराल, संकट परम्परा—महासतीजी ने यह सब देखा, अनुभूत किया। जहाँ प्राकृतिक सौंदर्य ने उनके साहित्य हृदय को सात्त्विक भावों का दिव्य पाथेय दिया, वहाँ संकटापन्न, प्राणघातक परिस्थितियों ने उनके राजस्थानी वीर नारी सुलभ शौर्य को और अधिक प्रज्वलित तथा उद्दीप्त किया। किसी भी भयावह स्थिति में उनका धीरज विचलित नहीं हुआ। जिन्होंने गृही जीवन में शेरों तक को पछाड़ डाला तथा सन्यस्त जीवन में उसी अनुपात में आत्मशक्ति की विराट् ज्योति स्वायत्त की ऐसे महान् पिता की महान् पुत्री को भय कहाँ से होता? उन्होंने सानन्द, सोत्साह, सोल्लास अपनी काश्मीर यात्रा संपन्न की। वह प्रदेश, जो वर्तमान में भगवान् महावीर के आध्यात्मिक सन्देश के परिचय में कम आ पाया था, उन्हीं भगवान् महावीर के पद चिन्हों पर चलने वाली उन्हीं की परमोपासिका एक महिमामयी भारतीय नारी की योग-परिष्कृत कण्ठ-ध्वनि से निःसृत निनाद द्वारा पुनः मुखरित हो उठा।

अस्तु, महासतीजी ने जिस महान् ध्येय को लेकर अत्यन्त उत्साह, ओजस्विता और निष्ठा के साथ जिस अभिनव दिशा में प्रयाण किया, वे उस पर उसी अन्तःस्फूर्ति के साथ आज भी चलती आ रही हैं। यह सब इसलिए है कि योगानुभूति से जीवन में प्रशम-रस का वह निरंतर फूट पड़ता है, जिसमें साधनागत श्रम आनन्द बन जाता है।

यहाँ महासतीजी के सम्बन्ध में जो कुछ मेरी लेखिनी से उद्गीर्ण हुआ है, वह मेरे हृदय से संस्फुटित श्रद्धा-प्रसूत भावराशि है, जिसे शब्द रूप में बाँधने से मैं अपने को रोक नहीं सका। पर, मैं जहाँ तक समझता हूँ, यह अनुपयुक्त नहीं हुआ। इस महिमामयी नारी के साधनामय जीवन के ये ज्योति-स्फुलिंग, मुझे आशा है, पाठकों को दिव्य जीवन की प्रेरणा देंगे जो सबके लिये नितान्त वाञ्छनीय है।

यह व्यक्त करते मुझे अत्यन्त हर्ष है कि समादरणीया महासतीजी म० के सानुग्रह मार्गदर्शन तथा संयोजन में, प्रातःस्मरणीय, महामहिम आचार्य श्री हरिभद्र सूरि के योग-ग्रन्थ हिन्दी जगत् के समक्ष उपस्थापित करने का सौभाग्य पा रहा हूँ । आशा है, हिन्दीभाषी पाठक भारतभूमि के एक महान योगी, महान तत्त्वद्रष्टा, महान् ग्रन्थकार द्वारा प्रदत्त योगामृत का पान कर जीवन में अभिनव कर्मचेतना एवं आत्मशान्ति का अनुभव करेंगे ।

विजयदशमी, वि० सं० २०३८

कैवल्य धाम

सरदारशहर (राजस्थान)

—डॉ० छगनलाल शास्त्री

एम. ए. (हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत तथा जैनोलोजी)

पी-एच. डी., काव्यतोर्य,

विद्यामहोदधि

भू. पू. प्रवक्ता, इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत,  
जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार)

# प्रस्तावना

ज्ञान, चिन्तन तथा साधना के क्षेत्र में आर्यभूमि भारत के जिन महर्षियों, मनीषियों तथा विद्वानों ने अपने अनन्य सृजन द्वारा जो अभूतपूर्व कार्य किए, उनकी गरिमा सदा अमिट रहेगी। कराल काल के थपेड़ों से उनका महत्त्व कभी व्याहत नहीं हो सकेगा। वे उस परम दिव्य 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समुद्बोधक, सर्वतो गरीयान्, वरीयान्, महीयान् तत्त्व के पुरोधे और पुरस्कर्ता थे, जिस पर इस महान् राष्ट्र की अजर, अमर, अमल, धवल संस्कृति टिकी है। उन्हीं महान् पुण्यात्मा, तपःपूत, शब्द तथा भाव के अनन्य शिल्पी महामानवों में एक थे आचार्य हरिभद्र सूरि (आठवीं शती ई०)। भारतीय वाङ्मय, तत्त्वदर्शन तथा साहित्य में क्षेत्र में इन्होंने जो योगदान किया, वह इतना उच्च, इतना दिव्य तथा इतना पावन है कि उसकी महत्ता शब्दों में नहीं कही जा सकती। काश ! इस महान् सरस्वती-पुत्र पर शोध के सन्दर्भ में कुछ बड़ा साहित्यिक कार्य होता। किन्तु दुर्भाग्य है, जितना चाहिए, उतना अब तक हो नहीं सका है।

कितनी असाधारण प्रतिभा, सगरवत् गम्भीर अध्ययन तथा उर्वर चेतना के धनी थे वे महान् आचार्य। आगम, दर्शन, न्याय, योग तथा कथा आदि जितने विषयों पर, जिस सफलता के साथ उन्होंने लिखा, यह अतिशयोक्ति नहीं है कि वैसा लिखने वाले विद्वान् बहुत कम हुए। आचार्य हरिभद्र अनेक शास्त्रों में निष्णात, प्रखर पाण्डित्य के धनी, दुर्धर्ष विद्वान् थे। जब वे सांसारिक थे, तब लौकिक गरिमा, वैभव एवं समृद्धि का वैपुल्य उन्हें स्वायत्त था। किन्तु जब अप्रतिम त्याग तितिक्षामयी श्रमण-परम्परा में उनका आस्था परिणत हुई, तब उन्होंने एक ऐसा वैभव, माहात्म्य अर्जित किया, जिसकी उच्चता तक भौतिक विभूतियाँ युग-युगान्तर में भी नहीं पहुँच सकतीं। आचार्य हरिभद्र का श्रमण-जीवन जहाँ एक ओर आचार-क्रान्ति का जाज्वल्यमान प्रतीक था, दूसरी ओर ज्ञान के क्षेत्र में उनके द्वारा जिस विपुल और महान् साहित्य का सृजन हुआ, वह सदा अजर, अमर रहेगा।

अन्यान्य विषयों को न लेकर अभी मैं एक विशेष बात पर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहूँगा; जो उनके साहित्यिक कृतित्व से सम्बद्ध है। जिसकी मैं चर्चा करना चाहता हूँ, वह है जैन योग। आचार्य हरिभद्र वे प्रथम मनीषी थे, जिन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा द्वारा जैन योग के सन्दर्भ में मौलिक ग्रन्थों की रचना की।

आचार्य हरिभद्र मेरे अध्ययन के प्रमुख विषय रहे हैं, विशेष रूप से उनकी योग-विषयक रचनाएँ। आज से २५ वर्ष पूर्व जब मैं प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली (बिहार) में प्राकृत एवं जैनीलॉजी विषय में स्नातकोत्तर अध्ययन कर रहा था, उसी समय मुझे आचार्य हरिभद्र सूरि के योग-विषयक ग्रन्थों का आच्छोपान्त गम्भीर अध्ययन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। उससे भी वर्षों पूर्व लगभग बालपन में ही मेरे हृदय में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई थी कि मुक्ति, मोक्ष, परमात्म-पद की प्राप्ति अथवा स्वयं परमात्मा बनना, अथवा ब्रह्मलीनता अथवा भगवान् की प्राप्ति अथवा निर्वाण-अवस्था की प्राप्ति, जन्म-मरण के अनादि संसार चक्र से जीव की मुक्ति की, ये जितनी दशाएँ हैं, इन्हें प्राप्त करने का क्या विश्व भर के सभी जीवों के लिए भक्ति, ज्ञान, कर्म या संन्यास का कोई एक ही मार्ग सुनिश्चित है, उसके सिवाय कोई गति नहीं है, और वैसे या वह मार्ग बताने वाला केवल एक ही धर्म सत्य है, शेष सब झूठे हैं? अथवा ईश्वर को या ईश्वरत्व को पाने के एकाधिक उपाय, मार्ग या धर्म हो सकते हैं, और सभी जीवों को अपनी-अपनी क्षमता एवं देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार अपना-अपना मार्ग चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता व अधिकार है? ..... इत्यादि रूप से मेरी गहन उत्सुकता और उत्कण्ठा थी।

आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाओं के अध्ययन ने मेरी उपर्युक्त जिज्ञासा को इस प्रकार शान्त किया कि सत्य या ईश्वर ऐसे कोई दुर्लभ्य हिमालय नहीं, जिनकी चोटी पर पहुँचने का कोई एक और केवल एक मात्र मार्ग हो, वह भी किसी एक ही दिशा से। अपितु वह तो ऐसा सूर्य है, जिसकी किरणें एक केन्द्र से उत्स्यूत होकर असीम, असंख्य, अनन्त कोणों व मार्गों से अखिल विश्वमंडल में व्याप्त होती हैं, और विपरीत क्रम से उतने ही अनन्त, असंख्य, असीम कोणों व मार्गों से जाकर उसी 'सत्य' रूपी सूर्य में विलीन हो जाती हैं। अतः धर्म भी न केवल अनेक, अपितु प्रत्येक जीव का अपना एक स्वतंत्र धर्म हो सकता है और औपचारिक धर्म, तीर्थकरों, अवतारों, पैगम्बरों, ऋषियों व सन्तों द्वारा प्रणीत धर्म, वे श्रृंखलाएँ नहीं हैं, जिनमें बाँधकर जीव-सृष्टि की श्रेष्ठ कृतियों, जिनमें श्रेष्ठतम है मनुष्य, (उसे) किसी अन्धकूप में फँक दिया जाए, अपितु वे मार्गदर्शक स्तम्भ हैं, प्रकाश की वे किरणें हैं, वे हस्त-दण्ड हैं, जिन्हें पकड़कर जिनको देखकर मनुष्य अपने उस उच्चतम, महत्तम गन्तव्य को पा सकता है, जहाँ वह सर्वतन्त्र स्वतंत्र है, और जहाँ उसकी स्वयंभू सार्वभौम सत्ता है। संसार के सभी धर्म इस लक्ष्य की सिद्धि में, अथवा जीवन के परम-सत्य की शोध में केवल उपाय भर हैं, साधन मात्र हैं साध्य नहीं, और इतनी ही धर्मों की सत्यता है, इतनी ही सार्थकता।

आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों से न केवल मानव धर्मों की ऐसी सारभूत एकता की बुद्धि उत्पन्न होती है, अपितु यह दृष्टि भी प्राप्त होती है कि मोक्ष से जोड़ने वाला सभी धर्म-व्यापार, सारे धार्मिक आचार-व्यवहार 'योग' हैं।



आध्यात्मिक-विकास की भूमियों का विवेचन जैन परम्परागत 'गुणस्थान क्रम' से स्वतंत्र मित्रा, तारा, प्रभा, परा प्रभृति आठ दृष्टियों में करके तथा पातञ्जल योग एवं बौद्ध योग की विकास भूमियों से उनका समन्वय करते हुए, पातञ्जल योग के यमनियमादि आठों अंगों का स्व-प्रणीत जैन योग साधना पद्धति में समाहार करके आचार्य हरिभद्र ने आठवीं शती ई० में योग-साधना का अभूतपूर्व सर्वांगीण और सार्व-जनीन पथ प्रशस्त किया। दुराग्रह का तो प्रश्न ही नहीं, उनकी योग-विषयक रचनाओं में साम्प्रदायिक आग्रह की गन्ध तक कहीं नहीं आ सकती।

आचार्य हरिभद्र की इन रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि योग और अध्यात्म जैसे दुर्बोध विषयों को, जिनमें सिद्धान्त की अपेक्षा व्यवहार कहीं अधिक दुर्गम, दुर्बोध एव असाध्य होता है, व इनमें सामंजस्य कठिन हो जाता है, तथा योग मार्ग की व्यावहारिक कठिनाइयों को इस प्रकार समझाया और सुलझाया है कि ज्ञानवान् और अज्ञानी, अल्पश्रुत और बहुश्रुत, सबल और निर्बल, हठयोगी व सहजयोगी, भक्तिमार्गी या ज्ञानमार्गी, और कर्मयोगी अथवा कर्म-संन्यासी—सभी प्रकार के साधक आध्यात्मिक-विकास के मार्ग पर सरलतापूर्वक चल सकते हैं। सक्षेप में उनके द्वारा प्रतिपादित योगमार्ग केवल मार्गदर्शक प्रकाश-रत्न मात्र नहीं अपितु अनोदि-अनन्त भवसागर में हाथ पकड़कर, यान पर आरूढ़ करके साथ ले चलने वाले उस पारगामी नाविक के समान है, जो स्वयं तो पार जाता ही है अन्यो को भी पार करा देता है। और इस प्रकार आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ बोधिसत्त्व की उस प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाती हैं, जहाँ वह कहता है—

न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम् ।

कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामतिनाशनम् ॥

आचार्य हरिभद्र को जैसे स्वयं कुछ नहीं चाहिए, कोई आचार्यमुष्टि नहीं कोई रहस्य नहीं। उन्होंने जैसे शताब्दियों-सहस्राब्दियों के योगियों और मुमुक्षुओं के अनुभवों को अपनी इन रचनाओं में शब्द-शब्द, अक्षर-अक्षर जैसे खोल-खोल कर स्पष्ट करके रख दिया है। और यहीं पुनः याद आता है महाकारुणिक शास्ता गौतम बुद्ध का यह कथन—“भिक्षुओं! मैंने कोई आचार्यमुष्टि (गुरु के हृदय में निहित रहस्य-मयता) नहीं रखी, भीतर और बाहर कुछ भी न छिपाते हुए धर्म का उपदेश दिया है और जो मार्ग बतलाया है, वह ऐसा है, जिस पर चलकर आदमी जीते-जी निर्वाण प्राप्त करता है, जो काल से सीमित नहीं, जिसके बारे में कहा जा सकता है कि आओ और स्वयं देख लो; जो ऊपर उठाने वाला है, जिसे प्रत्येक बुद्धिमान आदमी स्वयं प्रत्यक्ष कर सकता है।” (मच्चसंगहो भू. पृ० १३)। ऐसा ही मार्ग दिखाती हैं आचार्य हरिभद्र की योग-विषयक रचनाएँ।

इन रचनाओं का जब भी परिशीलन करता हूँ और इनकी अतल गहराइयों में डुबकी लगाने का उद्यम करता हूँ तो आनन्द-विभोर हो उठता हूँ और नया प्राप्त

करता जाता हूँ, उस महामहिम प्रज्ञा धनी के प्रति श्रद्धावन्त हो जाता हूँ । वर्षों से मेरी इच्छा रही है, आचार्य हरिभद्र पर मैं कुछ कार्य करूँ । इसे कर्मान्तराय ही कहूँगा कि हृदय से चाहने पर भी अब तक वैसा कुछ प्रस्तुत कर नहीं सका ।

मुझे बहुत प्रसन्नता है, मेरे अत्यन्त निकटवर्ती आत्मीय विद्वान्, जो वर्षों मेरे साथ रहे हैं, जिनकी प्रतिभा और उच्चमशीलता का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ, सुहृदवर डॉ. छगनलाल जी शास्त्री, एम. ए., पी-एच. डी. ने स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र को अपने अध्येय विषयों में स्वीकार किया ।

मुझे यह व्यक्त करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है, कि श्री स्थानकवासी जैन समाज के बहुश्रुत युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी की सत्प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से, जैन जगत् की सुप्रसिद्ध विदुषी, महान् साधिका तथा कुशल लेखिका परमपूजनीया महासती श्री उमरावकुंवर जी म. 'अर्चना' के पावन पथ-दर्शन और संयोजन में डॉ. छगनलाल जी शास्त्री ने मेरे आराध्य, प्रातःस्मरणीय आचार्य हरिभद्र के योग सम्बन्धी चारों ग्रन्थों के सम्पादन, राष्ट्रभाषा हिन्दी में अनुवाद तथा विवेचन का स्तुत्य कार्य किया है । इन ग्रन्थों का गुजराती एवं अंग्रेजी में तो अनुवाद, विवेचना आदि हुआ है पर जहाँ तक मेरी जानकारी है, हिन्दी में इन चारों ग्रन्थों पर वैसा कुछ कार्य नहीं हुआ । योगविशिका का बहुत पुरानी हिन्दी में एक अनुवाद देखने में आया, वह भी आज उपलब्ध नहीं है पर अन्य ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद, विवेचन दृष्टिगोचर नहीं हुआ । मैं हृदय से आभार मानता हूँ, पूजनीया महासतीजी ने निःसन्देह ऐसे पवित्र कार्य हेतु देश के एक वरिष्ठ विद्वान् को प्रेरित किया, मार्ग-दर्शन दिया तथा कार्य को गति प्रदान की । डॉ. शास्त्री जी को मैं हृदय से वर्धापित करता हूँ कि उन्होंने हिन्दी जगत् के लिए वास्तव में यह बहुत बड़ा कार्य किया है । आचार्य हरिभद्र जैसे भारतीय साहित्य गगन के एक परम दिव्य तेजोमय नक्षत्र की यौगिक ज्ञानमयी दीप्ति से हिन्दी जगत् को परिचित कराने में प्रस्तुत ग्रन्थ, जिसमें इन महान् आचार्य के योगदृष्टि समुच्चय, यांगबिन्दु, योगशतक तथा योगविशिका— इन चारों कृतियाँ का समावेश है, बहुत उपयोगी सिद्ध होगा । जैसा मैंने ऊपर कहा है, आचार्य हरिभद्र ने योग पर अनेक दृष्टियों से मौलिक चिन्तन दिया है, जो वास्तव में अनन्य-साधारण है । योग के क्षेत्र में जिज्ञासाशील, साधनाशील, अनुसन्धानरत एवं अध्ययनरत पाठकों को अवश्य ही उससे लाभान्वित होना चाहिये । जिनको संस्कृत व प्राकृत का गहरा अध्ययन नहीं है, उन हिन्दी भाषी पाठकों के लिए अब तक ऐसा अवसर नहीं था । क्योंकि आचार्य हरिभद्र के इन चार ग्रन्थों में दो संस्कृत में और दो प्राकृत में हैं ।

हमारे देश में जैन विद्या (Jainology) के क्षेत्र में अनेक संस्थान कार्यरत हैं । कितना अच्छा हो, डॉ० शास्त्री जी जैसे प्राच्य भाषाओं तथा प्राच्य दर्शनों के गहन अध्येता विद्वानों का समुचित उपयोग करते हुए संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश

आदि प्राच्य भाषाओं में प्रणीत जैन विद्या सम्बन्धी ग्रन्थों पर ठोस कार्य कराएँ और उसे समस्त विद्वज्जगत् के लाभार्थ प्रकाशित करें। बड़ा दुःख है अभी संस्थाएँ भी संकीर्णता के दायरे से उतनी ऊँची नहीं उठ पाई हैं, जितना उठना चाहिए। तभी तो ऐसा हो रहा है कि विद्वानों का जितना जहाँ, जैसा उपयोग होना चाहिए, हो नहीं पाता।

पूजनीया महासती जी और समादरणीय विद्वत् साथी डॉ० शास्त्री जी का यह श्रुतसेवी प्रयास मुझे बहुत प्रीतिकर लग रहा है। मैं इसका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ।

डॉ० शास्त्री जी की संपादन शैली, अनुवादन-विवेचन शैली अपनी असामान्य विशेषताएँ लिये हुए है। वे हिन्दी के प्रबुद्ध लेखक हैं। संस्कृत या प्राकृत में संग्रहित मूल भाव को हिन्दी में जिस निपुणता तथा कौशल के साथ उपस्थापित करने में वे समर्थ हैं, वह सर्वथा स्तुत्य है। मैं आशा करूँगा, उनकी सशक्त, साधना-निष्णात लेखनी से और भी अनेक ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आयेंगे।

आशा है, पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ द्वारा भारत के एक महान् आचार्य की महान् ज्ञानसंपदा से निश्चय ही लाभान्वित होंगे।

सरस्वती-विहार, जबलपुर  
कार्तिक पूर्णिमा, वि० सं० २०३८

—डॉ० विमल प्रकाश जैन एम० ए० (संस्कृत,  
पालि, प्राकृत तथा जैनीलोजी), पी-एच० डी०  
रीडर—संस्कृत—पालि—प्राकृत विभाग,  
जबलपुर विश्वविद्यालय, (जबलपुर)

## मंगल-भावना

योग मेरे जीवन का विषय है और मैं जानता हूँ कि इस विद्या का हमारी पुण्यभूमि भारत में जो विकास हुआ, वह सचमुच जगत् को उसकी अद्वितीय देन है। योग वह विद्या है, जो समय, स्थान आदि की सीमा में बँधी नहीं है। उस द्वारा ससीम आत्मा अपने असौम विराट् स्वरूप को अधिगत कर सत्-चित्-आनन्दमय बन अकल्प्य, जाती है। गगन-मण्डल में एक अकल्प्य अतर्क्य और अभेद्य ज्ञान राशि परिव्याप्त है, वह अप्राप्य नहीं है। प्राप्य हो जाए तो व्यक्ति क्या से क्या बन जाए। उसकी प्राप्यता का मार्ग योग है। योगी विश्वगत ज्ञान को साधना-बल द्वारा अपने में उतार पाता है। स्वयं उसकी दिव्य रसानुभूति तो करता ही है, अखण्ड भूमण्डल को उससे लाभान्वित भी कर सकता है। यह जो मैं लिख रहा हूँ, केवल शास्त्र-ज्ञान के आधार पर नहीं, हिमाद्रि की गहन कन्दराओं में साधानारत योगियों में जो मैंने पाया और यत् किञ्चित् स्वयं भी अनुभूत किया, वह भी उसका एक आधार है।

मेरी भावना है, योग विद्या पर गहन अध्ययन हो, शोध-कार्य हो, अनुद्घाटित या विलुप्त सत्य उद्घाटित हों, इसके नाम पर चलती विडम्बनाएँ, प्रवञ्चनाएँ एवं छलनाएँ निरस्त हों। इसके लिये मैं यह परम आवश्यक समझता हूँ, हमारे ऋषि, महर्षियों ने, योगियों ने, आध्यात्मिक महापुरुषों ने जो सत्य शब्दबद्ध किया, उसे हम यथावत् समझे स्वायत्त करें। योगी परंपराबद्ध नहीं होता, वह साधनाबद्ध होता है। इसलिये मेरी दृष्टि में पतंजलि, व्यास, गोरख, हरिभद्र, नागार्जुन, सरहप्पा, कण्हप्पा, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, योगीन्दुदेव, आनन्दघन आदि सभी योगिवर्य योगमणिमुक्ताग्रथित अमूल्य माला के मनोज्ञ मनके हैं। इनके विचारों की अनिर्वचनीय दीप्ति से हमें अपना अन्तर्तम उद्भासित करना है। इसके लिए यह नितान्त वाञ्छनीय है, इनका साहित्य हमें उपलब्ध हो। थोड़ा सा उपलब्ध है, बहुत सा अनुपलब्ध है, आज भी अप्रकाशित पड़ा है। कितना अच्छा हो, कोटि-कोटि भारतवासियों की राष्ट्रभाषा हिन्दी में वह समुपस्थापित हो सके।

मुझे यह जानकर अत्यधिक हर्ष हुआ कि श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के युवाचार्य विद्वद्दर्शन, बहुभूत मनोषी परमश्रद्धेय श्री मधुकर मुनि जी म० की छत्रच्छाया में भारतीय विद्या, जैन आगम आदि के सन्दर्भ में हो रहे विराट् कार्य के अन्तर्गत योगवाङ्मय का कार्य भी चल रहा है। उन्हीं के धर्मसंघ की परम विदुषी, योगनिष्ठ आदर्श साधिका, समादरणीया महासती श्री उमरावकुंवर जी म० 'अर्चना' के मार्गदर्शन तथा संयोजन में मेरे अनन्य आत्मीय विद्वान डॉ० छगन लाल जी शास्त्री एम. ए., पी-एच. डी. ने, जिनकी प्रतिभा एवं वैदुष्य पर मुझे गर्व है,

महान् ज्ञानी, महान् योगी, स्वनामधन्य आचार्य हरिभद्र सूरि के योग पर दो संस्कृत-ग्रन्थ—योगदृष्टि समुच्चय तथा योगबिन्दु एवं दो प्राकृतग्रन्थ—योगशतक व योग-विंशिका का राष्ट्रभाषा हिन्दी में सम्पादन, अनुवाद और विवेचन किया है, जो इस ग्रन्थ द्वारा प्रस्तुत है ।

डॉ० शास्त्री को उनके बाल्यकाल से ही मैं देखता रहा हूँ, उन्हें प्रज्ञा, विद्या तथा साधना संस्कार से प्राप्त है । भारतीय विद्या के क्षेत्र में जो उन्होंने उपलब्धियाँ की हैं, वे वास्तव में स्तवनीय तथा वृद्धापनीय हैं । उनके अध्ययन, ज्ञान एवं चिन्तन से समाज उपकृत तथा लाभान्वित हो, यह मेरी हार्दिक भावना है । उन्होंने योग को अपने प्रमुख अध्येय और विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार किया है, यह मेरे लिए और हर्ष की बात है । अपनी सशक्त लेखिनी द्वारा योग वाङ्मय के उन विस्मृत या विस्मर्यमाण सत्त्यों को वे शब्दबद्ध करेंगे, प्रकाश में लायेंगे, जिनसे मानव-जाति का बहुत बड़ा उपकार संभाव्य है, ऐसा मुझे विश्वास है ।

मैं साधकोत्तम, परम पूज्य युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी म० तथा योगशक्ति रूपा महासती श्री उमरावकृंवर जी म० 'अर्चना' से यह वित्त अतुरोध करूँगा वे योग वाङ्मय के कार्य को कृपया विशेष बल प्रदान करते रहें और डॉ० शास्त्री जैसे प्रौढ़ अध्येताओं व मनीषियों को सत्प्रेरित करते रहें ताकि योगतत्त्व के प्रकाश द्वारा अज्ञानावृत लोकमानस में ज्ञान की दिव्य ज्योति उद्भासित हो सके ।

पाठक प्रस्तुत ग्रन्थ से अधिकाधिक लाभान्वित हों, यह मेरी अन्तःकामना है ।

हरिद्वार (उत्तर प्रदेश)

—डॉ० गौरीशंकर आचार्य

(एम. ए. पी-एच. डी.)

विद्या भास्कर, शास्त्राचार्य,  
वेदान्तवारिधि, सांख्ययोगतीर्थ)

# स्वतः

ज्ञान और कर्म का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कर्म सत्प्रयुक्त, सन्नियोजित तथा सार्थक हो, इसके लिए यह आवश्यक है कि कर्म-प्रवृत्त पुरुष को यथार्थ ज्ञान हो। वह ज्ञान सत्यपरक हो। सन्निष्ठा तथा सद्ज्ञान से परिचालित, परिपोषित कर्म जीवन में अत्यन्त उपादेय होता है। निष्ठारहित और ज्ञानशून्य कर्म उसकी तुलना में कुछ भी नहीं है। अतएव 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः', 'नाणं पयासयरं' जैसे प्रेरक सूत्र-वाक्य अस्तित्व में आये। व्यक्ति ज्ञान की सूक्ष्मता और गहराई में ज्यों ज्यों प्रविष्ट होता जाता है, उसकी उसमें तन्मयता बढ़ती जाती है, तद्व्यतिरिक्त जागतिक पदार्थ विस्मृत होते जाते हैं। ज्ञान तब योग बन जाता है। उसमें से एक नूतन क्रान्ति का जन्म होता है। वह क्रान्ति है अपनी विराट्ता को जानने तथा अधिगत करने का सत् पराक्रम। उस विराट्ता को स्वायत्त कर लेने का अर्थ है आत्मभाव का परात्मभाव में रूपान्तरण।

ज्ञान एक महासागर की तरह असीम एवं अगाध है। जन्म-जन्मान्तर पयन्त सतत प्रयत्नशील रहने पर भी मानव केवल उसके कुछ कण ही बटोर सकता है। पर थोड़े ही सही, ये ज्ञान कण निश्चित रूप में बहुत बड़ी निधि बन जाते हैं।

बचपन से ही मेरी ज्ञान में सहजरुचि रही है और जितना जो संभव हो सका, इस दिशा में मेरा विनम्र प्रयास रहा। अपने इस अध्ययन क्रम में मेरा योग-साहित्य-सम्बन्धी ग्रन्थ पढ़ने में विशेष झुकाव रहा। मैंने अपनी संयम-यात्रा में इसी लक्ष्य से चरणन्यास किया था—जब जीवन का एक पक्ष विधि ने मुझ से छुड़ा लिया है और तत्त्वतः जो छोड़ने ही योग्य है, मुझे दूसरे पक्ष को सही माने में सजाना-सँवारना है।

मेरे श्रद्धेय पिताश्री एक पुण्यचेता सात्त्विक पुरुष थे। लोक में रहते हुए भी वे वस्तुतः उसमें निमग्न नहीं थे, एक प्रकार से अलिप्त भी। उनकी स्नेह भरी गोद में मैं पली, क्योंकि मेरी वात्सल्यमयी माँ को भाग्य ने मुझ से जन्म लेने के कुछ ही दिन बाद छीन लिया था। पिताजी से मुझे जहाँ दैहिक पुष्टि मिली, उनके व्यक्तित्व की पावनता ने सहजरूप में मुझे वे आध्यात्मिक संस्कार दिये, जिनकी अभिव्यक्ति मैंने श्रमण जीवन में उपलब्ध की। पिताजी सचमुच एक योगी थे और कतिपय दृष्टियों से पहुँचे हुए भी। मेरे साथ वे भी श्रमण-जीवन में प्रव्रजित हो गये और अपनी आध्यात्मिक यात्रा में बड़ी वीरता से आगे बढ़ते गये। मैं इसे अपना विशेष सौभाग्य ही कहूँगी, गृही जीवन में उनकी छत्रच्छाया मुझ पर रही ही, श्रमण जीवन में भी समय-समय पर उनका प्रेरक सान्निध्य मुझे प्राप्त होता ही रहा।

यह मेरा विशेष सद्भाग्य था, मन्त्रदाता गुरु भी परमपूज्य स्वामीजी श्री हजारीमलजी म० सा० जैसे पावन पुरुष मुझे प्राप्त हुए। मार्गनिर्देशिका के रूप में परम श्रद्धेया गुरुणीजी महासती श्री सरदारकुँवरजी म०सा० की सन्निधि मेरे लिए सदैव वरदान रही। इन सब दिव्यात्माओं की प्रेरणा और छत्रच्छाया में अपनी संयम-यात्रा पर आगे बढ़ते रहने में मुझे बड़ा ही आनन्द और आत्मतोष अनुभूत होता रहा। मेरे विद्याध्ययन तथा जीवन-विकास में ये सदैव उत्प्रेरक, निर्देशक और सहायक रहे। जैन श्रमण-जीवन के नाते हम लोगों के लिए यह संभव नहीं हो पाता कि दीर्घ-काल तक किसी एक ही स्थान में टिककर हम अध्ययन कर सकें क्योंकि वर्षावास के चार महीनों के अतिरिक्त और समय हम कहीं भी बिना किसी विशेष कारण के एक मास से अधिक नहीं ठहर सकते। फिर भी जब जैसा समय मिला, मैं इस ओर प्रयत्न-शील रही। आदरणीय विद्वद्वर पं० शोभाचन्द्रजी भारिल्ल जैसे विद्वानों का मेरे ज्ञान विकास में बड़ा योगदान रहा। व्याकरण, साहित्य, काव्य, कोष, दर्शन आदि अनेक विषयों में मैंने यथामति, यथाशक्ति अप्रसर होने का प्रयास किया।

जैसा मैंने पहले संकेत किया है, योग सम्बन्धी, विशेषतः जैनयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के पढ़ने में मुझे विशेष आत्मतोष मिलता था। जितना संभव हो सका, उस दिशा में भी मैंने अपना अध्ययन चालू रखा। तभी मेरे मन में आया कि योग केवल साधु-संन्यासियों या गृह-त्यागियों का विषय नहीं है, मानव मात्र से इसका सम्बन्ध है। इसलिए बहुत अच्छा हो कि लोगों में योग सम्बन्धी साहित्य के अध्ययन की प्रवृत्ति पनपे, बढ़े। मेरा आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र की ओर ध्यान गया। मैंने साँचा हिन्दी अनुवाद के साथ यह ग्रन्थ प्रकाश में आये तो जिज्ञासुओं तथा अभ्यासी जनों को बड़ा लाभ हो। मुनि श्री समदर्शीजी एवं पं० शोभाचन्द्र जी भारिल्ल के सहयोग से इसका सम्पादन व अनुवाद कार्य सम्पन्न हुआ और सन् १९६३ में इसका प्रकाशन हुआ। पाठकों ने इसका अच्छा आदर किया। फलतः आज यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

मन ही मन मैं सोचती रहती हूँ, उस दिशा में (योग की ओर) लोग गतिशील हों—अध्ययन, अभ्यास व साधना की दृष्टि से। मैं नागौर में प्रवास कर रही थी, तब जैन विद्या तथा प्राच्य भाषाओं के विद्वान् डॉ० छगनलालजी शास्त्री ने मेरे समक्ष जैन जगद् के योगनिष्ठ महान् विद्वान् तथा साहित्य-स्रष्टा आचार्य हरिभद्र सूरि के योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, योगशतक तथा योगविशिका नामक ग्रन्थों पर कार्य करने का प्रस्ताव रखा। मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई। जैसा कि मैंने अपने पिछले तीन-चार वर्ष के परिचय में अनुभव किया, डॉ० शास्त्रीजी एक ऐसे सर्जनशील, विनयशील एवं चरित्रनिष्ठ मनीषी हैं, जिनके प्रगाढ़ पाण्डित्य और संस्कारवती प्रतिभा का उपयोग लिया जाए तो विद्या के क्षेत्र में बहुत बड़े कार्य हो सकते हैं। मुझे और अधिक प्रसन्नता इस बात की हुई कि डॉ० शास्त्रीजी जैसे विद्वान् स्वतः प्रेरित होकर इस पुण्य कार्य में जुट रहे हैं। यह बहुत बड़ा शुभ चिन्ह है। मैंने

इस श्रुत-सेवा में जैसा बन सके, अपना साथ देना सहर्ष स्वीकार किया। इस कार्य के सन्दर्भ में बीच-बीच में डॉ० शास्त्रीजी से विचार-चर्चा होती रही। उनके ज्ञान की गहराई, प्रज्ञा की उर्वरता तथा कार्य के प्रति निष्ठा देखकर मुझे असीम हर्ष हुआ।

उक्त चारों ग्रन्थ सुसम्पादित, अनूदित, व्याख्यात रूप में प्रस्तुत हैं। डॉ० शास्त्रीजी की लेखनी की अपनी विशेषता है। विपुल भाव का संक्षिप्त शब्दावली में बाँध पाने में उनका विशेष कौशल है। अनुवाद की उनकी अपनी विशेष सुन्दर, प्राञ्जल शैली है। वह विद्वद् योग्य भी है और लोकगम्य भी। भाव की दृष्टि से आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थ बड़े जटिल और कठिन है। परंपरा, विषय तथा भाषा तीनों में निष्णात विद्वान् ही ऐसे कार्य को कर सकते हैं। डॉ० शास्त्रीजी इस कार्य में सर्वथा सफल सिद्ध हुए हैं।

जैन योग के गहन अध्येताओं तथा अन्वेष्टाओं के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ बड़े उप-योगी सिद्ध होंगे, ऐसा मेरा विश्वास है। जैन योग के अभ्यासी तथा जिज्ञासु जन भी इनसे लाभ उठा सकेंगे, ऐसी आशा है।

इस प्रसंग में परम श्रद्धेय सन्त रत्न स्वामीजी श्री ब्रजलालजी म० सा० तथा परम सम्माननीय बहुश्रुत पण्डितरत्न युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म० सा० को अत्यन्त श्रद्धा से नमन करती हूँ, जिनकी सुखद छत्रच्छाया में योगवाङ्मय का यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हो सका।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के प्रकाशन के अवसर पर देश के महान् विद्वान्, चिन्तक एवं लेखक, राष्ट्रसन्त कविवर श्री अमर मुनिजी म० सा० ने योग के परिशीलन के रूप में बड़ी ही ठोस एवं बोधप्रद सामग्री प्रदान की थी, जो योगशास्त्र में पृष्ठभूमि के रूप में प्रकाशित है। सामग्री इतनी गवेषणापूर्ण तथा शाश्वत महत्ता एवं उपयोगिता लिये हुए है कि इस ग्रन्थ में भी "जैन योग : एक परिशीलन" शीर्षक से उसे उद्धृत किया गया है। इससे निःसन्देह सुधी पाठक महान् योगी आचार्य हरिभद्र सूरि के ग्रन्थों को समझने योग्य बौद्धिक पृष्ठभूमि प्राप्त करेंगे।

ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों दृष्टियों से जिनसे मैंने ऐसा दिव्य अवदान प्राप्त किया, जो मेरी संयम-यात्रा में सुधोपम पाथेय सिद्ध हुआ, उन परम श्रद्धास्पद पितृचरण (स्व० मुनि श्री मांगीलाल जी म० सा०) की जीवन-रेखा, जो मैंने योग-शास्त्र में प्रस्तुत की थी, साधनानुरागी भाई-बहिनों के लिए प्रेरणाप्रद मानते हुए, यहाँ भी उद्धृत की गई है।

अन्ततः मेरी यही सत्कामना है, जीवन का रहस्य समझने तथा सत्य स्वायत्त करने की इच्छा रखने वाले सुधोजन इस ग्रन्थ से अवश्य लाभान्वित हों।

नोखा चांदावतों का  
(राजस्थान)

—जैन साध्वी उमरावकुंवर  
'अर्चना'



एक पुनीत स्मृति :

## श्रद्धेय तपस्वी श्री मांगीलालजी महाराज

जीवन रेखा

परम श्रद्धेय मुनि श्री मांगीलालजी म० का जन्म वि० सं० १९४० भाद्रपद शुक्ला दशमी को राजस्थान के किशनगढ़ स्टेट के दादिया गाँव में हुआ था। श्री हजारीमलजी तातेड़ आपके पूज्य पिता थे और श्रीमती पुष्पादेवी आपकी माता थीं। आप तीन भाई थे—१. श्री जवाहरसिंह जी, २. श्री मोतीलाल जी और ३. रघुनाथ सिंह जी। आप सबसे छोटे थे। जन्म के कुछ दिन बाद आपको मांगीलाल के नाम से पुकारने लगे और अन्त तक आप इसी नाम से प्रसिद्ध रहे। संयम स्वीकार करने के बाद भी आपका नाम मुनि श्री मांगीलाल जी महाराज ही रहा।

बाल्य-काल

बाल्य-काल जीवन का सुखद एवं सुहावना समय होता है। यह जीवन का स्वर्णिम काल होता है। इस समय मनुष्य दुनियाँ की समस्त चिन्ताओं एवं परेशानियों से मुक्त होता है और विषय-विकारों से भी कोसों दूर होता है। परन्तु, इस सुहावने समय में आपको अपने पूज्य पिताश्री का वियोग सहना पड़ा। यह सौभाग्य की बात है कि माता के अगाध स्नेह एवं दुलार में आपका जीवन विकसित होता रहा। चौतीस वर्ष की अवस्था तक आपको माताश्री का सान्निध्य बना रहा, प्यार-दुलार मिलता रहा।

आपका ननिहाल नसीराबाद छावनी के निकट बाण्याँ गाँव में था और वहीं के प्रसिद्ध व्यापारी श्री हजारीमलजी की सुपुत्री अनुपमकुमारी के साथ आपका विवाह हुआ और जीवन का नया अध्याय शुरू हो गया। जवानी जीवन के उत्थान-पतन का समय है। इस समय शक्ति का विकास होता है। यदि इस समय मानव को पथ-प्रदर्शन एवं सहयोग अच्छा मिल जाए और संगी-साथी योग्य मिल जाएँ तो वह अपने जीवन को विकास की ओर ले जा सकता है और यदि उसे बुरे साथियों का संपर्क मिल जाए, तो वह अपना पतन भी कर सकता है। वस्तुतः जीवन—जीवन की एक अनुपम शक्ति है, ताकत है। इसका सदुपयोग किया जाए तो मनुष्य का जीवन अपने लिए, धर्म, समाज, प्रान्त एवं राष्ट्र के लिए हितप्रद बन सकता है, और इसका दुरुपयोग करने पर वह सबके लिए विनाश का कारण भी बन सकता है। यह जीवन का एक सुनहरा पृष्ठ है, जिसमें मानव अपने आपको अच्छा या बुरा जैसा चाहे वैसा बना सकता है।

१ मेरे (लेखिका के) पूज्य-पिताजी.

आपका जीवन प्रारम्भ से ही संस्कारित था। बाल्य-काल में मिले हुए सुसंस्कारों का विकास होता रहा। आप प्रायः साधु-संन्यासियों के संपर्क में आते रहते थे। इसका ही यह मधुर परिणाम है कि आगे चलकर आप एक महान् साधक बने और अपने जीवन का सही दिशा में विकास किया। आपके जीवन में अनेक गुण विद्यमान थे। परन्तु सरलता, स्नेहशीलता, दयालुता एवं न्यायप्रियता आपके जीवन के कण-कण में समा चुकी थी। आपके जीवन की यह विशेषता थी कि आप कभी किसी के दुःख को देख नहीं सकते थे। आप सदा-सर्वदा दूसरे के दुःख को दूर करने के लिए प्रयत्नशील रहते थे।

### सेवा-निष्ठ जीवन

वि० सं० १९७४ में प्लेग की भयंकर बीमारी फैल गई। जन-मानस आतंक की उत्ताल तरंगों से आन्दोलित एवं विचलित हो उठा। देखते ही देखते सबके स्वजन-परिजन काल के गाल में समाने लगे और लोग अपने परिवार के साथियों का मोह त्यागकर अपने प्राण बचाने का प्रयत्न करने लगे। गाँव खाली होने लगा, और घरों में लाशों के ढेर लगने लगे। उन्हें श्मशान भूमि तक ले जाकर दाह-संस्कार करने वाले मिलने कठिन हो रहे थे। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मच गई। मेरे पिताजी के परिवार के सदस्य भी महामारी की चपेट में आ गए थे और ८ दिन में परिवार के २३ सदस्य सदा के लिए इस लोक से विदा हो चुके थे। घर में सन्नाटा छाया हुआ था। चारों तरफ कुहराम मच रहा था। ऐसे विकट एवं दुःखद समय में भी आपके धैर्य का बाँध नहीं टूटा। आप दिन-रात जन-सेवा में लगे रहे। लोगों के लिए दवा की व्यवस्था करना और जिस परिवार में मृत व्यक्ति को कोई कंधा देने वाला नहीं रहता, उस लाश को उठाकर उसे श्मशान में ले जाकर दाह संस्कार कर देना। इस तरह आपने हृदय से बीमारों की सेवा की और साहस के साथ महामारी का सामना किया।

प्लेग के कारण बहुत से लोग मर गये और बहुत से लोग अपने जीवन को बचाने के लिए गाँव छोड़कर जंगलों में चले गये और वहीं झोंपड़ियाँ बनाकर रहने लगे। परन्तु परिवार में सदस्यों की कमी हो जाने तथा बीमारी के कारण शक्ति क्षीण हो जाने से उनमें खेती करने का सामर्थ्य कम रह गया और अर्थाभाव भी उनके सामने मुँह फाड़े खड़ा था। अन्न की समस्या विकट हो रही थी। लोग वृक्षों की छालें पीसकर उसकी रोटियाँ बनाकर खाते या झाड़ियों के बेर खाकर ही सन्तोष करते थे। अन्त में विवश होकर लोग अपने राजा के पास पहुँचे और उनसे सहायता माँगी। उस समय मेरे पिताजी राज-दरबार में कामदार थे। उन्होंने भी जनता का साथ दिया और राजा से अन्न संकट को दूर करने का प्रयत्न करने की प्रार्थना की। किन्तु जनता की प्रार्थना राजा के कर्ण-कुहरों से टकराकर अनन्त आकाश में विलीन हो गई। दुर्भाग्य से वह राजा के हृदय में नहीं पहुँच पाई। उस करुण दृश्य को देखकर

भी राजा का वज्र-हृदय नहीं पसीजा । उसने स्पष्ट शब्दों में सहायता देने से इनकार कर दिया । जन-मन भय से काँप उठा । लोगों की आँखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगी ।

इस समय आप शान्त नहीं रह सके । आवेश में उठ खड़े हुए और राजा से दो हाथ करने को तैयार हो गए । इस समय जनता का उन्हें सहयोग प्राप्त था । परिणाम यह हुआ कि राजा को सिंहासन से हटा दिया गया और उसके पुत्र को राजगद्दी पर बिठा दिया । परन्तु उन्हें इतने मात्र से सन्तोष नहीं हुआ । वे स्वयं भी कुछ करना चाहते थे । अतः वहाँ से घर पहुँचते ही उन्होंने अपनी जमीन और जेवर आदि बेचकर जनता के अन्न-संकट को दूर करने का प्रयत्न किया । उन की सेवा-निष्ठा एवं उनके सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप जनता की स्थिति में सुधार हुआ । लोग अपना कार्य करने एवं जीवन निर्वाह करने में समर्थ हो गए और महामारी भी समाप्त हो गई । चारों ओर शान्ति की सरिता प्रवहमान होने लगी । गाँव में फिर से चहल-पहल शुरू हो गई । परन्तु, राजा के दुर्व्यवहार से आपके मन में राज-दरबार के प्रति घृणा हो गयी थी । अतः आपने इस राज्य में काम नहीं करने की प्रतिज्ञा ग्रहण कर ली ।

### जीवन का नया मोड़

आपके ज्येष्ठ भ्राता उन दिनों इन्दौर में रहते थे । सरकारी कार्यकर्त्ता होने के कारण सारा परिवार सनातन—वैदिक धर्म में विश्वास रखता था । जैन धर्म से उनका कोई परिचय नहीं था । परन्तु उन दिनों इन्दौर में जैन सन्तों का चातुर्मास था और एक मुनिजी ने चार महीने का व्रत ग्रहण कर लिया । वे सिर्फ गर्म पानी ही लेते थे । आपके भ्राताजी उनकी सेवा में पहुँचे और जैन-मुनियों के त्याग-निष्ठ जीवन से प्रभावित हुए । उन्होंने एक दिन मुनिजी को आहार के लिए निमंत्रण दिया । क्योंकि वे जैन मुनियों के आचार-विचार से परिचित थे नहीं, उन्हें यह पता नहीं था कि जैन मुनि किसी का निमंत्रण स्वीकार नहीं करते और न अपने लिए तैयार किया गया विशेष भोजन ही स्वीकार करते हैं । अतः मुनिजी ने यही कहा कि यथा-समय जैसा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होगा, देखा जायगा । परन्तु भाग्य की बात है कि सन्त घूमते-घूमते उसी गली में आ पहुँचे और उनके घर में प्रविष्ट हो गये । जब आपके बड़े भाई ने मुनिजी को अपने घर में प्रविष्ट होते देखा तो उनका रोम-रोम हर्ष से विकसित हो उठा, उनका मन प्रसन्नता से नाच उठा । वे अपने आसन से उठे और सन्तों के सामने जा पहुँचे, उन्हें भक्ति-पूर्वक वन्दन किया । मुनिजी ने घर में प्रवेश किया और उनके चरण भोजनशाला—रसोईघर की ओर बढ़ने लगे । वहाँ पहुँच कर मुनिजी ने निर्दोष आहार ग्रहण किया और वहाँ से चल पड़े । परन्तु उनके वहाँ से चलते ही रसोई घर में केसर ही केसर बिखर गई । इस दृश्य को देखकर उनके मन में जैन-धर्म एवं सन्तों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो गई और सारा परिवार जैन बन गया ।

उन दिनों मेरे पिताजी किशनगढ़ रहते थे। जब वे अपने बड़े भाई से मिलने इन्दौर गए और वहाँ जाकर यह सुना की इन्होंने जैन धर्म स्वीकार कर लिया है, उन्हें आवेश आ गया और वे अपने बड़े भाई को बहुत कुछ खरी-खोटी सुनाने लगे। परन्तु बड़े भाई शान्त स्वभाव के थे। उन्होंने उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया। उन्हें जैन धर्म एवं सन्तों की विशेषता का परिचय दिया। परन्तु इससे उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे स्वयं चमत्कार देखना चाहते थे। अतः सन्तों के सम्पर्क में आते रहे और नवकार मंत्र की साधना करते रहे। उनके जीवन में यह एक विशेषता थी कि वे श्रद्धा में पक्के थे। उन्हें कोई भी व्यक्ति अपने पथ से, ध्येय से विचलित नहीं कर सकता था। वे जब साधना में संलग्न होते, तब और सब कुछ भूल जाते थे। यहाँ तक कि उन्हें अपने शरीर की भी चिन्ता नहीं रहती थी। एक दिन उन्होंने अपने रूई के गोदाम में आग लगा दी और स्वयं वहीं अपने ध्यान में मस्त हो गए। चारों ओर हल्ला मच गया परन्तु वे विचलित नहीं हुए। जब लोग वहाँ पहुँचे तो देखा कि आग उनके शरीर को छू ही नहीं पायी। उनके निकट में पाँच-पाँच गज तक की रूई सुरक्षित थी। इस घटना ने उनके जीवन को बदल दिया। अब वे जैन-धर्म पर पूरा विश्वास रखने लगे, श्रद्धा में दृढ़ता आ गई।

आप श्रद्धानिष्ठ एवं साहसी व्यक्ति थे। घोर संकट के समय भी घबराते नहीं थे। एक बार आप किसी कार्यवश ऊँट पर जा रहे थे। जंगल में चलते-चलते ऊँट विक्षिप्त हो गया और आपके प्राण संकट में पड़ गये। परन्तु इस समय भी आप घबराये नहीं। आपने साहस के साथ एक वृक्ष की टहनी को पकड़ा और उस पर चढ़ गए। ऊँट भी उस वृक्ष के चारों ओर चक्कर काटता रहा, परन्तु उनका कुछ नहीं बिगाड़ सका। उन्हें निरन्तर ६ दिन तक वृक्ष पर ही रहना पड़ा, क्योंकि भयानक जंगल होने के कारण उस रास्ते से लोगों का आवागमन कम ही था। फिर भी आपने नमस्कार मंत्र का स्मरण किया और साहसपूर्वक वृक्ष से नीचे उतरे और ऊँट पर काबू पाया। इस तरह आपको धर्म पर अटूट श्रद्धा—निष्ठा थी।

### परिस्थितियों का परिवर्तन

समय परिवर्तनशील है। वह सदा सर्वदा एक सा नहीं रहता। धूप-छाया की तरह परिवर्तित होता रहता है। कभी राजा को रंक बना देता है, तो कभी दर-दर की खाक छानने वाले भिखारी को छत्रपति बना देता है। मनुष्य सोचता कुछ है और परिस्थितियाँ कुछ और ही बना देती हैं। वह संभल ही नहीं पाता कि जीवन करवटें बदलने लगता है और नई-नई समस्याएँ उसके सम्मुख आ खड़ी होती हैं। पूज्य पिताश्री का समय आनन्द से बीत रहा था, परन्तु एकाएक परिस्थितियाँ बदलने लगीं और उन्हें अपने जीवन में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्लेग के समय घर की बहुत सी पूँजी जन-सेवा में खर्च हो गयी थी। घर का जेवर एवं जमीन आदि भी बेच दी गई थी। इससे उनकी भाभीजी काफी

नाराज रहती थीं और अपनी देवरानी (मेरी माताजी) पर ताने एवं व्यंग्य कसती रहती थीं। माताजी शान्त स्वभाव की थीं। वह सब कुछ सहन कर लेती थीं। वह पिताजी के उग्र स्वभाव से परिचित थीं, अतः उन्होंने उनके सामने इस बात का कभी जिक्र तक नहीं किया, परन्तु एक दिन एक पड़ोसिन ने मेरे पिताजी को सारी घटना कह सुनाई। यह सुनते ही पिताजी को आवेश आ गया और वे आवेश में ही घर से चल पड़े। उन्होंने घर से कोई वस्तु साथ नहीं ली। माताजी को साथ लेकर वे घर से खाली हाथ अहमदाबाद की ओर रवाना हो गये और किसी तरह अहमदाबाद आ पहुँचे।

अहमदाबाद में उनका किसी से कोई परिचय नहीं था और न पास में पैसा ही था कि कोई काम शुरू किया जाये। परन्तु अचानक उन्हें एक परिचित छीपा—कपड़े छापने वाला मिल गया। उससे चार आने उधार लिए और दाल-सेव का खोमचा लगाकर अपना काम शुरू किया। उसके बाद एक अस्पताल में कम्पाउण्डर का काम करने लगे। दिन में अस्पताल में काम करते, शाम को दाल-सेव बेचते और रात को खान (Mine) पर पहरा देते। इस तरह दिन-रात कठोर परिश्रम करके उन्होंने ११००० रुपए कमाए। यों अपने श्रम से वे अपने भाग्य को नया मोड़ देने लगे।

परन्तु, दुर्भाग्य ने अभी भी उनका पीछा नहीं छोड़ा। एक दिन पहरा देते समय असावधानी के कारण वे खान (Mine) में गिर पड़े और अपने हाथ की नंगी तलवार से उनके पैर में घाव पड़ गया। उन्हें अस्पताल में दाखिल कर दिया गया। उस समय माताजी गर्भवती थीं। अतः उन्हें किशनगढ़ भेज दिया और १०-१२ दिन बाद मेरा जन्म हुआ तथा जन्म के सात दिन बाद ही माताजी का देहान्त हो गया। अभी तक पिताजी के अपने एवं भाइयों के २३ पुत्रों के वियोग के आँसू सूख ही नहीं पाये थे कि उन पर यह वज्रपात हो गया। उस समय चार व्यक्ति उन्हें अहमदाबाद के अस्पताल से लेकर घर पर आए। वहाँ पर आते ही देखा तो घर का ताला टूटा हुआ था और दिन-रात खून-पसीना एक करके जो पैसा कमाया था, वह सब चोर ले गये। उनके पास कुछ भी नहीं बचा था। खैर, एक व्यक्ति से पचास रुपये उधार लेकर वे किशनगढ़ पहुँचे। परन्तु जब तक वे पहुँचे, तब तक माताजी का अन्तिम-संस्कार हो चुका था।

### सन्तोषमय जीवन

मेरी माताजी के देहान्त के बाद परिजनों ने उन्हें दूसरा विवाह करने के लिए बहुत जोर दिया। परन्तु वे अपने पुनर्विवाह करने के पक्ष में नहीं थे। वे अपना जीवन शान्ति एवं स्वतन्त्रता के साथ बिताना चाहते थे। अतः उन्होंने विवाह करने से इनकार कर दिया और सीधा-सादा एवं त्याग-निष्ठ जीवन बिताने लगे। उन्होंने दूध, दही, घी, तेल, मिष्टान्न, नमक और सब्जी आदि के त्याग कर दिये। आपने

सात वर्ष तक बिना नमक-मिर्च की उर्द की दाल और जौ की रूखी रोटी खाई । गृहस्थ-जीवन में भी आप त्याग-विराग के साथ रहने लगे । आपने रसनेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर ली थी ।

**अपूर्व साहस**

जब मैं पाँच वर्ष की थी, तब मेरे पिताजी एक दिन मुझे ननिहाल ले जा रहे थे । रास्ते में एक दिन के लिए मौसीजी के घर पर ठहरे । वहाँ से मेरा ननिहाल दो मील था । अतः रात को बहुत जल्दी उठकर चल पड़े । वे मुझे गोद में उठाए हुए तेजी से कदम बढ़ा रहे थे । पहाड़ी रास्ता था और पगडण्डी के रास्ते से चल रहे थे । दुर्भाग्यवश रास्ता भूल गये और घने जंगल में भटक गये । फिर भी वे साहस के साथ बढ़ रहे थे कि एक झाड़ी में से शेर निकल आये । शेरों को देखते ही उन्होंने मुझे घास के गट्ठर की तरह जमीन पर एक ओर फेंक दिया और म्यान में से तलवार निकालकर शेरों पर टूट पड़े । मेरे बदन में काफी चोट लगी, फिर भी मैं भय के कारण सहम गई और शेरों के साथ चलने वाले उनके संघर्ष को देखती रही । कई घंटों तक उनमें और शेरों में युद्ध चलता रहा । आखिर, उन्होंने साहस के साथ शेरों पर विजय प्राप्त की । एक दो शेर मर गए और एक दो अत्यधिक घायल होकर झाड़ियों में जा छिपे । पिताजी का शरीर भी काफी क्षत-विक्षत हो गया था । परन्तु उन्होंने उसकी कुछ भी परवाह नहीं की । मुझे गोद में उठाया और रास्ता खोजते हुए आगे बढ़ते चले । भाग्यवश सही रास्ता मिल गया और सूर्योदय से एक डेढ़ घंटे पूर्व ही वे मुझे लेकर मेरे ननिहाल आ पहुँचे । अभी तक घर का द्वार नहीं खुला था । अतः उसे खुलवाया, परन्तु घावों में से खून बह रहा था और वे पर्याप्त थक चुके थे । इसलिए वे न तो ठीक तरह से खड़े ही रह सके और न किसी से बात ही कर पाए । वे तो एकदम चारपाई पर गिर पड़े । उनकी यह दशा—हालत देखकर मेरे ननिहाल वाले काफी घबरा गये । फिर मैंने सारी घटना कह सुनाई । उन्होंने उनको नमीराबाद के अस्पताल में दाखिल करवाया, वहाँ कई महीने उपचार होता रहा और डॉक्टरों के सत्प्रयत्न से वे पूर्णतः स्वस्थ हो गये ।

**स्नेह और प्रतिज्ञा**

पिताजी का स्वास्थ्य ठीक होते ही, वे पुनः मुझे घर ले गये । क्योंकि मेरी बड़ी बहिन का विवाह था । विवाह खूब धूमधाम से हो रहा था । परन्तु पिताजी सात वर्ष से बिना नमक-मिर्च की उर्द की दाल और जौ की रूखी रोटी खा रहे थे । अतः उन्होंने सबके साथ भोजन नहीं किया । इससे सभी बरातियों ने तब तक भोजन भोजन करने से इनकार कर दिया, जब तक वे साथ बैठकर भोजन नहीं करते । कुछ देर तक मान-मनुहार होती रही । अन्त में सम्बन्धियों के हादिक स्नेह के सामने उन्हें झुकना पड़ा । उन्होंने सात वर्ष से चली आ रही परम्परा को तोड़कर उनके साथ भोजन किया । वस्तुतः हादिक स्नेह एवं सच्चा प्यार भी मनुष्य को विवश कर देता है ।

### निर्भयता

बहिन के विवाह-कार्य से निवृत्त होकर पिताजी एक निकट के सम्बन्धी के विवाह में शामिल होने जा रहे थे। मैं भी साथ थी। हम बैलगाड़ी में जा रहे थे। रास्ते में एक नदी पड़ती थी। उसे पार करते समय बैलों के पैर उखड़ गए और गाड़ीवान भी उन्हें नहीं संभाल पाया। इस संकट के समय भी वे घबराए नहीं। डरना तो उन्होंने सीखा ही नहीं था। अतः साहस के साथ गाड़ी से कूद पड़े और बैलों की लगाम पकड़कर गाड़ी को नदी से पार कर दिया। परन्तु, यह क्या? एक सफ़ेद रंग का सर्प उनके पैरों से चिपटा हुआ था। सर्प को देखते ही मैं चीख उठी परन्तु वे विचलित नहीं हुए और न डरे ही। उन्होंने निर्द्वन्द्व भाव से सर्प को हाथ से खींचा और पानी में फेंक दिया।

### अन्तिम वियोग

जब मैं साढ़े ग्यारह वर्ष की थी, तब मेरा विवाह कर दिया गया। दो वर्ष बड़े आनन्द में बीत गये। विवाह के बाद अभी तक मेरा गौना नहीं हुआ था। उसकी तैयारियाँ हो रही थीं कि अचानक उनके देहावसान का समाचार मिला। यह समाचार सुनकर पिताजी के मन पर बहुत आघात लगा। उन्होंने अपने जीवन में अनेक वियोग सहे, परन्तु यह सबसे कठिन आघात था और यों कहिए—गृहस्थ-जीवन में घटने वाला अन्तिम वियोग था। उनके मन में मेरे भविष्य की अत्यधिक चिन्ता एवं वेदना थी।

### साधना के पथ पर

उनकी मृत्यु के १० या ११ दिन बाद परम श्रद्धेया महासती श्री सरदार-कुंवर जी म० (मेरी गुरुणी जी म०) अजमेर में पधारों और मुझे मांगलिक सुनाने आईं। मेरी अन्तर्वेदना देखकर उनका हृदय भर आया। उन्होंने मुझे सान्त्वना दी और जीवन का सही मार्ग बताने का प्रयास किया। इसके एक वर्ष बाद जब मैं अपने मायके दादिया गाँव में थी, तब भी श्रद्धेय गुरुणी जी म० किशनगढ़ पधारों और पिताजी की आग्रह भरी विनती स्वीकार करके वे मुझे दर्शन देने दादिया गाँव पहुँचीं, और यहीं पर मेरे मन में श्रमण-साधना का बीज अंकुरित होने लगा।

इसके पश्चात् मेरे पिताजी मुझे लेकर नोखा गाँव (जोधपुर) में गुरुणी जी म० के दर्शनों के लिए पहुँचे और यहीं मेरे मन में दीक्षा ग्रहण करने का भाव जगा तथा मैंने अपना हृदय निश्चय पिताजी के सामने प्रकट कर दिया। उस समय नोखा गाँव से कुछ दूर कुचेरा में स्व० स्वामी जी श्री हजारीमल जी महाराज विराजमान थे। पूज्य पिताजी उनके चरणों में पहुँचे और उनके मन में दीक्षा लेने की भावना जागरित हो उठी। उसी समय मेरे ससुराल वालों को अजमेर तार दे दिया कि वह मेरे साथ दीक्षा ले रही है। बहुत प्रयत्न के बाद हम दोनों को दीक्षा स्वीकार करने की आज्ञा मिल गई।

वि० सं० १९६४ मगसिर कृष्णा ११ को प्रातः ८ बजे परम श्रद्धेय स्वामी जी श्री हजारीमलजी महाराज के कर-कमलों से मेरी और पिताजी की दीक्षा सम्पन्न हुई । मैं परम श्रद्धेया महासती श्री सरदारकुंवरजी महाराज की शिष्या बनी और पिताजी परम श्रद्धेय श्री हजारीमलजी महाराज के शिष्य बने ।

### साधना का प्रारम्भ

दीक्षा के समय आपकी आयु ५३ वर्ष की थी और अध्ययन बहुत गहरा नहीं था । परन्तु गृहस्थ जीवन से ही ध्यान एवं आत्म-चिन्तन की ओर आपका मन लगा रहता था । उसी भावना को विकसित करने से लिए आप प्रायः मौन रखते थे और ध्यान, जप एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहते थे । इसके साथ-साथ उन्होंने तप-साधना भी प्रारम्भ कर दी । वे सदा दिन भर में एक बार ही आहार करते थे और वह भी एक ही पात्र में खाते थे । उन्हें जो कुछ खाना होता, वह अपने एक पात्र में ही ले लेते थे । स्वाद पर, जिह्वा पर उनका पूरा अधिकार था । वे स्वाद के लिए नहीं, केवल जीवन-निर्वाह के लिए खाते थे ।

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भी आपको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, अनेक परिषद सहने पड़े । अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल समस्याएँ आपके सामने आईं । परन्तु आप सदा अपने विचारों पर, अपने साधना-पथ पर अडिग रहे । आप उनसे कभी घबराए नहीं, विचलित नहीं हुए । वे समस्याओं को दुःख का, पतन का कारण नहीं, बल्कि जीवन-विकास का कारण मानते थे । अतः शान्त भाव से उन्हें सुलझाते रहे और उन पर विजय पाने का प्रयत्न करते रहे ।

### स्थविर-वास—

कुछ वर्षों में आपकी शारीरिक शक्ति काफी क्षीण हो गई । फिर भी आप विहार करते रहे । जब तक पैरों में चलने की शक्ति रही, तब तक अपने परम श्रद्धेय गुरुदेव के साथ विचरण करते रहे । परन्तु जब पैरों में गति करने की शक्ति नहीं रही, चलते-चलते पैर लड़खड़ाने लगे, तब पूज्य गुरुदेव की आज्ञा से आप कुन्दन भवन, ब्यावर में स्थानापति हो गए । मुनि श्री भानुऋषि जी म० आपकी सेवा में रहे । मुनि श्री पाथर्डी परीक्षा बोर्ड से जैन सिद्धान्ताचार्य की परीक्षा की तैयारी कर रहे थे । परन्तु अध्ययन के साथ सेवा भी बहुत करते थे । मुनि श्री ने दो वर्ष तक तन मन से जो सेवा-शुश्रूषा की वह कभी भी विस्मृति के अधेरे कोने में नहीं धकेली जा सकती । मुनिश्री का उनके साथ पिता-पुत्र-सा स्नेह सम्बन्ध था । वह दृश्य आज भी मेरी आँखों के सामने घूमता रहता है ।

### दयालु हृदय

आप करीब १८ वर्ष ८ महीने श्रमण-साधना में संलग्न रहे । इस साधना-काल में आपके जीवन में अनेक घटनाएँ घटित हुईं, परन्तु आप सदा शान्तभाव से सहते रहे । आप में अपने कष्टों एवं दुःखों को सहने की हिम्मत थी । परन्तु वे दूसरों



का दुःख नहीं देख सकते थे । उनके अन्तर्मत्त में दया एवं करुणा का सागर ठाटें मारा करता था । स्वर्गवास के एक वर्ष पहले की बात है—आप एक दिन शौच के लिए बाहर पधारे और वहाँ चारे की कमी के कारण दुर्बल एवं भूखी गायों को देखकर आपका हृदय रो उठा और आँखों से अजस्र अश्रुधारा वह निकली । वे पर-वेदना को सहने में बहुत कमजोर थे । गायों की दयनीय स्थिति देखकर उन्होंने उस दिन से दूध-दही का त्याग कर दिया ।

आपका जीवन सादा और सरल था । आप हमेशा सादगी से रहना पसन्द करते थे । आप यथासंभव अल्प से अल्प मूल्य के वस्त्र ग्रहण करते थे और वह भी मर्यादा से कम ही रखते थे । सदियों के दिनों में आप टाट ओढ़कर रात बिता देते थे । आसन के लिए तो आप टाट का ही उपयोग करते थे । आपकी आवश्यकताएँ भी बहुत सीमित थीं ।

### समाधि-मरण

यह मैं ऊपर लिख चुकी हूँ कि वे अधिकतर ध्यान एवं जप-साधना में ही संलग्न रहते थे । रात के समय ३-४ घंटे निद्रा लेते थे, शेष समय ध्यान एवं जप में ही बीतता था और इसी कारण उन्हें अपना भविष्य भी स्पष्ट परिलक्षित होने लगा । आपने अपने महाप्रयाण के ६ महीने पूर्व ही अपने देह-त्याग के सम्बन्ध में बता दिया था । जब मेरी ज्येष्ठ गुरु बहिन परम श्रद्धेया महासती श्री ज्ञमकूकुँवर जी म० का संशारा चल रहा था तब भी आपने सबके सामने कहा कि मेरा जीवन भी अब चार महीने का शेष रहा है । यह सुनते ही निहालचन्दजी मोदी ने कहा कि—“महाराज आप ऐसा क्यों फरमा रहे हैं ? अभी तो श्रद्धेया सतीजी म० चलने की तैयारी कर रही हैं । अभी हमें आपके मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है ।” आपने अपने भविष्य की बात को दोहराते हुए दृढ़ स्वर में कहा कि—“आप मानें या न मानें, होगा ऐसा ही ।” उसके डेढ़ महीने बाद महासती श्री ज्ञमकूकुँवर जी म० का स्वर्गवास हो गया । मेरा अध्ययन चल रहा था और व्यावर संघ का आग्रह होने से हमने वहीं वर्षावास मान लिया । इससे पूज्य पिता श्री जी के दर्शन एवं सेवा का लाभ मिलता रहा । परन्तु उनका अन्तिम समय भी निकट आ गया । स्वर्गवास के तीन दिन पूर्व भी आपने हमें सजग कर दिया कि अब मैं सिर्फ तीन दिन का ही मेहमान हूँ । परन्तु हमने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया ।

आप अपने कार्य में सजग थे । अतः आपने अपने जीवन की आलोचना करके शुद्धि की और सबसे क्षमत्-क्षमापना की । स्वर्गवास के दिन करीब १२ बजे तक अपने भक्तों के घर जाकर उन्हें दर्शन देते रहे । सबसे शुद्ध हृदय से क्षमत्-क्षमापना करके हमारे स्थानक में भी दर्शन देने पधारे । जब मैंने उनसे कहा कि “आपके घुटनों में दर्द है, फिर आपने यहाँ आने का कष्ट क्यों किया ?” तब आपने

शान्त स्वर में कहा कि “जीवन में दर्द तो चलता ही रहता है ! जब तक आत्मा के साथ शरीर है, तब तक वेदनाएँ तो लगी ही रहती हैं ! और अपना सम्बन्ध तो सिर्फ आज का ही और है । कल तो केवल मेरी स्मृति मात्र ही रह जायेगी । इसलिए तुमसे भी क्षमता-क्षमापना करने आ गया ।”

उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा था । शरीर पर ऐसे कोई चिह्न दिखाई नहीं दे रहे थे कि जिससे ऐसी कल्पना की जा सकें कि ये महापुरुष हम सबको छोड़कर आज ही चले जायेंगे । उनके जाने के बाद हम कुन्दन भवन पढ़ने के लिए गईं । अध्ययन करने के बाद हम सदा कुछ देर तक महाराज श्री की सेवा में बैठती थीं । उस दिन भी सेवा में थीं । वहाँ से चलते समय मुनि श्री भानुऋषिजी म० से पूछा तो उन्होंने बताया कि कल रात को १२ बजे ध्यान करते समय हॉल कुछ क्षणों के लिये तेज प्रकाश से भर गया और उनके मुख से यह आवाज सुनाई दी कि “पैगाम आ गया है ।”

हम चार बजे कुन्दन भवन से अपने स्थानक में आईं । सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् समाचार मँगवाए तो सुख-शान्ति के ही समाचार मिले । कोई चिन्ता जैसी बात नहीं थी । परन्तु रात को चार-पाँच बजे कुन्दन भवन के बाहर हलचल देखकर मन में कुछ सन्देह हुआ और पूछने पर पता लगा कि परम श्रद्धेय पूज्य-पिताश्री का स्वर्गवास हो गया । यह सुनते ही मन रो उठा और अपने अन्तिम समय के लिए उनके द्वारा कहे गये शब्द याद आने लगे ।

इस तरह वह महासाधक वि० सं० २०१३ श्रावण कृष्णा दशमी की रात को अनन्त की गोद में सदा के लिए सो गया । आज उनका भौतिक शरीर हमारे सम्मुख नहीं है परन्तु उनकी साधना, सरलता, सौजन्य एवं दयालुता आज भी हमारे सामने है । उनके गुण आज भी जीवित हैं । अतः वे मरे नहीं, बल्कि मरकर भी जीवित हैं और सदा-सर्वदा जीवित रहेंगे ।

—जैन साध्वी  
उमराव कुंवर  
'अर्चना'

## जैन-योग : एक परिशीलन

[जैन योग की परिचयात्मक पृष्ठभूमि]

□ उपाध्याय श्री अमर मुनि

### योग का महत्त्व

विश्व की प्रत्येक आत्मा अनन्त एवं अपरिमित शक्तियों का प्रकाश-पुञ्ज है। उसमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख-शान्ति और अनन्त शक्ति का अस्तित्व अन्तर्निहित है। समस्त शक्तियों का महास्रोत उसके अन्दर ही निहित है। वह अपने आप में ज्ञानवान् है, ज्योतिर्मय है, शक्ति-सम्पन्न है और महान् है। वह स्वयं ही अपना विकासक है और स्वयं ही विनाशक (Destroyer) है। इतनी विराट् शक्ति का अधिपति होने पर भी वह अनेक बार इतस्ततः भटक जाता है, पथभ्रष्ट हो जाता है, संसार-सागर में गोते खाता रहता है, अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता है, अपने साध्या को सिद्ध नहीं कर पाता है। ऐसा क्यों होता है? इसका क्या कारण है? वह अपनी शक्तियों को क्यों नहीं प्रकट कर पाता है?

यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जब हम इसकी गहराई में उतरते हैं और जीवन के हर पहलू का सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में योग—स्थिरता का अभाव ही मनुष्य की असफलता का मूल कारण है। मानव के मन में, विचारों में एवं जीवन में एकाग्रता, स्थिरता एवं तन्मयता नहीं होने के कारण मनुष्य को अपने आप पर, अपनी शक्तियों पर पूरा भरोसा नहीं होता, पूरा विश्वास नहीं होता। उसके मन में, उसकी बुद्धि में सदा-सर्वदा सन्देह बना रहता है। वह निश्चित विश्वास और एकनिष्ठा के साथ अपने पथ पर बढ़ नहीं पाता। यही कारण है कि वह इतस्ततः भटक जाता है, ठोकरें खाता फिरता है और पतन के महागर्त में भी जा गिरता है। उसकी शक्तियों का प्रकाश भी धूमिल पड़ जाता है। अतः अनन्त शक्तियों को अनावृत्त करने, आत्म-ज्योति को ज्योतित करने तथा अपने लक्ष्य एवं साध्य तक पहुँचने के लिए मन, वचन और कर्म में एकरूपता, एकाग्रता, तन्मयता एवं स्थिरता लाना आवश्यक है। आत्म-चिन्तन में एकाग्रता एवं स्थिरता लाने का नाम ही 'योग' है।'

1. The word 'Yoga' literally means 'union'.

—Indian Philosophy, (Dr. C. D. Sharam)

आत्म-विकास के लिए योग एक प्रमुख साधना है। भारतीय संस्कृति के समस्त विचारकों, तत्त्व-चिन्तकों एवं मननशील ऋषि-मुनियों ने योग-साधना के महत्त्व को स्वीकार किया है। योग के सभी पहलुओं पर गहराई से सोचा-विचारा है, चिन्तन-मनन किया है। प्रस्तुत में हम भी इस बात पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं कि योग का वास्तविक अर्थ क्या रहा है? योग-साधना एवं उसकी परम्परा क्या है? योग के सम्बन्ध में भारतीय विचारक क्या सोचते हैं? और उनका कैसा योगदान रहा है?

### ‘योग’ का अर्थ

‘योग’ शब्द ‘युज्’ धातु और ‘घञ्’ प्रत्यय से बना है। संस्कृत व्याकरण में ‘युज्’ धातु दो हैं। एक का अर्थ है—जोड़ना, संयोजित करना,<sup>१</sup> और दूसरी का अर्थ है—समाधि, मनःस्थिरता।<sup>२</sup> भारतीय योग-दर्शन में ‘योग’ शब्द का उक्त दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है। कुछ विचारकों ने योग का ‘जोड़ने’ अर्थ में प्रयोग किया है तो कुछ चिन्तकों ने उसका ‘समाधि’ अर्थ में भी प्रयोग किया है। किस आचार्य ने उसका किस अर्थ में प्रयोग किया है, यह उसकी परिभाषा एवं व्याख्या से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने ‘चित्त-वृत्ति के निरोध’ को योग कहा है।<sup>३</sup> बौद्ध विचारकों ने योग का अर्थ ‘समाधि’ किया है। आचार्य हरिभद्र ने अपने योग विषयक सभी ग्रन्थों में उन सब साधनों को योग कहा है, जिनसे आत्मा की विशुद्धि होती है, कर्म-मल का नाश होता है और उसका मोक्ष के साथ संयोग होता है।<sup>४</sup>

उपाध्याय यशोविजयजी ने भी योग की यही व्याख्या की है।<sup>५</sup> श्री यशोविजयजी ने कहीं-कहीं पंच-समिति और त्रि-गुप्ति को भी श्रेष्ठ योग कहा है। आचार्य हरिभद्र के विचार से योग का अर्थ है—धर्म-व्यापार। आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को संयत रखने वाला धर्म-व्यापार ही श्रेष्ठ योग है।<sup>६</sup> क्योंकि, यह धर्म-व्यापार या आध्यात्मिक साधना आत्मा को मोक्ष के साथ संयोजित करती है।

### योग के अर्थ में—एकरूपता

वैदिक विचारधारा में ‘योग’ शब्द का समाधि अर्थ में प्रयोग हुआ और जैन

- |  |                                |
|--|--------------------------------|
| १ युजुषी योगे, गण ७,                         | —हेमचन्द्र धातुपाठ।            |
| २ युजि च समाधौ, गण ४,                        | —हेमचन्द्र धातुपाठ।            |
| ३ योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।                    | —पातंजल योगसूत्र पा० १, सू० २. |
| ४ मोक्षेण जोयणाओ जोगो।                       | —योग शिक्षा, गाथा १.           |
| ५ मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।    | —द्वान्त्रिशिका                |
| ६ अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः। |                                |
| मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥   | —योगविन्दु, ३१                 |

परम्परा में इसका संयोग—जोड़ने अर्थ में प्रयोग हुआ है। गणित-शास्त्र में भी योग का अर्थ—जोड़ना, मिलाना किया है। मनोविज्ञान (Psychology) में 'योग' शब्द के स्थान में 'अवधान' एवं ध्यान (Attention) शब्द का प्रयोग हुआ है। मन की वृत्तियों को एकाग्र करने के लिए मनोवैज्ञानिकों (Psychologists) ने अवधान या ध्यान के महत्त्व को स्वीकार किया है। और ध्यान के लिए यह आवश्यक है कि मन को किसी वस्तु के साथ जोड़ा जाए। क्योंकि मन को एकाग्र बनाने की क्रिया का नाम ध्यान है और वह तभी हो सकता है, जब कि मन किसी एक पदार्थ के साथ सम्बद्ध हो जाए। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को अपने चिन्तन के अतिरिक्त पता ही नहीं चलेगा कि उसके चारों ओर क्या हो रहा है। इस प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिक भाषा में 'सक्रिय ध्यान' (Active Attention) कहते हैं।

जैन और वैदिक परम्परा के अर्थ में भिन्नता ही नहीं, एकरूपता भी निहित है। जब हम 'चित्त-वृत्ति निरोध' और 'मोक्ष-प्रापक धर्म-व्यापार' शब्दों के अर्थ का स्थूल दृष्टि से अध्ययन करते हैं तो दोनों अर्थों में भिन्नता परिलक्षित होती है, दोनों में पर्याप्त दूरी दिखाई देती है। परन्तु जब हम दोनों परम्पराओं का सूक्ष्म दृष्टि से अनुशीलन-परिशीलन करते हैं, तो उनमें भिन्नता की जगह एकरूपता का भी दर्शन होता है।

'चित्त-वृत्ति का निरोध करना' एक क्रिया है, साधना है। इसका अर्थ है—चित्त की वृत्तियों को रोकना। परन्तु, यह एकान्ततः निषेधपरक अर्थ को ही अभिव्यक्त नहीं करती है, बल्कि विधेयात्मक अर्थ को भी अभिव्यक्त करती है। रोकने के साथ करने का भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। अतः 'चित्त-वृत्तिनिरोध' का वास्तविक अर्थ यह है कि साधक अपनी संसाराभिमुख चित्त-वृत्तियों को रोककर अपनी साधना को साध्य-सिद्धि या मोक्ष के अनुकूल बनाए। अपनी मनोवृत्तियों को सांसारिक प्रपंचों एवं विषय-वासनाओं से हटाकर मोक्षाभिमुखी बनाए। मोक्ष-प्रापक धर्म-व्यापार से भी यही अर्थ ध्वनित होता है। जैन विचारक मोक्ष के साथ सम्बन्ध कराने वाली क्रिया को, साधना को ही 'योग' कहते हैं।

जैन आगम में 'संवर' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह जैनों का एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। जैन विचारकों के अतिरिक्त अन्य किसी भी भारतीय विचारक ने इस शब्द का प्रयोग नहीं किया है। 'संवर' शब्द का आध्यात्मिक साधना के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। आस्रव का निरोध करने का नाम संवर है।<sup>१</sup>

महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र में चित्त-वृत्ति के निरोध को योग कहा है। इस तरह संवर और योग—दोनों के अर्थ में 'निरोध' शब्द का प्रयोग हुआ है। एक में

१ (क) निरुद्धासवे (संवरो),  
(ख) आस्रव-निरोधः संवरः

—उत्तराध्ययन, २६, ११

—तत्त्वार्थ सूत्र ६, १

निरोध के विशेषण के रूप में आस्रव का उल्लेख किया गया है और दूसरे में चित्त-वृत्ति का ।

जैनागम में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को आस्रव कहा है।<sup>१</sup> इसमें भी मिथ्यात्व, कषाय एवं योग को प्रमुख माना है। अविरति और प्रमाद—कषाय के ही विस्तार मात्र हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि जैनागम में उल्लिखित आस्रव में जो 'योग' शब्द आता है, वह योग-परम्परा-सम्मत चित्त-वृत्ति के स्थान में है। जैनागम में मन, वचन और कायिक प्रवृत्ति को योग कहा है। इसमें मानसिक प्रवृत्ति तीनों का केन्द्र है। क्योंकि कर्म का बन्ध वचन और काया की प्रवृत्ति से नहीं, बल्कि परिणामों से होता है।<sup>२</sup> इस तरह योग-सूत्र में जिसे चित्त-वृत्ति कहा है, जैन परम्परा में उसे आस्रव रूप योग कहा है।

जैन परम्परा में योग-आस्रव दो प्रकार का माना है—१. सकषाय योग-आस्रव, और २. अकषाय योग-आस्रव। योग-सूत्र में चित्त-वृत्ति के भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो भेद किये हैं। जैनागम में कषाय के चार भेद किये हैं—क्रोध, मान, माया, लोभ और योग-सूत्र में क्लिष्ट चित्त-वृत्ति को भी चार प्रकार का माना है—अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। जैन परम्परा सर्वप्रथम सकषाय योग के निरोध को और उसके पश्चात् अकषाय योग के निरोध को स्वीकार करती है। यही बात योग-सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के विषय में कही गई है। महर्षि पतंजलि भी पहले क्लिष्ट चित्त-वृत्ति का निरोध करके फिर क्रमशः अक्लिष्ट चित्त-वृत्ति के निरोध की बात कहते हैं।

इस तरह जब हम जैन परम्परा और योगसूत्र में उल्लिखित योग के अर्थ पर विचार करते हैं, तो दोनों में भिन्नता नहीं, एकरूपता परिलक्षित होती है। अतः समग्र भारतीय चिन्तन की दृष्टि से योग का यह अर्थ समझना चाहिए—समस्त आत्मशक्तियों का पूर्ण विकास कराने वाली क्रिया, सब आत्म-गुणों को अनावृत्त करने वाली आत्माभिमुखी साधना। एक पाश्चात्य विचारक ने भी शिक्षा की यही व्याख्या की है।<sup>३</sup>

### योग की जन्मभूमि

योग एक आध्यात्मिक साधना है। आत्म-विकास की एक प्रक्रिया है। और साधना का द्वार सबके लिए खुला है। दुनियाँ का प्रत्येक प्राणी अपना आत्म-विकास

१ पंच आस्रवद्वारा पणत्ता, तं जहा—मिच्छतं, अविरई, पमायो, कसाया, जोगा ।

—समवायांग, समवाय ५ ।

२ परिणामे बन्धः ।

३ Education is the harmonious development of all our faculties.

—Lord Avebrine.

करने के लिये पूर्णतः स्वतन्त्र है। आध्यात्मिक विकास, आत्म-साधना एवं आत्म-चिन्तन पर किसी देश, जाति, वर्ण, वर्ग या धर्म-विशेष का एकाधिपत्य (Monopoly) नहीं है। इसका कारण यह है कि भारतीय ऋषि-मुनियों एवं विचारकों के चिन्तन-मनन, तथा साहित्य का आदर्श एक रहा है। तत्त्वज्ञान, आचार, इतिहास, काव्य, नाटक, रूपक आदि साहित्य का कोई-सा भाग लें, उसका अन्तिम आदर्श मोक्ष रहा है। वैदिक साहित्य में वेदों का अधिकांश भाग प्राकृतिक दृश्यों, देवों की स्तुतियों तथा क्रिया-काण्डों के वर्णन ने घेर रखा है। परन्तु यह वर्णन वेद का बाह्य शरीर मात्र है। उसकी आत्मा इससे भिन्न है, वह है परमात्म-चिन्तन। उपनिषदों का भव्य भवन तो ब्रह्म-चिन्तन की आधार-शिला पर ही स्थित है। और जैन आगमों में आत्मा का साध्य 'मोक्ष' माना है। समस्त आगमों का निचोड़ एवं सार 'मुक्ति' है और उसमें मुक्ति-मार्ग का ही विस्तार से वर्णन किया है।

इसके अतिरिक्त तत्त्वज्ञान सम्बन्धी सूत्र एवं दर्शन-ग्रन्थों तथा आचार-विषयक ग्रन्थों को देखें, तो उनमें साध्य रूप से मोक्ष का ही उल्लेख मिलेगा।<sup>१</sup> रामायण और महाभारत में भी उसके मुख्य पात्रों का महत्त्व इसलिए नहीं है कि वे राजा या राजकुमार थे, परन्तु उसका कारण यह है कि वे जीवन के अन्तिम समय में संन्यास या तप साधना के द्वारा मोक्ष-अनुष्ठान में संलग्न रहे। इसके अतिरिक्त कालिदास जैसा महान् कवि भी अपने प्रमुख पात्रों का महत्त्व मुक्ति की ओर झुकने में देखता है।<sup>२</sup> शब्द शास्त्र में शब्द शुद्धि को तत्त्वज्ञान का द्वार मानकर उसका अन्तिम ध्येय परम श्रेय ही माना है।<sup>३</sup> और तो क्या? काम-शास्त्र जैसे काम-विषयक ग्रन्थ का

१ (क) धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायानां पदार्थानां साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् । —वैशेषिक दर्शन, १, ४

(ख) प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभासच्छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् ।

—न्यायदर्शन, १, १

(ग) अथ त्रि-विधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्त-पुरुषार्थः ।

—सांख्यदर्शन, १

(च) अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ।

वेदान्त दर्शन, ४, ४, २२

(छ) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्याणि मोक्षमार्गः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र, १, १

२ शाकुन्तल नाटक, अंक ४, कण्वोक्ति; रघुवंश १, ५; ३, ७०

३ द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

व्याकरणात्पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति ।

अर्थात्तत्त्व-ज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥

—सिद्धहेमशब्दानुशासनम् १, १, २

अन्तिम ध्येय भी मोक्ष माना है ।<sup>१</sup> इस तरह समग्र भारतीय साहित्य का चरम आदर्श मोक्ष रहा है और उसकी गति चतुर्थ पुरुषार्थ की ओर ही रही है ।

इस तरह सम्पूर्ण वाङ्मय का एक ही आदर्श रहा है । और भारतीय जनता की अभिरुचि भी मोक्ष या ब्रह्म प्राप्ति की ओर रही है । इससे यह स्पष्ट होता है कि योग एवं अध्यात्म-साधना की परम्परा भारत में युग-युगान्तर से अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है । यही कारण है कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह लिखा है कि भारतीय सभ्यता अरण्य—जंगल में अवतरित हुई है ।<sup>२</sup> और यह भी सत्य । क्योंकि भारत का कोई भी पहाड़, वन एवं गुफा योग एवं आध्यात्मिक साधना से शून्य नहीं मिलेगी । इससे यह कहना उपयुक्त ही है कि योग को आविष्कृत एवं विकसित करने का श्रेय भारत को ही है । पाश्चात्य विद्वान भी इस बात को स्वीकार करते हैं ।<sup>३</sup>

### ज्ञान और योग

दुनियाँ की कोई भी क्रिया क्यों न हो, उसे करने के लिए सबसे पहले ज्ञान आवश्यक है । बिना ज्ञान के कोई भी क्रिया सफल नहीं हो सकती । आत्म-साधना के लिए भी क्रिया के पूर्व ज्ञान का होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य माना है । जैनागम में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि पहले ज्ञान फिर क्रिया ।<sup>४</sup> ज्ञानाभाव में कोई भी क्रिया, कोई भी साधना—भले ही वह कितनी ही उत्कृष्ट, श्रेष्ठ एवं कठिन क्यों न हो, साध्य को सिद्ध करने में सहायक नहीं हो सकती । अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है ।

परन्तु ज्ञान का महत्त्व भी साधना एवं आचरण में है । ज्ञान का महत्त्व तभी समझा जाता है, जबकि उसके अनुरूप आचरण किया जाए । ज्ञान-पूर्वक किया गया आचरण ही योग है, साधना है । अतः ज्ञान योग-साधना का कारण है । परन्तु योग-साधना के पूर्व ज्ञान इतना स्पष्ट नहीं रहता, जितना साधना के बाद होता है । तद-नुरूप क्रिया एवं साधना के होने से चिन्तन में विकास होता है, साधना के नए अनुभव होते हैं । इससे ज्ञान में निखार आता है । अतः योग-साधना के पश्चात् होने वाला अनुभवात्मक ज्ञान स्पष्ट एवं परिपक्व होता है कि उसमें भ्रुंघलापन नहीं रहता या कम रहता है । अतः गीता की भाषा में सच्चा ज्ञानी वही है, जो योगी है ।<sup>५</sup>

१ स्थविरे धर्म मोक्षं च ।

—काम-सूत्र (ब्रम्बई संस्करण) अ० २, पृ० ११

२ Thus in India it was in the forests that our civilisation had its birth.

—Sadhna, by Tagore, p. 4.

३ This concentration of thought (एकाग्रता) or onepointedness, as the Hindus called it, is something to us almost unknown.

—Sacred Books of the East, by Max Muller, Vol. 1, p. 3.

४ पढमं नाणं तओ दया ।

—दशवैकालिक ४, १०

५ यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

—गीता ५, ५



जिसमें योग या एकाग्रता का अभाव है, वह ज्ञानी नहीं, ज्ञान-बन्धु—ज्ञानी का भाई या सम्बन्धी है ।<sup>१</sup>

जैन आगम में भी यह बताया है कि सम्यक् साधना—चारित्र के द्वारा साधक घातिकर्म का क्षय करके पूर्ण ज्ञान—केवलज्ञान को प्राप्त करता है । बिना चारित्र के उसके ज्ञान में पूर्णता नहीं आ पाती । अतः साधना के लिए ज्ञान आवश्यक है और ज्ञान के विकास के लिए साधना । ज्ञान और योग या क्रिया की संयुक्त साधना से ही साध्य सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं है ।<sup>२</sup>

### व्यावहारिक और पारमार्थिक योग

योग एक साधना है । उसके दो रूप हैं—१. बाह्य और २. आभ्यन्तर । एकाग्रता—यह उसका बाह्य रूप है और अहंभाव, ममत्व आदि मनोविकारों का न होना उसका आभ्यन्तर रूप है । एकाग्रता योग का शरीर है, तो अहंभाव एवं ममत्व का परित्याग उसकी आत्मा है । क्योंकि अहंभाव आदि मनोविकारों का परित्याग किए बिना मन, वचन एवं काय योग में स्थिरता आ नहीं सकती और मन, वचन तथा कर्म में एकरूपता एवं समता का विकास नहीं हो सकता । योगों की स्थिरता, एकरूपता हुए बिना तथा समभाव के आए बिना योग-साधना हो नहीं सकती । अतः योग-साधना के लिए मनोविकारों का परित्याग आवश्यक है ।

जिस साधना में एकाग्रता तो है, परन्तु अहंत्व-ममत्व का त्याग नहीं है, वह केवल व्यावहारिक या द्रव्य-साधना है । पारमार्थिक या भावयोग-साधना वह है, जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग कर दिया गया है । अहंत्व-ममत्व भाव का त्यागी आत्मा किसी भी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो—भले ही वह स्थूल दृष्टि वाले व्यक्तियों को बाह्य प्रवृत्ति परिलक्षित होती हो, वह पारमार्थिक योगी कहलाता है । इसके विपरीत स्थूल दृष्टि से देखने वाले व्यक्ति जिसे आध्यात्मिक साधना समझते हैं, उसमें प्रवृत्त व्यक्ति अहंत्व-ममत्व में रमण करता है, तो उसकी वह योग-साधना केवल द्रव्य-साधना है, बाह्य योग है । उससे उसका साध्य सिद्ध नहीं हो सकता । अतः विचारकों ने अहंत्व-ममत्व भाव से रहित समत्व-भाव की साधना को ही सच्चा योग कहा है ।<sup>३</sup>

१ व्याचष्टे यः पठति च शास्त्रं भोगाय शिल्पिवत् ।

यतते न त्वनुष्ठाने ज्ञानबन्धुः स उच्यते ॥ —योगवासिष्ठ, सर्ग २१.

२ (क) ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः ।

(ख) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।

—तत्त्वार्थ सूत्र, १, १.

३ योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय !

सिद्ध्यसिद्ध्योः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

—गीता, २, ४८

### योग-परम्पराएँ

विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए दो बातों की आवश्यकता पड़ती है—एक पदार्थ-विषयक ज्ञान और दूसरी क्रिया। ज्ञान और क्रिया के सुमेल के बिना दुनियाँ का कोई भी कार्य पूरा नहीं किया जा सकता—भले ही वह लौकिक कार्य हो या पारलौकिक, सांसारिक हो या आध्यात्मिक। यदि किसी व्यक्ति को एक मकान बनाना है, तो मकान तैयार करने के पूर्व उसे उसके स्वरूप, उसमें लगने वाली सामग्री और उसमें काम आने वाली सामग्री और उसमें काम आने वाले साधनों एवं उस साधन-सामग्री के उपयोग करने के ढंग का ज्ञान करना आवश्यक है। तत्सम्बन्धी पूरी जानकारी करने के बाद उसके अनुरूप क्रिया की जाती है, परिश्रम किया जाता है। ठीक इसी प्रकार आध्यात्मिक साधना के द्वारा आत्मा को कर्मबन्धन से पूर्णतया मुक्त करने के अभिलाषी साधक के लिए भी यह आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम अत्मा के साथ कर्मों के बन्धन के कारण, बन्ध को रोकने तथा आबद्ध कर्मों को तोड़ने के साधनों का सम्यक् बोध प्राप्त करे। उसके पश्चात् वह तदनुसार क्रिया करे, उस ज्ञान को आचरण का रूप दे। इस तरह ज्ञान और क्रिया के सुमेल से साध्य की सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं।

योग साधना भी एक क्रिया है। इस साधना में प्रवृत्त होने, संलग्न होने के पूर्व साधक आत्मा, योग, साधना आदि आध्यात्मिक एवं तात्त्विक विषयों का ज्ञान प्राप्त करता है। वह योग के हर पहलू पर गहराई से सोचता-विचारता है। परन्तु चिन्तन का एक रूप न होने के कारण—योग एवं उसके फलस्वरूप प्राप्त होने वाले मोक्ष में एकरूपता होने पर भी, उनके द्वारा प्ररूपित योग एवं मुक्ति के स्वरूप में भिन्नता परिलक्षित होती है। क्योंकि, वस्तु अनेक पर्यायों से युक्त है और उसका चिन्तन करने वाले साधक उसके किसी पर्याय-विशेष को लेकर उस पर चिन्तन करते हैं, अतः उनके चिन्तन में अन्तर रहना स्वाभाविक है। इसी विचार-विभिन्नता के कारण योग-साधना भी विभिन्न धाराओं में प्रवहमान दिखाई देती है।

साधना का मूल केन्द्र आत्मा है। अतः योग के चिन्तन का मुख्य विषय भी आत्मा है। और आत्म-स्वरूप के सम्बन्ध में भी सभी भारतीय विचारक एवं दार्शनिक एकमत नहीं हैं। आत्मा को जड़ से भिन्न एक स्वतन्त्र द्रव्य मानने वाले विचारक भी दो भागों में विभक्त हैं। कुछ विचारक एकात्मवादी हैं और कुछ अनेकात्मवादी हैं। इसके अतिरिक्त व्यापकत्व-अव्यापकत्व, परिणामित्व-अपरिणामित्व, क्षणिकत्व-नित्यत्व आदि के अनेक विचार-भेद रहे हुए हैं। परन्तु, यदि इन अवान्तर भेदों को एक तरफ भी रख दें, तो मुख्य दो भेद रह जाते हैं—१. एकात्मवादी और २. अनेकात्मवादी। इस आधार पर योग-साधना भी दो परम्पराओं में विभक्त हो जाती है। कुछ उपनिषद्,<sup>१</sup> योगवासिष्ठ, हठयोग-प्रदीपिका आदि योग-विषयक ग्रन्थ

१ ब्रह्मविद्या, क्षुरिका, चूलिका, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृतबिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजो-बिन्दु, शिखा, योगतत्त्व, हंस आदि।

एकात्मवाद को लक्ष्य में रखकर लिखे गये हैं और महाभारत, योग-प्रकरण, योग-सूत्र, तथा जैन और बौद्ध योग-शास्त्र अनेकात्मवाद के आधार पर लिपि-बद्ध किये गये हैं। इस तरह योग-परम्परा दो धाराओं में प्रवहमान रही है।

यदि हम दार्शनिक दृष्टि से सोचते हैं तो भारतीय-संस्कृति तीन धाराओं में प्रवहमान रही है—१. वैदिक, २. जैन और ३. बौद्ध। इस अपेक्षा से योग-साधना या योग-साहित्य की भी तीन परम्पराएँ मानी जाती हैं—१. वैदिक योग-परम्परा, २. जैन योग-परम्परा, और ३. बौद्ध योग-परम्परा। तीनों परम्पराओं का अपना स्वतन्त्र चिन्तन है और मौलिक विचार है। सबने अपने दृष्टिकोण से योग पर सोचा-विचारा एवं लिखा है। फिर भी तीनों परम्पराओं के विचारों में भिन्नता के साथ बहुत कुछ साम्य भी है। आगे की पंक्तियों में हम इस पर क्रमशः विचार करेंगे।

### वैदिक योग और साहित्य

वैदिक परम्परा में वेद मुख्य है। उनमें प्राचीनतम ग्रन्थ 'ऋग्वेद' है। उसका अधिकांश भाग आधिभौतिक एवं आधिदैविक वर्णन से भरा पड़ा है। वस्तुतः वेदों में आध्यात्मिक वर्णन बहुत कम देखने को मिलता है। ऋग्वेद में 'योग' शब्द अनेक स्थानों पर आया है, परन्तु सर्वत्र उसका अर्थ—जोड़ना, मिलाना, संयोग करना इतना ही है; ध्यान एवं समाधि अर्थ नहीं है। इतना ही नहीं, उसके बाद योग विषयक ग्रन्थों में योग के अर्थ में प्रयुक्त, ध्यान, वैराग्य, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि अर्थ में योग शब्द का उल्लेख नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त अतिप्राचीन उपनिषदों में भी 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग नहीं हुआ है। कठोपनिषद्, श्वेताश्वतर उपनिषद् जैसे उत्तरकालीन उपनिषदों में 'योग' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग हुआ है।<sup>२</sup> फिर भी इतना व्यापक रूप से नहीं हुआ, जितना कि 'तप' शब्द का हुआ है। ठेठ ऋग्वेद से लेकर उपनिषद् काल तक के साहित्य का अनुशीलन-परिशीलन करने से

१ ऋग्वेद १, ५, ३; १, १८, ७; १, ३४, ६; २, ८, १; ६, ५८, ३; और १०, १६६, ५.

२ (क) योग आत्मा। —तैत्तिरीय उप०, २, ४.

(ख) तं योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम्।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्यथी ॥

—कठोपनिषद्, २, ६, ११.

(ग) अध्यात्म-योगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्ष-शोकौ जहाति।

—कठोपनिषद् १, २, १२.

(घ) तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।

—श्वेताश्वतर, उपनिषद् ६, १३.

यह स्पष्ट हो जाता है कि 'योग' शब्द की अपेक्षा 'तप' शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में अधिक व्यापक रूप से प्रयोग हुआ है ।

उपनिषदों में जहाँ-तहाँ 'योग' शब्द आध्यात्मिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, तो वह सांख्य-परम्परा या उसके समान किसी अन्य परम्परा के साथ प्रयुक्त हुआ है । फिर भी इतना तो कहना होगा कि उपनिषद्-काल में योग शब्द का आध्यात्मिक अर्थ में प्रयोग होने लगा था । यही कारण है कि प्राचीन उपनिषदों में भी योग, ध्यान आदि समाधि के अर्थ में पाये जाते हैं ।<sup>१</sup> अनेक उपनिषदों में योग का विस्तृत वर्णन मिलता है । उनमें योग-शास्त्र की तरह योग-साधना का सांगोपांग वर्णन मिलता है ।<sup>२</sup>

वेदों के बाद उपनिषद्-काल में आध्यात्मिक चिन्तन को महत्त्व दिया गया । उपनिषदों में जगत्, जीव और परमात्मा सम्बन्धी बिखरे हुए विचारों को विभिन्न ऋषियों ने सूत्रों में ग्रथित किया । इस तरह आध्यात्मिक चिन्तन को दर्शन का रूप मिला । क्योंकि समस्त दार्शनिकों का अन्तिम ध्येय मोक्ष रहा है । यह हम पहले ही बता चुके हैं कि मुक्ति के लिए कोरे ज्ञान की ही नहीं, साथ में क्रिया—साधना की भी आवश्यकता रहती है । इसलिए सभी दार्शनिकों ने साधना रूप से योग की उपयोगिता को स्वीकार किया है । महर्षि गौतम के न्याय दर्शन में मुख्य रूप से प्रमाण-विषयक विचार हैं, उसमें भी योग-साधना को स्थान दिया है ।<sup>३</sup> महर्षि कणाद ने भी वैशेषिक दर्शन में यम, नियम, शौचादि योगांगों का वर्णन किया है ।<sup>४</sup> सांख्य दर्शन में भी योग विषयक अनेक सूत्र हैं ।<sup>५</sup> महर्षि बादरायण ने ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन का नाम 'साधन' रखा है और उसमें आसन, ध्यान आदि योगांगों का वर्णन किया है ।<sup>६</sup> योग दर्शन तो प्रमुख रूप से योग विषयक ग्रन्थ है ही, अतः उसमें योग-

१ तैत्तिरीय उप०, २, ४; कठोपनिषद् २, ६, ११; श्वेताश्वतर उप० २, ११; ६, ३; १, १४; छान्दोग्य उप० ७, ६, १; ७, ६, २; ७, ७, १; ७, २६, १, कोषीतकि, ३, २; ३, ३; ३, ४ ।

२ ब्रह्मविद्योपनिषद्, क्षुरिकोपनिषद्, चूलिकांषनिषद्, नादबिन्दु, ब्रह्मबिन्दु, अमृत-बिन्दु, ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु; Philosophy of Upanishads.

३ समाधि-विशेषाभ्यासात् । अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः । तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।

—न्याय-दर्शन, ४, २, ३८; ४, २, ४२; ४, २, ४६.

४ अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास, —वानप्रस्थ-यज्ञदान-प्रोक्षण-दिङ्-नक्षत्र-मन्त्र-काल-नियमाश्चादृष्टाय । —वैशेषिक दर्शन, ६, २, २; ६, २, ८.

५ सांख्य सूत्र, ३, ३०—३४.

६ ब्रह्मसूत्र, ४, १, ७—११.

साधना का सांगोपांग वर्णन मिलना सहज स्वाभाविक है। वैदिक साहित्य में महर्षि पतंजलि का योगसूत्र ही योग-विषयक सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

उपनिषदों में सूचित और दर्शन-साहित्य में वर्णित योग-साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप गीता में मिलता है। वस्तुतः देखा जाय तो गीता युद्ध के मैदान में उपदिष्ट योग-विषयक ग्रन्थ है।<sup>१</sup> उसमें योग का विभिन्न तरह से वर्णन किया गया है। उसमें योग का स्वर कभी कर्म के साथ, कभी भक्ति के साथ और कभी ज्ञान के साथ सुनाई देता है।<sup>२</sup> गीता के छठे और तेरहवें अध्याय में तो योग के सब मौलिक सिद्धान्त और योग की समस्त साधना का वर्णन आ जाता है।

योगवासिष्ठ में योग का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसके छह प्रकरणों में योग के सब अंगों का वर्णन है। योग दर्शन में योग के सम्बन्ध में जो वर्णन संक्षेप से किया गया है, उसी का विस्तार करके ग्रन्थकार ने योगवासिष्ठ के आकार को बढ़ा दिया है। इससे यही कहना पड़ता है कि योगवासिष्ठ योग का महाग्रन्थ है।

पुराण-साहित्य में सर्वशिरोमणि भागवत पुराण का अध्ययन करें, तो उसमें भी योग का पूरा वर्णन मिलता है।<sup>३</sup>

भारत में योग का इतना महत्त्व बढ़ा कि सभी विचारक इस पर चिन्तन करने लगे। तान्त्रिक सम्प्रदाय ने भी योग को अपने तन्त्र-ग्रन्थों में स्थान दिया। अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में योग का वर्णन मिलता है। परन्तु, महानिर्वाण-तन्त्र और षट्चक्र-निरूपण मुख्य ग्रन्थ हैं, जिनमें योग-साधना का विस्तार से वर्णन मिलता है।<sup>४</sup>

मध्य युग में योग का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा। आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योग के बाह्य अंगों पर इतना जोर दिया गया कि योग का एक सम्प्रदाय ही बन गया, जो हठयोग के नाम से प्रसिद्ध रहा है। आज उस सम्प्रदाय का कोई अस्तित्व नहीं है। केवल इतिहास के पन्नों पर ही उसका नाम अवशेष है।

हठयोग के विभिन्न ग्रन्थों में हठयोग-प्रदीपिका, शिव-संहिता, घेरण्ड-संहिता, गोरक्ष-पद्धति, गोरक्ष-शतक, योगतारावली, बिन्दु-योग, योग-बीज, योग-कल्पद्रुम

१ गीता के अठारह अध्यायों में पहले छह अध्याय कर्म-योग-प्रधान हैं, मध्य के छह अध्याय भक्ति-योग-प्रधान हैं और अन्तिम छह अध्याय ज्ञान-योग-प्रधान हैं।

२ गीता रहस्य (पं० बालगंगाधर तिलक) २ भाग की शब्द सूची देखें।

३ भागवत पुराण, स्कंध ३, अध्याय २८; स्कंध ११, अध्याय १५, १६, और २०।

४ महानिर्वाण तन्त्र, अध्याय ३; और Tantrik Texts में प्रकाशित षट्चक्र-निरूपण पृष्ठ, ६०, ६१, ८२, ६०, ६१ और १३४।

आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। इनमें हठयोग-प्रदीपिका मुख्य है। उक्त ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, षट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य अंगों का दिल खोलकर वर्णन किया है। घेरण्ड ने आसनों की संख्या को ८४ से ८४ लाख तक पहुँचा दिया है।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी योग पर कई ग्रन्थ लिखे गये हैं। महाराष्ट्री भाषा में गीता की ज्ञानदेव कृत ज्ञानेश्वरी टीका प्रसिद्ध है। इसके छोटे अध्याय में योग का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है।

संत कबीर का 'बीजक ग्रन्थ' योग विषयक भाषा-साहित्य का अनूठा नगीना है। अन्य योगी सन्तों ने भी अपने योग-सम्बन्धी अनुभवों का जन-भाषा में जन-हृदय पर अंकित करने का प्रयत्न किया है। अतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि प्रसिद्ध प्रान्तीय भाषाओं में पातञ्जल योग-शास्त्र के अनुवाद तथा विवेचन निकल चुके हैं। अंग्रेजी एवं अन्य विदेशी भाषाओं में भी योग-शास्त्र का अनुवाद हुआ है, जिसमें वुड (Wood) का भाष्य टीका सहित मूल पातञ्जल योग-शास्त्र का अनुवाद महत्त्वपूर्ण है।

### पातञ्जल योग-सूत्र

वैदिक साहित्य के विस्तृत अध्ययन से यह स्पष्ट हो गया कि इसमें योग पर छोटे बड़े अनेक ग्रन्थ हैं। परन्तु इन उपलब्ध ग्रन्थों में—जैसा कि हम ऊपर कह चुके पातञ्जल योग-सूत्र शीर्ष-स्थान रखता है। इसके मुख्य तीन कारण हैं—१. ग्रन्थ की संक्षिप्तता तथा सरलता, २. विषय की स्पष्टता एवं पूर्णता, और ३. अनुभव-सिद्धता। इन विशेषताओं के कारण ही योग-दर्शन का नाम सुनते ही पातञ्जल योग-सूत्र स्मृति में साकार हो उठता है। योग विषयक साहित्य एवं दर्शन ग्रन्थों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पातञ्जल योग सूत्र के समय अन्य योग शास्त्र भी इतने ही प्रसिद्ध रहे हैं और वे योग शास्त्र के नाम से लिखे गये थे। आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र भाष्य में योग दर्शन का खण्डन करते हुए लिखा है—अथ-सम्यग्दर्शना-भ्युपायो' योगः।<sup>१</sup> इस सूत्र से यह स्पष्ट होता है कि भाष्यकार के सामने पातञ्जल सूत्र से भिन्न योग-शास्त्र भी रहा है। क्योंकि पातञ्जल योगसूत्र—अथ योगानुशासनम्<sup>२</sup> सूत्र से शुरू होता है। इसके अतिरिक्त आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में योग से सम्बन्धित दो सूत्रों का और उल्लेख किया है,<sup>३</sup> जिनमें से एक सूत्र तो पातञ्जल योग सूत्र का पूरा सूत्र है।<sup>४</sup> और दूसरा अविकल सूत्र तो नहीं, परन्तु उससे मिलता-

१ ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, २, १, ३.

२ योग-सूत्र १.१

—महर्षि पतंजलि. १, १.

३ स्वाध्यायादिष्टदेवतासंप्रयोगः; प्रमाण-विपर्यय-विकल्प निद्रा-स्मृतयो नाम।

—ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य, १, ३, ३३; २, ४, १२.

४ देखें पातञ्जल योग सूत्र, २, ४.

जुलता सूत्र है।<sup>१</sup> परन्तु 'अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योग' :—इस सूत्र की मौलिकता एवं शब्द-रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य शंकर द्वारा उद्धृत अन्तिम दो उल्लेख भी इसी योगशास्त्र के होने चाहिए। दुर्भाग्य से वह योग-शास्त्र आज अनुपलब्ध है। अतः वैदिक परम्परा के योग विषयक साहित्य में योग-सूत्र सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

प्रस्तुत योग-सूत्र चार पाद में विभक्त है और इसमें कुल १६५ सूत्र हैं। प्रथम पाद का नाम समाधि, द्वितीय का साधन, तृतीय का विभूति और चतुर्थ का नाम कैवल्य पाद है। प्रथम पाद में प्रमुख रूप से योग के स्वरूप, उसके साधन और चित्त को स्थिर बनाने के उपायों का वर्णन है। द्वितीय पाद में क्रिया-योग, योग के आठ अंग, उनका फल और हेय-हेतु, हान और हानोपाय—इस चतुर्व्यूह का वर्णन है। तृतीय पाद में योग की विभूतियों का उल्लेख किया गया है और चतुर्थ पाद में परिणामवाद का स्थापन, विज्ञानवाद का निराकरण और कैवल्य-अवस्था के स्वरूप का वर्णन है।

प्रस्तुत योग सूत्र सांख्य दर्शन के आधार पर रचा गया है। यही कारण है कि महर्षि पतंजलि ने प्रत्येक पाद के अन्त में यह अंकित किया है—योग-शास्त्रे सांख्य-प्रवचने। 'सांख्य प्रवचने' इस विशेषण से यह स्पष्टतः ध्वनित होता है कि सांख्य दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित योग शास्त्र भी उस समय विद्यमान थे।

यह हम पहले बता चुके हैं कि सभी भारतीय विचारकों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के चिन्तन का आदर्श मोक्ष रहा है। परन्तु, मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में सभी विचारक एकमत नहीं हैं। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख नहीं मानते। उनका विश्वास है कि दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही मोक्ष है। इसके अतिरिक्त वहाँ शाश्वत सुख जैसी कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। कुछ विचारक मुक्ति में शाश्वत सुख का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जहाँ शाश्वत सुख है, वहाँ दुःख का अस्तित्व रह ही नहीं सकता, उसकी निवृत्ति तो स्वतः ही हो जाती है।

वैशेषिक,<sup>२</sup> नैयायिक,<sup>३</sup> सांख्य,<sup>३</sup> योग<sup>४</sup> और बौद्ध दर्शन<sup>५</sup> प्रथम पक्ष को

१ देखें पातञ्जल योग सूत्र १, ६.

२ तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः।

—न्याय दर्शन, १, १, २२.

३ ईश्वरकृष्ण रचित सांख्यकारिका १

४ योग-सूत्र में मुक्ति में हानत्व माना है और दुःख के आत्यन्तिक नाश को ही हान कहा है।

पातञ्जल योग सूत्र २, २६.

५ तथागत बुद्ध के तृतीय निरोध नामक आर्यसत्य का अर्थ दुःख का नाश है।

—बुद्धलीलासार संग्रह पृ० १५०.

स्वीकार करते हैं। वेदान्त और जैन दर्शन द्वितीय पक्ष को अन्तिम साध्य मानते हैं। उनका विश्वास है कि शाश्वत सुख को प्राप्त करना ही साधक का अन्तिम ध्येय है और यह साध्य मोक्ष है।

योग में विषय का वर्गीकरण उसके अन्तिम साध्य के अनुरूप ही है। उसमें अनेक सिद्धान्तों का वर्णन है, परन्तु संक्षेप में वह चार विभागों में विभक्त किया जा सकता है—१. हेय, २. हेय-हेतु, ३. हान और ४. हानोपाय। दुःख हेय है, अविद्या हेय का कारण है, दुःख का आत्यन्तिक नाश हान है और विवेकख्याति हानोपाय है।<sup>१</sup> सांख्य सूत्र में भी यही वर्गीकरण मिलता है। तथागत बुद्ध ने इसी चतुर्व्यूह को 'आर्य सत्य' का नाम दिया है। और योग शास्त्र में वर्णित अष्टांग योग की तरह चतुर्थ आर्य-सत्य के साधन रूप से 'आर्य अष्टांग मार्ग' का उपदेश दिया है।<sup>२</sup>

इसके अतिरिक्त योग शास्त्र में वर्णित चतुर्व्यूह का दूसरी प्रकार से भी वर्गीकरण किया है—१. हाता, २. ईश्वर, ३. जगत्, और ४. संसार एवं मुक्ति का स्वरूप तथा उसके कारण।

### १. हाता

दुःख से सर्वथा निवृत्त होने वाले द्रष्टा—आत्मा या चेतन को 'हाता' कहते हैं। योग-शास्त्र में सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक, बौद्ध, जैन एवं पूर्णप्रज्ञ (मध्व),-दर्शन की तरह अनेक आत्माएँ—चेतन स्वीकार की हैं। परन्तु, आत्मा के स्वरूप की मान्यता में भेद है। योग-शास्त्र आत्मा को न तो जैन दर्शन की तरह देह प्रमाण मानता है और न मध्व सम्प्रदाय की तरह अणु प्रमाण मानता है। वह सांख्य, वैशेषिक, नैयायिक एवं शंकर वेदान्ती की तरह आत्मा को सर्वव्यापक मानता है। इसी तरह वह चेतन को जैन दर्शन की तरह परिणामि-नित्य तथा बौद्ध-दर्शन की तरह एकान्त क्षणिक न मानकर सांख्य एवं अन्य वैदिक दर्शनों की तरह कूटस्थनित्य मानता है।

### २. ईश्वर

योग-शास्त्र सांख्य-दर्शन की तरह ईश्वर के अस्तित्व से इनकार नहीं करता।<sup>३</sup> वह ईश्वर को मानता है और उसे जगत् का कर्त्ता भी मानता है।

### ३. जगत्

योग-शास्त्र जगत् के स्वरूप को सांख्य-दर्शन की तरह प्रकृति का परिणाम और अनादि-अनन्त प्रवाह रूप मानता है। वह जैन, वैशेषिक एवं नैयायिक दर्शन की तरह उसे परमाणु का परिणाम नहीं मानता, व शंकराचार्य की तरह ब्रह्म का विवर्त—परिणाम मानता है, और न बौद्ध दर्शन की तरह शून्य या विज्ञानात्मक स्वीकार करता है।

१ योग सूत्र

—महर्षि पतञ्जलि, २, १६; १७; २४; २६.

२ बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १५०.

३ सांख्य-सूत्र, १, ६२।



### ३. संसार और मोक्ष का स्वरूप

योग-शास्त्र में वासना, क्लेश और कर्म को 'संसार' कहा है और उसके अभाव को 'मोक्ष' ।<sup>१</sup> संसार का मूल कारण अविद्या और मुक्ति का मुख्य कारण सम्यग्दर्शन या योग-जन्य विवेक माना है ।

### योग-सूत्र और जैन दर्शन में समानता

योग-सूत्र का अन्य दर्शनों की अपेक्षा जैन दर्शन के साथ अधिक साम्य है । फिर भी बहुत कम विचारक इस बात को जान-समझ पाये हैं । इसका एक ही कारण है कि ऐसे बहुत कम जैन विचारक, दार्शनिक एवं विद्वान हैं, जो उदार हृदय से योग सूत्र का अध्ययन करने वाले हों और योग-सूत्र पर अधिकार रखने वाले ऐसे ठोस विद्वान् भी कम मिलेंगे, जिन्होंने जैन-दर्शन का गहराई से अनुशीलन-परिशीलन किया हो । यही कारण है कि जैन-दर्शन और योग-सूत्र में बहुत साम्य होने पर भी वैदिक एवं जैन-विचारक इससे अपरिचित से रहे हैं । योग-सूत्र और जैन-दर्शन में समानता तीन तरह की है— १ शब्द की, २ विषय की, और ३ प्रक्रिया की ।

#### १ शब्द साम्य

योग-सूत्र एवं उसके भाष्य में ऐसे अनेक शब्दों का प्रयोग मिलता है, जो जैनतर दर्शनों में प्रयुक्त नहीं है, परन्तु जैन-दर्शन एवं जैनागमों में उनका विशेष रूप से प्रयोग हुआ है । जैसे—

भवप्रत्यय,<sup>२</sup> सवितर्क-सविचार-निर्विचार,<sup>३</sup> महाव्रत,<sup>४</sup> कृतकारित-अनुमोदित,<sup>५</sup>

१ पातञ्जल योग-सूत्र, १, ३ ।

२ (क) भवप्रत्ययो विदेहप्रकृततिलयानाम् पातञ्जलयोग-सूत्र १, १६

(ख) भवप्रत्ययो नारक-देवानाम् । तत्त्वार्थसूत्र, १, २२

(ग) नन्दी-सूत्र ७, स्थानांग सूत्र २, १, ७१.

३ (क) एकाश्रये सवितर्के पूर्वैः; तत्र सविचारं प्रथमम् (भाष्य) अविचारं द्वितीयम् ।

— तत्त्वार्थ सूत्र ६, ४३-४४; स्थानांग सूत्र, (वृत्ति) ४, १, २४७.

(ख) तत्र शब्दार्थ-ज्ञान-विकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः; स्मृति-परि-  
शुद्धौ स्वरूपशून्ये वार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का; एतयैव सविचारा निर्विचारा  
च सूक्ष्मविषया व्याख्याता । — पातञ्जल योग सूत्र १, ४२, ४४.

४ जैनागमों में मुनि के पाँच यमों के लिए महाव्रत शब्द का प्रयोग हुआ है । देखें—स्थानांग सूत्र, ५, १, ३८६ तत्त्वार्थ सूत्र, ७, २. यही शब्द योग सूत्र में भी उसी अर्थ में आया है । —योगसूत्र २, ३१.

५ ये शब्द जिस भाव के लिए योग सूत्र २, ३१ में प्रयुक्त हैं, उसी भाव में जैनागम में भी मिलते हैं । जैनागमों में अनुमोदित के स्थान में प्रायः अनुमित शब्द प्रयुक्त हुआ है । —तत्त्वार्थ ६, ६; दशवैकालिक, अध्ययन ४.

प्रकाशावरण,<sup>१</sup> सोपक्रम निरूपक्रम,<sup>२</sup> वज्र-संहनन,<sup>३</sup> केवली<sup>४</sup>, कुशल,<sup>५</sup> ज्ञानावरणीय कर्म,<sup>६</sup> सम्यग्ज्ञान,<sup>७</sup> सम्यग्दर्शन<sup>८</sup>, सर्वज्ञ,<sup>९</sup> क्षीणक्लेश,<sup>१०</sup> चरमदेह<sup>११</sup> आदि शब्दों का जैनागम एवं योग सूत्र में प्रयोग मिलता है ।

## २. विषय-साम्य

योग-सूत्र और जैन दर्शन में शब्दों के समान विषय-निरूपण में भी साम्य है । प्रसुप्त, तनु आदि क्लेश अवस्थाएँ,<sup>१२</sup> पाँच यम,<sup>१३</sup> योगजन्य विभूति,<sup>१४</sup>

१ (क) योग शास्त्र, २, ५२; ३, ४३ । जैनागमों में प्रकाशावरण के स्थान में ज्ञानावरण शब्द का प्रयोग मिलता है, परन्तु दोनों शब्दों का अर्थ एक ही है—ज्ञान को आवृत करने वाला कर्म ।

(ख) तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १०; भगवती सूत्र, ८, ६, ७५-७६ ।

२ योग सूत्र ३, २२ । जैन कर्म-ग्रन्थ तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य) २, ५२; स्थानांग सूत्र (वृत्ति) २, ३, ८५ ।

३ योग-सूत्र ३, ४६ । तत्त्वार्थ (भाष्य) ८, १२ और प्रज्ञापना सूत्र । जैन आगमों में वज्रऋषभ-नाराच-संहनन शब्द मिलता है ।

४ योग-सूत्र (भाष्य), २, २७, तत्त्वार्थ सूत्र, ६, १४ ।

५ योग-सूत्र २, २७; दशवैकालिक नियुक्ति, गाथा १८६ ।

६ योगसूत्र (भाष्य), २, ५१; उत्तराध्ययन सूत्र ३३, २; आवश्यकनियुक्ति, गाथा ८६३ ।

७-८ योग-सूत्र २, २२८; ४, १५; तत्त्वार्थ सूत्र १, १; स्थानांग सूत्र ३, ४, १६४ ।

९ योग-सूत्र (भाष्य), ३, ४६; तत्त्वार्थ सूत्र (भाष्य) ३, ३६ ।

१० योग-सूत्र १, ४ । जैन शास्त्र में बहुधा क्षीणमोह, क्षीणकषाय शब्द मिलते हैं—देखें तत्त्वार्थ, ६, ३८; प्रज्ञापना सूत्र पद १ ।

११ योग-सूत्र (भाष्य) २, ४; तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२; स्थानांग सूत्र (वृत्ति), २, ३, ८५ ।

१२ १ प्रसुप्त, २ तनु, ३ विच्छिन्न और ४ उदार—इन चार अवस्थाओं का योग-सूत्र २, ४ में वर्णन है । जैन-शास्त्र में मोहनीय कर्म की सत्ता, उपशम, क्षयोपशम विरोधि प्रकृति के उदयादि कृत व्यवधान और उदयावस्था के वर्णन में यही भाव परिलक्षित होते हैं । इसके लिए उपाध्याय यशोविजय जी कृत योग-सूत्र (वृत्ति) २, ४, देखें ।

१३ पाँच यमों का वर्णन महाभारत आदि ग्रन्थों में भी है, परन्तु उसकी परिपूर्णता योग सूत्र के “जाति-देश काल-समयाऽनवच्छिन्नाः, सार्वभौमा महाव्रतम्” योग-सूत्र २, ३१ में तथा दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४ एवं अन्य आगमों में वर्णित महाव्रतों में परिलक्षित होती है ।

१४ योग-सूत्र के तृतीय पाद में विभूतियों का वर्णन है । वे विभूतियाँ दो प्रकार की हैं—१ ज्ञानरूप, और २ शारीरिक । अतीताऽनागत-ज्ञान, सर्वभूतरतज्ञान, पूर्व-जातिज्ञान,<sup>१५</sup> परिचितज्ञान, भुवनज्ञान, ताराव्यूहज्ञान आदि ज्ञान-विभूतियाँ हैं ।

(Contd.)

सोपक्रम-निरूपक्रम कर्म का स्वरूप<sup>१</sup> और अनेक कार्यों—शरीरों<sup>२</sup> का निर्माण आदि विषय के निरूपण में दोनों परम्पराओं में समानता परिलक्षित होती है ।

### ३. प्रक्रिया-साम्य

दोनों में प्रक्रिया का भी साम्य है । वह यह है कि परिणामिनित्यता अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से त्रिरूप वस्तु मानकर तदनुसार धर्म और धर्मों का वर्णन किया गया है ।<sup>३</sup>

अन्तर्धान, हस्तबल, परकाय प्रवेश, अणिमादि ऐश्वर्य तथा रूप, लावण्यादि काय-संपत्तियाँ शारीरिक विभूतियाँ हैं ।

जैन शास्त्र में भी अवधिज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान, जाति-स्मरण, पूर्वज्ञान आदि ज्ञान-लब्धियाँ हैं और आमौषधि, विप्रुडौषधि, श्लेष्मौषधि, सर्वौषधि, जंघाचारण, विद्याचारण, वैक्रिय, आहारक आदि शारीरिक लब्धियाँ हैं । लब्धि—विभूति का नामान्तर है ।—आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ६६, ७० ।

१ योग-सूत्र के भाष्य और जैन-शास्त्रों में सोपक्रम-निरूपक्रम आयुष्कर्म का एक सा वर्णन मिलता है । इसके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए योग-सूत्र, ३, २२ के भाष्य में आर्द्रवस्त्र और तृण-राशि के दो दृष्टान्त दिये हैं । वे दोनों दृष्टान्त आवश्यक-निर्युक्ति, ६५६ तथा विशेषावश्यकभाष्य, ३०६१ आदि ग्रन्थों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं । तत्त्वार्थ सूत्र २, ५२ के भाष्य में उक्त दो उदाहरणों के अतिरिक्त गणित-विषयक तीसरा दृष्टान्त भी दिया है और योग-सूत्र के व्यास-भाष्य में भी यह दृष्टान्त मिलता है । दोनों में शाब्दिक साम्य भी बहुत अधिक है ।

२ योग-बल से योगी अनेक शरीरों का निर्माण करता है । इसका वर्णन योग-सूत्र ४,४ में है । यही विषय वैक्रिय-आहारक-लब्धि रूप से जैन आगमों में वर्णित है ।

३ जैनागमों में वस्तु को द्रव्य-पर्याय स्वरूप माना है । द्रव्य की अपेक्षा से वह सदा शाश्वत रहती है, इसलिए वह नित्य है । परन्तु, पर्याय की अपेक्षा से उसका प्रतिक्षण नाश एवं निर्माण होता रहता है, इसलिए वह अनित्य भी है । इसलिए तत्त्वार्थ सूत्र, ५, २६, में सत् का यह लक्षण दिया है—‘उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।’ योग-सूत्र ३, १३-१४ में जो धर्म-धर्मों का वर्णन है, वह वस्तु के उक्त द्रव्य-पर्यायरूप या उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य—इस त्रिरूपता का ही चित्रण है । इसमें कुछ भिन्नता भी है । वह यह है कि योग-सूत्र सांख्य-दर्शन के अनुसार निर्मित है, इसलिए वह ‘ऋतेचित्तशक्तेः परिणामिनो भावः’ इस सूत्र को मानकर परिणाम-वाद का उपयोग सिर्फ जड़ भाग—प्रकृति में करता है, चेतन में नहीं और जैन-दर्शन ‘सर्वे भावाः परिणामिनः’ ऐसा मानकर परिणामवाद का उपयोग जड़-चेतन-दोनों में करता है । इतनी भिन्नता होने पर भी परिणामवाद की प्रक्रिया दोनों में एक सी है ।

इस तरह पातञ्जल योग-सूत्र का गहन अध्ययन करने एवं उस पर अनु-चिन्तन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके वर्णन में जैन दर्शन के साथ बहुत कुछ समानता है और इस विचार-समानता के कारण आचार्य हरिभद्र जैसे उदार एवं विराट्-हृदय जैनाचार्यों ने अपने योग-विषयक ग्रन्थों में महर्षि पतञ्जलि की विशाल दृष्टि के लिए आदर प्रकट करके गुण-ग्राहकता का परिचय दिया है।<sup>१</sup> यह नितान्त सत्य है कि जब मनुष्य शाब्दिक ज्ञान की प्राथमिक भूमिका से आगे बढ़ जाता है, तब वह शब्दों की पूँछ न खींचकर चिन्ता-ज्ञान तथा भाव-ज्ञान<sup>२</sup> से उत्तरोत्तर अधिकाधिक एकता वाले प्रदेश में स्थित होकर अभेद एवं निष्पक्ष—पक्षपात रहित आनन्द का अनुभव करता है।

### बौद्ध योग परम्परा

बौद्ध साहित्य में योग के स्थान में 'ध्यान' और 'समाधि' शब्द का प्रयोग मिलता है। बोधित्व प्राप्त होने के पूर्व तथागत बुद्ध ने श्वासोच्छ्वास का निरोध करने का प्रयत्न किया। वे अपने शिष्य अगिगवेस्सन को कहते हैं कि मैं श्वासोच्छ्वास का निरोध करना चाहता था, इसलिए मैं मुख, नाक, एवं कर्ण—कान में से निकलते हुए साँस को रोकने का, उसे निरोध करने का प्रयत्न करता रहा।<sup>३</sup> परन्तु इससे उन्हें समाधि प्राप्त नहीं हुई। इसलिए बोधित्व प्राप्त होने के बाद तथागत बुद्ध ने हठयोग की साधना का निषेध किया और आर्य अष्टांगिक मार्ग का उपदेश दिया है।<sup>४</sup>

इस अष्टांगिक मार्ग में समाधि को विशेष महत्त्व दिया गया है। वस्तुतः समाधि के रक्षण के लिए ही आर्य अष्टांग में सात अंगों का वर्णन किया है और उन सात अंगों में एकता बनाए रखने के लिए 'समाधि' आवश्यक है।

इस सम्यक्समाधि को प्राप्त करने के लिए चार प्रकार के ध्यान का वर्णन किया गया है—१. वितर्क-विचार-प्रीति-सुख-एकाग्रता-सहित, २. प्रीति-सुख-एकाग्रता-सहित, ३. सुख-एकाग्रता-सहित, और ४. एकाग्रता-सहित।<sup>५</sup> प्रस्तुत में वितर्क का

१ योग-बिन्दु, ६६; योगदृष्टि समुच्चय, १००.

२ शब्द, चिन्ता तथा भावना ज्ञान के स्वरूप को विस्तार से समझने की जिज्ञासा रखने वाले पाठक उपाध्याय यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद्, श्लोक ६५-७४ देखें।

३ अंशुत्तरनिकाय, ६३।

४ १. सम्यग्दृष्टि, २. सम्यक्संकल्प, ३. सम्यग्वाणी, ४. सम्यक्कर्म, ५. सम्यक्-आजीविका, ६. सम्यग्व्यायाम, ७. सम्यक्स्मृति और ८. सम्यक्समाधि।

—संयुत्तनिकाय ५, १०; विभंग ३१७-२८.

५ मज्झिमनिकाय, दीघनिकाय, सामञ्जसकफलसुत्त; बुद्धलीलासार संग्रह, पृष्ठ १२८; समाधि मार्ग (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृष्ठ १५।

अर्थ है—ऊह। अर्थात् सर्वप्रथम किसी आलम्बन को ग्रहण करके समाधि के विषय में चित्त के प्रवेश को 'वितर्क' कहते हैं, उस विषय में गहरे उतरने को 'विचार' कहते हैं, उससे जो आनन्द उपलब्ध होता है, उसे 'प्रीति' कहते हैं। उस आनन्द से शरीर को जो समाधान मिलता है, वह 'सुख' है, और उस विषय में चित्त की जो एकाग्रता होती है, उसे 'एकाग्रता' कहते हैं और उस विषय से अत्यधिक परिचय होने पर उससे उत्पन्न होने वाली निर्भयता या निष्कंपता को 'उपेक्षा' कहते हैं।

ज्यों-ज्यों साधक का अभ्यास बढ़ता है, त्यों-त्यों उसका विकास भी बढ़ता रहता है। समाधिमार्ग में गहरा उतर जाने के बाद साधक को वितर्क और विचार की आवश्यकता नहीं रहती। इसके बिना भी वह आनन्द को प्राप्त कर लेता है। इसके आगे आनन्द के बिना भी उसे सुख की अनुभूति होने लगती है। और अन्त में जब उसमें उपेक्षा या एकाग्रता आ जाती है, तब वह पूर्णतः निर्भय एवं निष्कंप हो जाता है। इस अवस्था में वितर्क, विचार, प्रीति और सुख—किसी के चिन्तन की आवश्यकता नहीं रहती है। यह ध्यान की चरम पराकाष्ठा है।

सुत्तपिटक में आन पान-स्मृति का वर्णन मिलता है। चित्त-वृत्ति को एकाग्र करने के लिए इसका उपदेश दिया गया है। इसमें बताया है कि साधक साँस ग्रहण करते एवं छोड़ते समय पूरी सावधानी रखे, अपने चित्त को साँस लेने एवं छोड़ने की क्रिया के साथ संलग्न करे। चित्त को स्थिर करने के लिए साधक 'अरहं' शब्द पर अपने चित्त को स्थित करके श्वासोच्छ्वास ले। यदि 'अरहं' शब्द पर चित्त स्थिर नहीं रह पाता है तो उसे गणना, अनुबन्धना, स्पर्श और स्थापना का प्रयोग करना चाहिए।<sup>१</sup>

गणना का अर्थ है, साँस लेते और छोड़ते समय साँस की गणना की जाए। यह गणना न तो दस से अधिक होनी चाहिए और न पाँच से कम। यदि दस से अधिक करते रहे तो चित्त अरहं के चिन्तन में न लगकर केवल गणना में ही लगा रहेगा और पाँच से कम करते हैं तो मन डगमगा जाएगा। अतः गणना के लिए पाँच और दस के बीच की संख्या लेनी चाहिए।

जब मन गणना करने में संलग्न हो जाए, तब गणना के कार्य को छोड़कर साँस के अन्दर जाने एवं बाहर आने के साथ चित्त भी अन्दर-बाहर आता जाता रहे अर्थात् चित्त को श्वासोच्छ्वास के साथ जोड़ दे। इस प्रक्रिया को 'अनुबन्धना' कहते हैं।

श्वास और प्रश्वास आते-जाते समय नासिका के अग्र भाग को स्पर्श करते हैं। अतः उस स्थान पर चित्त को लगाना स्पर्श कहलाता है। और श्वास एवं प्रश्वास पर चित्त को एकाग्र करने की प्रक्रिया को स्थापना कहते हैं।

जब साधक चित्त को एकाग्र कर लेता है, तो समझना चाहिए, उसने समाधि-मार्ग में प्रवेश कर लिया है। अब उसे चाहिए कि वह चित्त की एकाग्रता के अभ्यास को इतना दृढ़ कर ले कि भय, शोक एवं हर्ष आदि के समय भी चित्त विभ्रान्त न हो सके।

प्रथम चौकड़ी में मन को एकाग्र करने के लिए उसे गणना आदि के साथ जोड़ने का उपदेश दिया गया है। द्वितीय चौकड़ी में चित्त को, मन को एकाग्र करने के लिए प्रीति-प्रेम को मुख्य स्थान दिया गया है। प्रस्तुत में प्रीति का अर्थ है— निष्काम प्रेम, विश्व-बन्धुत्व की भावना। इस साधना से योगी का मन प्रीति के साथ एकाग्र हो जाता है, निष्कंप बन जाता है और योगी अपनी वेदना, रोग एवं दुःख-दर्द आदि को भूल जाता है। तब उसे अनुपम सुख एवं आनन्द की अनुभूति होती है।

इस प्रयत्न से योगी के चित्त की गति मन्द हो जाती है, उसमें स्थिरता आ जाती है। तब वह चित्त को विमुक्त करके श्वासोच्छ्वास की क्रिया करता है। अर्थात् वह श्वासोच्छ्वास में आसक्त नहीं होता है। इस प्रक्रिया से उसे अनन्त सुख मिलता है, फिर भी उसमें आबद्ध नहीं होता है।

इस अभ्यास के पश्चात् योगी निर्वाण मार्ग में प्रविष्ट होता है। इसके अभ्यास के लिए वह अनित्यता का चिन्तन करता है। अनित्यता से वैराग्य का अनुभव होता है और इससे समस्त वृत्तियाँ एवं मनोभावनाएँ विलीन हो जाती हैं और योगी निर्वाण-पद को प्राप्त कर लेता है।

बौद्ध साहित्य में समाधि एवं निर्वाण प्राप्त करने के लिए ध्यान के साथ अनित्य भावना को भी महत्त्व दिया गया है। तथागत बुद्ध अपने शिष्यों से कहते हैं—हे भिक्षुओ ! रूप अनित्य है, वेदना अनित्य है, संज्ञा अनित्य है, संस्कार अनित्य है, विज्ञान अनित्य है। जो अनित्य है, वह दुःखप्रद है। जो दुःखप्रद है, वह अनात्मक है। जो अनात्मक है, वह मेरा नहीं है, वह मैं नहीं हूँ। इस तरह संसार के अनित्य स्वरूप को देखना चाहिए। क्योंकि 'यदनिच्चं तं दुक्खं' जो अनित्य है, वह दुःख रूप है।

जैन विचारकों ने भी अनित्य भावना के चिन्तन को महत्त्व दिया है। भरत चक्रवर्ती ने इस अनित्य भावना के द्वारा ही चक्रवर्ती-वैभव भोगते हुए केवलज्ञान को प्राप्त किया था। आचार्य हेमचन्द्र ने भी अनित्य भावना का यही स्वरूप बताया है—

“इस संसार के समस्त पदार्थ अनित्य हैं। प्रातःकाल जिसे देखते हैं, वह मध्याह्न में दिखाई नहीं देता और मध्याह्न में जो दृष्टिगोचर होता है, वह रात्रि में नजर नहीं आता।”<sup>१</sup>

१ देखें—योग-शास्त्र (आचार्य हेमचन्द्र), प्रकाश ४, श्लोक ५७-६०, -३

## ध्यान पर तुलनात्मक विचार

बौद्ध साहित्य में योग-साधना के लिए 'ध्यान' एवं 'समाधि' शब्द का प्रयोग किया गया है। महर्षि पतंजलि ने सवितर्क, सविचार, सानन्द और सास्मित—चार प्रकार के संप्रज्ञात योग का उल्लेख किया है। जैन परम्परा में — १. पृथक्त्ववितर्क-सविचार, २. एकत्ववितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपात्ति, ४. समुच्छिन्नत्रियानिवृत्ति—ये शुक्ल-ध्यान के चार भेद माने हैं।

ध्यान के उक्त भेदों में जो शब्द-साम्य परिलक्षित होता है, वह महत्त्वपूर्ण है। परन्तु, तीनों परम्पराओं में तात्त्विक एवं सैद्धान्तिक भेद होने के कारण ध्यान के भेदों में शब्द-साम्य होते हुए भी अर्थ की छाया विभिन्न दिखाई देती है। इसका कारण है—दृष्टि की विभिन्नता। सांख्य-परम्परा प्रकृतिवादी है और बौद्ध एवं जैन परम्परा परमाणुवादी हैं। जैन परम्परा परमाणु को द्रव्य-रूप से नित्य मानकर उसमें रही पर्यायों की अपेक्षा से उसे अनित्य मानती है। परन्तु बौद्ध परम्परा किसी भी नित्य द्रव्य को नहीं मानती। वह सब कुछ प्रवाहरूप और अनित्य मानती है। यह तीनों परम्पराओं की तात्त्विक मान्यता की भिन्नता है। परन्तु, यदि हम स्थूल दृष्टि से न देखकर सूक्ष्म दृष्टि से तीनों परम्पराओं के अर्थ का अध्ययन करते हैं तो उसमें भेद के साथ कुछ साम्य भी दिखाई देता है।

योग सूत्र में 'वितर्क' और 'विचार' शब्द संप्रज्ञात के साथ आए हैं और आगे चलकर इनके साथ 'समापत्ति' का सम्बन्ध भी जोड़ दिया है। जो विचार और वितर्क संप्रज्ञात से सम्बद्ध हैं, उनका अनुक्रम से अर्थ है—स्थूल विषय में एकाग्र बने हुए चित्त को, मन को होने वाला स्थूल साक्षात्कार और सूक्ष्म विषय में एकाग्र बने हुए चित्त को होने वाला सूक्ष्म साक्षात्कार। जब वितर्क और विचार के साथ समापत्ति का वर्णन आता है, तब स्थूल साक्षात्कार को सवितर्क और निर्वितर्क उभय-रूप माना है और सूक्ष्म साक्षात्कार को सविचार और निर्विचार—दोनों प्रकार का माना है। इसका निष्कर्ष यह है कि योग-सूत्र में 'वितर्क' और 'विचार' शब्द विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। संप्रज्ञात के साथ प्रयुक्त वितर्क पद का अर्थ—स्थूल विषय का साक्षात्कार किया गया है और समापत्ति के साथ प्रयुक्त 'वितर्क' शब्द का अर्थ किया गया है—शब्द, अर्थ और ज्ञान का अभेदाध्यास या विकल्प। इसी तरह संप्रज्ञात के साथ आये हुए विचार का अर्थ है—सूक्ष्म विषय का साक्षात्कार और समापत्ति के साथ प्रयुक्त विचार शब्द का अर्थ है—देश, काल और धर्म से अविच्छिन्न सूक्ष्म पदार्थ का साक्षात्कार।

बौद्ध परम्परा में 'वितर्क' और 'विचार' दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ है। उसमें वितर्क का अर्थ है—ऊह अर्थात् चित्त किसी भी आलम्बन को आधार बनाकर सर्वप्रथम उसमें प्रवेश करे, उसे 'वितर्क' कहते हैं और जब चित्त उसी आलम्बन में गहराई से उतरकर उसमें एकरस हो जाता है, तब उसे 'विचार' कहते हैं। इस

तरह आलम्बन में स्थिर होने वाले चित्त की प्रथम अवस्था को 'वितर्क' और उसके बाद की अवस्था को 'विचार' कहते हैं।

जैन परम्परा में वितर्क का अर्थ है—श्रुत या शास्त्र ज्ञान, और विचार का अर्थ है—एक विषय से दूसरे विषय में संक्रमण करना। योग-सूत्र में प्रयुक्त सवितर्क समापत्ति का अर्थ—विकल्प भी किया गया है। विकल्प का तात्पर्य है—शब्द, अर्थ और ज्ञान में भेद होते हुए भी उसमें अभेद-बुद्धि होती है। निर्वितर्क समापत्ति में ऐसी अभेद बुद्धि नहीं होती है, वहाँ केवल अर्थ का शुद्ध बोध होता है। प्रायः ये ही भाव जैन-परम्परा में प्रयुक्त पृथक्त्व-वितर्क और एकत्व-वितर्क में परिलक्षित होते हैं। प्रथम ध्यान में विचार-संक्रमण को अवकाश है, परन्तु द्वितीय ध्यान में उसे स्थान नहीं दिया है, जबकि वितर्क को स्थान दिया गया है।

बौद्ध परम्परा द्वारा वर्णित ध्यानों में भी यह क्रम परिलक्षित होता है। इसके प्रथम ध्यान में वितर्क और विचार—दोनों रहते हैं, परन्तु द्वितीय ध्यान में दोनों का अस्तित्व नहीं रहता है। जबकि जैन परम्परा के द्वितीय ध्यान में वितर्क का सद्भाव तो रहता है, परन्तु विचार का अस्तित्व नहीं रहता और योग-सूत्र में सवितर्क संप्रज्ञात में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—इन चारों अंगों के अस्तित्व को स्वीकार किया है।

बौद्ध परम्परा प्रथम ध्यान में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता—इन पाँचों के अस्तित्व को स्वीकार करती है। योग-परम्परा द्वारा मान्य आनन्द या आह्लाद और बौद्ध-परम्परा द्वारा माने गये प्रीति और सुख में अत्यधिक अर्थ-साम्य है। ऐसा प्रतीत होता है कि योग-परम्परा में प्रयुक्त 'अस्मिता' बौद्ध परम्परा द्वारा प्रयुक्त 'एकाग्रता' के उपेक्षा रूप में प्रयुक्त हुई है।

योग-परम्परा में प्रयुक्त अध्यात्मप्रसाद, ऋतंभरा प्रज्ञा और सूक्ष्म क्रिया-अप्रतिपात्ति में प्रायः अर्थ-साम्य दिखाई देता है। जैन-परम्परा का समुच्छिन्न क्रिया-अप्रतिपात्ति योग-परम्परा का असंप्रज्ञात योग या संस्कार-शेष—निर्बीज योग है, ऐसा प्रतीत होता है।<sup>१</sup>

उक्त परिशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय संस्कृति में प्रवाहमान त्रि-योग परम्पराओं—वैदिक, जैन और बौद्ध में विभिन्न रूप में दिखाई देने वाली व्याख्याओं में बहुत गहरी अनुभव-एकता रही हुई है। ये अलग-अलग दिखाई देने वाली कड़ियाँ पूर्णतः पृथक् नहीं, प्रत्युत किसी अपेक्षा-विशेष से एक-दूसरी कड़ी से आबद्ध—जुड़ी हुई भी हैं।

१ देखो, तत्त्वार्थ सूत्र (पं० सुखलाल संघवी) ६, ४१।



## योग के अन्य अंग

बौद्ध-साहित्य में आर्य अष्टांग का वर्णन किया गया है। उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। शील का अर्थ है—कुशल धर्म को धारण करना, कर्तव्य में प्रवृत्त होना और अकर्तव्य से निवृत्त होना।<sup>१</sup> कुशल चित्त की एकाग्रता या चित्त और चैतसिक धर्म का एक ही आलम्बन में सम्यक्तया स्थापन करने की प्रक्रिया का नाम 'समाधि' है।<sup>२</sup> कुशल चित्त युक्त विषय—विवेक ज्ञान को 'प्रज्ञा' कहा है।<sup>३</sup>

बौद्धों द्वारा स्वीकृत शील में पतंजलिसम्मत यम-नियम का समावेश हो जाता है। बौद्ध साहित्य में पंचशील, वैदिक परम्परा में पाँच यम और जैन परम्परा में पाँच महाव्रतों का उल्लेख मिलता है। यम और महाव्रतों के नाम एक से हैं— १. अहिंसा २. सत्य, ३. अस्तेय, ४. ब्रह्मचर्य, और ५. अपरिग्रह। पंचशील में प्रथम चार के नाम यही हैं, परन्तु अपरिग्रह के स्थान में मद्य से निवृत्त होने का उल्लेख मिलता है।

समाधि में योग-सूत्र द्वारा मान्य प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि का समावेश हो जाता है और जैन परम्परा में वर्णित ध्यान आदि आभ्यन्तर तप में प्रत्याहार आदि चार अंगों का तथा बौद्ध दर्शन द्वारा मान्य समाधि का समावेश हो जाता है। योग-सूत्रसम्मत तप का तीसरा नियम अनशनादि बाह्य तप में आ जाता है। स्वाध्याय रूप आभ्यन्तर तप और योग-सूत्र द्वारा वर्णित स्वाध्याय का अर्थ एक-सा है।

बौद्ध परम्परा द्वारा मान्य प्रज्ञा और योग-सूत्र द्वारा वर्णित विवेक-ख्याति में पर्याप्त अर्थ-साम्य है। इस तरह बौद्ध साहित्य में वर्णित योग अन्य परम्पराओं से कहीं शब्द से मेल खाता है, तो कहीं अर्थ से और कहीं प्रक्रिया से मिलता है।

## जैनागमों में योग

जैन धर्म निवृत्ति-प्रधान है। इसके चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर ने साढ़े बारह वर्ष तक मौन रहकर घोर तप, ध्यान एवं आत्म-चिन्तन के द्वारा योग-साधना का ही जीवन बिताया था। उनके शिष्य-शिष्या-परिवार में पचास हजार व्यक्ति—चवदह हजार साधु और छत्तीस हजार साध्वियाँ—ऐसे थे, जिन्होंने योग-साधना में प्रवृत्त होकर साधुत्व को स्वीकार किया था।<sup>४</sup>

१ विसुद्धिमग्ग, १, १९-२५।

२ वही, ३, २-३।

३ वही, १४, २-३।

४ चउद्दसिहि समणसाहस्सीहि छत्तीसिहि अज्जिआसाहस्सीहि।

जैन परम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमें वर्णित साधवाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान, स्वाध्याय आदि—जो योग के मुख्य अंग हैं, उनको साधु-जीवन का, श्रमण-साधना का प्राण माना है।<sup>१</sup> वस्तुतः आचार-साधना श्रमण-साधना का मूल है, प्राण है, जीवन है। आचार के अभाव में श्रमणत्व की साधना केवल निष्प्राण कंकाल एवं शव रह जाएगी।

जैनागमों में 'योग' शब्द समाधि या साधना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। वहाँ योग का अर्थ है—मन, वचन और काय—शरीर की प्रवृत्ति। योग शुभ और अशुभ—दो तरह का होता है। इसका निरोध करना ही श्रमण-साधना का मूल उद्देश्य है, मुख्य ध्येय है। अतः जैनागमों ने साधु को आत्म-चिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य में प्रवृत्ति करने की ध्रुव आज्ञा नहीं दी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है, तो आगम निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति देता है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा में 'समिति-गुप्ति' कहा है, इसे अष्ट प्रवचन माता भी कहते हैं।<sup>२</sup> पाँच समिति—१. ईर्या समिति २. भाषा समिति, ३. एषणा समिति, ४. आयाण-भंड-निक्षेपणा समिति और ५. उच्चार-पासवण-खेल-जल-मैल-परिठावणिया-समिति प्रवृत्ति की प्रतीक हैं और त्रिगुप्ति—मन-गुप्ति, वचन-गुप्ति और काय-गुप्ति निवृत्तिपरक हैं। समिति अपवाद मार्ग है और गुप्ति उत्सर्ग मार्ग है। साधु को जब भी किसी कार्य में प्रवृत्ति करना अनिवार्य हो, तब वह मन, वचन और काय योग को अशुभ से हटाकर, विवेक एवं सावधानी-पूर्वक प्रवृत्ति करे। इस निवृत्ति-प्रधान एवं त्याग-निष्ठ जीवन को ध्यान में रखकर ही साधु की दैनिक चर्या का विभाग किया गया है। इसमें रात और दिन को चार-चार भागों में विभक्त करके बताया गया है कि साधु दिन और रात के प्रथम एवं अंतिम प्रहर में स्वाध्याय करे और द्वितीय प्रहर में ध्यान एवं आत्म-चिन्तन में संलग्न रहे। दिन के तृतीय प्रहर में वह आहार लेने को जाय और उस लिए हुए निर्दोष आहार को समभावपूर्वक अनासक्त भाव से खाए और रात्रि के तृतीय प्रहर में निद्रा से निवृत्त होकर, चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय में संलग्न हो जाय।<sup>३</sup> इस प्रकार रात-दिन के आठ प्रहरों में छह प्रहर केवल स्वाध्याय, ध्यान, आत्म-चिन्तन-मनन में लगाने का आदेश है। सिर्फ दो प्रहर प्रवृत्ति के लिए हैं, वह भी संयमपूर्वक प्रवृत्ति के लिए, न कि अपनी इच्छानुसार।

श्रमण-साधना का मूल ध्येय—योगों का पूर्णतः निरोध करना है। परन्तु,

१ आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि।

२ अट्ठ पवयणमायाओ, समिए गुत्ती तहेव य।

पंचेव य समिईओ, तओ गुत्ती उ आहिया ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र २४, १.

३ उत्तराध्ययन सूत्र, २६, ११—१२; १७—१८.

इसके लिए हठयोग की साधना को बिलकुल महत्व नहीं दिया है। यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक परम्परा के योगविषयक ग्रन्थों में भी हठयोग को अग्राह्य कहा है,<sup>१</sup> फिर भी वैदिक परम्परा में हठयोग की प्रधानता वाले अनेक ग्रन्थों एवं मार्गों का निर्माण हुआ है। परन्तु, जैन साहित्य में हठयोग को कोई स्थान नहीं दिया है। क्योंकि, हठयोग से हठपूर्वक, बलपूर्वक रोका गया मन थोड़ी देर बाद जब छूटता है, तो सहसा दूटे हुए बाँध की तरह तीव्र वेग से प्रवाहित होता है और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है इसलिए जैन परम्परा में योगों का निरोध करने के लिए हठयोग के स्थान में समिति-गुप्ति का विधान किया गया है, जिसे सहजयोग भी कहते हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि जब भी साधक आने-जाने, उठने-बैठने, खाने-पीने, पढ़ने-पढ़ाने आदि की जो भी क्रिया करे, उस समय वह अपने योगों को अन्यत्र से हटाकर उस क्रिया में केन्द्रित कर ले। वह उस समय तद्रूप बन जाय। इससे मन इतस्ततः न भटककर एक जगह केन्द्रित हो जाएगा और उसकी साधना निर्बाध गति से प्रगतिशील बनी रहेगी।

जैनागमों में योग-साधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। ध्यान का अर्थ है—अपने योगों को आत्म-चिन्तन में केन्द्रित करना। ध्यान में काय-योग की प्रवृत्ति को भी इतना रोक लिया जाता है कि चिन्तन के लिए ओष्ठ एवं जिह्वा को हिलाने की भी अनुमति नहीं है। उसमें केवल साँस के आवागमन के अतिरिक्त कोई हरकत नहीं की जाती। इस तरह काय-स्थिरता के साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में ध्यान एवं साधना कहते हैं। एकाग्रता के अभाव में वह साधना भाव-यथार्थ साधना नहीं, बल्कि द्रव्य-साधना कहलाती है। भाव-आवश्यक की व्याख्या करते हुए कहा है—प्रत्येक साधक—भले ही वह साधु हो या साध्वी, श्रावक हो या श्राविका, जब अपना मन, चित्त, लेश्या, अध्यवसाय, उपयोग उसमें लगा देता है, उसमें प्रीति रखता है, उसकी भावना करता है और अपने मन को अन्यत्र नहीं जाने देता है, इस तरह जो साधक उभय काल आवश्यक-प्रतिक्रमण करता है, उसे 'भाव-आवश्यक' कहते हैं।<sup>२</sup> इसके अभाव में किया जाने वाला आवश्यक 'द्रव्य-आवश्यक' कहलाता है। यही बात अन्य धर्म-साधना एवं ध्यान के लिए समझनी चाहिए।

जैनागमों में योग-साधना के लिए प्राणायाम आदि को अनावश्यक माना है। क्योंकि, इस प्रक्रिया से शरीर को कुछ देर के लिए साधा जा सकता है, रोग आदि का निवारण किया जा सकता है और काल—मृत्यु के समय का परिज्ञान किया जा

१ योगवासिष्ठ, ६२, ३७—३९।

२ अनुयोगद्वार सूत्र, श्रुताधिकार, २७

सकता है, परन्तु साध्य को सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस प्रक्रिया से मुक्ति-लाभ नहीं हो सकता। उसके लिए योगों को सहज भाव से केन्द्रित करना आवश्यक है। इसके लिए ध्यान-साधना उपयुक्त मानी गई है। इससे योगों में एकाग्रता आती है, जिससे आस्रव का निरोध होता है, नए कर्मों का आगमन रुकता है और पुरातन कर्म क्षीण होते हैं। तब एक समय ऐसा आता है कि साधक समस्त कर्मों का क्षय करके, योगों का निरोध करके अपने साध्य को सिद्ध कर लेता है, निर्वाण-पद को पा लेता है।

### जैन योग-ग्रन्थ

यह हम बता आए हैं कि जैनागमों में योग के स्थान में 'ध्यान' शब्द प्रयुक्त हुआ है। कुछ आगम-ग्रन्थों में ध्यान के लक्षण, भेद, प्रभेद, आलम्बन आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।<sup>१</sup> आगम के बाद नियुक्ति का नम्बर आता है। उसमें भी आगम में वर्णित ध्यान का ही स्पष्टीकरण किया है।<sup>२</sup> आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र में ध्यान का वर्णन किया है, परन्तु उनका वर्णन आगम से भिन्न नहीं है।<sup>३</sup> उन्होंने आगम एवं नियुक्ति में वर्णित विषय से अधिक कुछ नहीं कहा है। जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का ध्यान-शतक भी आगम की शैली में लिखा गया है।<sup>४</sup> आगम-युग से लेकर यहाँ तक योग-विषयक वर्णन में आगम-शैली की ही प्रमुखता रही है।

परन्तु, आचार्य हरिभद्र ने परम्परा से चली आ रही वर्णन शैली को परिस्थिति एवं लोक-रुचि के अनुरूप नया मोड़ देकर अभिनव परिभाषा करके जैन योग-साहित्य में अभिनव युग को जन्म दिया। उनके बनाए हुए योग विषयक ग्रन्थ—योग-बिन्दु, योगदर्शित समुच्चय, योगविशिका, योगशतक और षोडशक, इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। उक्त ग्रन्थों में आप केवल जैन परम्परा के अनुसार योग-साधना का वर्णन करके ही सन्तुष्ट नहीं हुए, बल्कि पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना एवं उसकी विशेष परिभाषाओं के साथ जैन साधना एवं परिभाषाओं की तुलना करने एवं उसमें रहे हुए साम्य को बताने का प्रयत्न भी किया।<sup>५</sup>

आचार्य हरिभद्र के योग विषयक मुख्य चार ग्रन्थ हैं—१ योगबिन्दु, २ योग-दर्शित-समुच्चय, ३ योग-शतक, और ४ योगविशिका। षोडशक में कुछ प्रकरण योग

- १ स्थानांग सूत्र, ४, १; समवायांग सूत्र ४; भगवती सूत्र, २५, ७; उत्तराध्ययन सूत्र, ३०, ३५।
- २ आवश्यकनियुक्ति, कायोत्सर्ग अध्ययन, १४६२-८६।
- ३ तत्त्वार्थ सूत्र ६, २७।
- ४ हरिभद्रीय आवश्यकवृत्ति, पृष्ठ ५८१।
- ५ समाधिरेष एवान्यै. संप्रज्ञातोऽभिधीयते।  
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थ-ज्ञानतस्तथा ॥  
असंप्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः।  
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुबोधतः ॥

—योगबिन्दु, ४१८, ४२०

विषयक हैं, परन्तु इसका वर्णन उक्त चार ग्रन्थों में ही आ जाता है। इसमें योग विषयक किसी भी नई बात का उल्लेख नहीं मिलता है। अतः उनके योग से सम्बन्धित चार ग्रन्थ ही मुख्य हैं। इनमें प्रथम के दो ग्रन्थ संस्कृत में हैं और अन्तिम दो ग्रन्थ प्राकृत भाषा में हैं। योगबिन्दु में ५२७ श्लोक हैं, योगदृष्टि समुच्चय २२८ श्लोकों का है, योगशतक और योग-विशिका में क्रमशः १०१ और २० गाथाएँ हैं।

### १. योगबिन्दु

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम योग के अधिकारी का उल्लेख किया है। जो जीव चरमावर्त में रहता है, अर्थात् जिसका काल मर्यादित हो गया है, जिसने मिथ्यात्व-ग्रन्थ का भेदन कर लिया है और जो शुक्लपक्षी है, वह योग साधना का अधिकारी है। वह योग-साधना के द्वारा अनादिकाल से चले आ रहे अपरिज्ञात संसार या भव-भ्रमण का अन्त कर देता है।<sup>१</sup> इसके विपरीत जो अचरमावर्त में स्थित हैं, वे मोह-कर्म की प्रबलता के कारण संसार में, विषय-वासना में और काम-भोगों में आसक्त बने रहते हैं। अतः वे योग-मार्ग के अधिकारी नहीं हैं। आचार्य ने उन्हें 'भवाभिनन्दी' की संज्ञा से सम्बोधित किया है।<sup>२</sup>

योग के अधिकारी जीवों को आचार्य ने चार भागों में विभक्त किया है— १ अपुनर्बन्धक, २, सम्यग्दृष्टि या भिन्नग्रन्थि, ३ देशविरति, और ४ सर्वविरति—छटे गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान पर्यन्त। प्रस्तुत ग्रन्थ में उक्त चार भेदों के स्वरूप एवं अनुष्ठान पर विस्तार से विचार किया गया है।

चारित्र के वर्णन में आचार्यश्री ने पाँच योग-भूमिकाओं का वर्णन किया है—१ अध्यात्म, २ भावना, ३ ध्यान, ४ समता, और ५ वृत्तिसंक्षय। यह अध्यात्म आदि योग-साधना देशविरति नामक पञ्चम गुणस्थान से ही शुरू होती है। अपुनर्बन्धक एवं सम्यग्दृष्टि अवस्था में चारित्र मोहनीय की प्रबलता रहने के कारण योग बीज रूप में रहता है, अंकुरित एवं पल्लवित-पुष्पित नहीं होता। अतः योग साधना का विकास देशविरति से माना गया है।

१ अध्यात्म :—यथाशक्य अणुव्रत या महाव्रत को स्वीकार करके मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ्य भावनापूर्वक आगम के अनुसार तत्त्व या आत्मचिन्तन करना अध्यात्म साधना है। इससे पाप कर्म का क्षय होता है, वीर्य—सत् पुरुषार्थ का उत्कर्ष होता है और चित्त में समाधि की प्राप्ति होती है।

२ भावना :—अध्यात्म-चिन्तन का बार-बार अभ्यास करना 'भावना' है। इससे काम, क्रोध आदि मनोविकारों एवं अशुभ भावों की निवृत्ति होती है और ज्ञान आदि शुभ भाव परिपुष्ट होते हैं।

१ योग-बिन्दु, ७२, ६६.

२ वही, ८५—८७.

३ ध्यान :—तत्त्व चिन्तन की भावना का विकास करके मन को, चित्त को किसी एक पदार्थ या द्रव्य के चिन्तन पर एकाग्र करना, स्थिर करना 'ध्यान' है। इससे चित्त स्थिर होता है और भव-परिभ्रमण के कारणों का नाश होता है।

४ समता :—संसार के प्रत्येक पदार्थ एवं सम्बन्ध पर—भले ही वह इष्ट हो या अनिष्ट, तटस्थ वृत्ति रखना 'समता' है। इससे अनेक लब्धियों की प्राप्ति होती है और कर्मों का क्षय होता है।

! ५ वृत्ति-संक्षय :—विजातीय द्रव्य से उद्भूत चित्त-वृत्तियों का जड़मूल से नाश करना 'वृत्ति-संक्षय' है। इस साधना के सफल होते ही घातिकर्म का समूलतः क्षय हो जाता है, केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन की प्राप्ति होती है और क्रमशः चारों अघाति कर्मों का क्षय होकर निर्वाण पद—मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्म-भावों का विकास करके एवं उन्हें शुद्ध बनाते हुए साधक चारित्र्य की तीन भूमिकाओं को पार करके चौथी समता-साधना में प्रविष्ट होता है और वहाँ क्षपक-श्रेणी करता है। उसके बाद वह वृत्ति-संक्षय की साधना करता है। आचार्य हरिभद्र ने प्रथम की चार भूमिकाओं की पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित संप्रज्ञात समाधि के साथ और अन्तिम पाँचवीं भूमिका की असंप्रज्ञात समाधि के साथ समानता बताई है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी अपनी योग-सूत्र वृत्ति में इस समानता को स्वीकार किया है।

आपने प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच अनुष्ठानों का भी वर्णन किया है—१. विष, २. गर, ३. अननुष्ठान, ४. तद्धेतु तथा ५. अमृत अनुष्ठान। इसमें प्रथम के तीन असदनुष्ठान हैं। अन्तिम के दो अनुष्ठान सदनुष्ठान हैं और योग-साधना के अधिकारी व्यक्ति को सदनुष्ठान ही होता है।

## २. योगदृष्टि समुच्चय

प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित आध्यात्मिक विकास का क्रम परिभाषा, वर्गीकरण और शैली की अपेक्षा से योग-बिन्दु से अलग दिखाई देता है। योग-बिन्दु में प्रयुक्त कुछ विचार इसमें शब्दान्तर से अभिव्यक्त किये गये हैं और कुछ विचार अभिनव भी हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में योगबिन्दु में प्रयुक्त अचरमावर्तकाल—अज्ञान काल की अवस्था को 'ओघ-दृष्टि' और चरमावर्तकाल—ज्ञान काल की अवस्था को 'योग-दृष्टि' कहा है। ओघ-दृष्टि में प्रवर्तमान भवाभिनन्दी का वर्णन योग-बिन्दु के वर्णन-सा ही है।

इस ग्रन्थ में योग की भूमिकाओं या योग के अधिकारियों को तीन विभागों में विभक्त किया गया है। प्रथम भेद में प्रारम्भिक अवस्था से लेकर विकास की चरम—अन्तिम अवस्था तक की भूमिकाओं के कर्ममल के तारतम्य की अपेक्षा से आठ

विभाग किए हैं—१. मित्रा, २. तारा, ३. बला. ४. दीप्रा. ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा, और ८. परा ।

ये आठ विभाग पातञ्जल योग-सूत्र में क्रमशः यम, नियम, प्रत्याहार आदि; बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि, पृथक्जनगत अष्ट दोष-परिहार और अद्वेष, जिज्ञासा आदि अष्टयोग गुणों के प्रकट करने के आधार पर किए गए हैं। इसके पश्चात् उक्त आठ भूमिकाओं में प्रवर्तमान साधक के स्वरूप का वर्णन किया है। इसमें पहली चार भूमिकाएँ प्रारंभिक अवस्था में होती हैं। इनमें मिथ्यात्व का कुछ अंश शेष रहता है। परन्तु, अन्तिम की चार भूमिकाओं में मिथ्यात्व का अंश नहीं रहता है।

द्वितीय विभाग में योग के तीन विभाग किए हैं—१. इच्छा-योग, २. शास्त्र-योग और ३. सामर्थ्य-योग। धर्म-साधना में प्रवृत्त होने की इच्छा रखने वाले साधक में प्रमाद के कारण जो विकल-धर्म-योग है, उसे 'इच्छा-योग' कहा है। जो धर्म-योग शास्त्र का विशिष्ट बोध कराने वाला हो या शास्त्र के अनुसार हो, उसे 'शास्त्र-योग' कहते हैं और जो धर्म-योग आत्म-शक्ति के विशिष्ट विकास के कारण शास्त्र-मर्यादा से भी ऊपर उठा हुआ हो, उसे 'सामर्थ्य-योग' कहते हैं।

तृतीय भेद में योगी को चार भागों में बाँटा है—१. गोत्र-योगी, २. कुल-योगी, ३. प्रवृत्त-चक्र योगी, और ४. सिद्ध (निष्पन्न)-योगी। इसमें गोत्र योगी में योग-साधना का अभाव होने के कारण वह योग का अधिकारी नहीं है। दूसरा और तीसरा योगी योग-साधना का अधिकारी है और सिद्ध-योगी अपनी साधना को सिद्ध कर चुका है, अब उसे योग की आवश्यकता ही नहीं है। इसलिए वह भी योग-साधना का अधिकारी नहीं है। इस तरह योगदृष्टि समुच्चय में अष्टांग योग एवं योग तथा योगियों के वर्गीकरण में नवीनता है।

### ३. योग-शतक

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय-निरूपण की दृष्टि से योग-बिन्दु के अधिक निकट है। योग-बिन्दु में वर्णित अनेक विचारों का योग-शतक में संक्षेप से वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में योग का स्वरूप दो प्रकार का बताया है—१. निश्चय, और २. व्यवहार। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र्य का आत्मा के साथ के सम्बन्ध को 'निश्चय-योग' कहा है और उक्त तीनों के कारणों—साधनों को 'व्यवहार-योग' कहा है। योग-साधना के अधिकारी और अनधिकारी का वर्णन योग-बिन्दु की तरह किया है। चरमावर्त में प्रवर्तमान योग अधिकारियों का वर्णन एवं अयुतर्बन्धक सम्यग्दृष्टि का वर्गीकरण योग-बिन्दु के समान ही किया है।

साधक जिस भूमिका पर स्थित है, उससे ऊपर की भूमिकाओं पर पहुँचने के लिए उसे क्या करना चाहिए? इसके लिए योग-शतक में कुछ नियमों एवं साधनों

का वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र ने बताया है कि साधक को साधना का विकास करने के लिए—१. अपने स्वभाव की आलोचना, लोक-परम्परा के ज्ञान और शुद्ध योग के व्यापार से उचित-अनुचित प्रवृत्ति का विवेक करना चाहिए, २. अपने से अधिक गुणसम्पन्न साधक के सहवास में रहना चाहिए, ३. संसार-स्वरूप एवं राग-द्वेष आदि दोषों के चिन्तन रूप आभ्यन्तर साधन और भय, शोक आदि रूप अकुशल कर्म के निवारण के लिए गुरु, तप, जप, जैसे बाह्य साधनों का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। साधना की विकसित भूमिकाओं की ओर प्रवर्तमान साधक को उक्त साधना का आश्रय लेना चाहिए।

अभिनव साधक को पहले श्रुत-पाठ, गुरु-सेवा, आगम-आज्ञा, जैसे स्थूल साधन का आश्रय लेना चाहिए। शास्त्र के अर्थ का यथार्थ बोध हो जाने के बाद साधक को राग, द्वेष, मोह जैसे आन्तरिक दोषों को निकालने के लिए आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में यह भी बताया गया है कि चित्त में स्थिरता लाने के लिए साधक को रागादि दोषों के विषय एवं परिणामों का किस तरह चिन्तन करना चाहिए।

इतना वर्णन करने के बाद आचार्यश्री ने यह बताया है कि योग-साधना में प्रवर्तमान साधक को अपने सद्बिचार के अनुरूप कैसा आहार करना चाहिए। इसके लिए ग्रन्थकार ने सर्वसंपत्करी भिक्षा के स्वरूप का वर्णन किया है। इस प्रकार चिन्तन और उसके अनुरूप आचरण करने वाला साधक अशुभ कर्मों का क्षय और शुभ कर्मों का बन्ध करता है तथा क्रमशः आत्म-विकास करता हुआ अबन्ध-अवस्था को प्राप्त करके कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त उन्मुक्त हो जाता है।

#### ४. योग-विशिका

प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल बीस गाथाएँ हैं। इसमें योग-साधना का संक्षेप में वर्णन किया गया है। इसमें आध्यात्मिक विकास की प्रारम्भिक भूमिकाओं का वर्णन नहीं है। परन्तु, योग-साधना की या आध्यात्मिक साधना एवं विचारणा—चिन्तन की विकास-शील अवस्थाओं का निरूपण है। इसमें चारित्रशील एवं आचारनिष्ठ साधक को योग का अधिकारी माना है और उसकी धर्म-साधना या साधना के लिए की जाने वाली आवश्यक धर्म-क्रिया को 'योग' कहा है तथा उसकी पाँच भूमिकाएँ बताई हैं— १. स्थान, २. ऊर्ण, ३. अर्थ, ४. आलम्बन और ५. अनालम्बन। प्रस्तुत ग्रन्थ में इनमें से आलम्बन और अनालम्बन की व्याख्या की है। प्रथम के तीन भेदों की मूल में व्याख्या नहीं की गई है। परन्तु, उपाध्याय यशोविजय जी ने योग-विशिका की टीका में पाँचों का अर्थ किया है।<sup>१</sup> इन में से प्रथम के दो को कर्म-योग और अन्त के तीन भेदों को ज्ञान-

१ कायोत्सर्ग, पर्यकासन, पद्मासन आदि आसनों को स्थान कहा है। प्रत्येक क्रिया करते समय जिस सूत्र का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण, वर्ण या शब्द कहते (Contd.)



योग कहा है। इसके अतिरिक्त स्थान आदि पाँचों भेदों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि—ये चार-चार भेद करके उनके स्वरूप और कार्य का वर्णन किया है।

ऊपर आचार्य हरिभद्र के योग-विषयक ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया है। इसका अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थों में मुख्य रूप से चार बातों का उल्लेख किया है—

१. कौन साधक योग का अधिकारी है और कौन अनधिकारी।
२. योग का अधिकार प्राप्त करने के लिए पूर्व तैयारी—साधना का स्वरूप।
३. योग-साधना की योग्यता के अनुसार साधकों का विभिन्न रूप से वर्गीकरण और उनके स्वरूप एवं अनुष्ठान का वर्णन।
४. योग-साधना के उपाय—साधन और भेदों का वर्णन।

### आचार्य हेमचन्द्र

आचार्य हरिभद्र के बाद आचार्य हेमचन्द्र का नम्बर आता है। आचार्य हेमचन्द्र विक्रम की बारहवीं शताब्दी के एक प्रख्यात आचार्य हुए हैं। आप केवल जैनागम एवं न्याय-दर्शन के ही प्रकाण्ड पण्डित नहीं थे, प्रत्युत व्याकरण, साहित्य, छन्द, अलंकार, काव्य, दर्शन, योग आदि सभी विषयों पर आपका अधिकार था और उक्त सभी विषयों पर आपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आपके विशाल एवं गहन अध्ययन एवं ज्ञान के कारण आपको 'कलिकालसर्वज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया जाता रहा है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योग पर योग-शास्त्र लिखा है। उसमें पातञ्जल योग-सूत्र में निर्दिष्ट अष्टांगयोग के क्रम से गृहस्थ-जीवन एवं साधु-जीवन की आचार-साधना का जैनागम के अनुसार वर्णन किया है। इसमें आसन, प्राणायाम आदि से सम्बन्धित बातों का भी विस्तृत वर्णन है। आचार्य शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में वर्णित पदस्थ, पिण्डस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानों का भी उल्लेख किया है। अन्त में आचार्यश्री ने अपने स्वानुभव के आधार पर मन के चार भेदों—विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट और मुलीन—का वर्णन करके नवीनता लाने का प्रयत्न किया है। निस्सन्देह योग-शास्त्र जैन तत्त्व-ज्ञान, आचार एवं योग-साधना का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

### आचार्य शुभचन्द्र

योग-विषय पर आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव की रचना की है। ज्ञानार्णव और योग-शास्त्र में बहुत-से विषय एक-से हैं। ज्ञानार्णव में सगं २६ से ४२ तक प्राणायाम और ध्यान के स्वरूप एवं भेदों का वर्णन किया है। यही वर्णन योग-शास्त्र

हैं। सूत्र के अर्थ का बोध होना अर्थ है। बाह्य विषयों का ध्यान यह आलम्बन योग है। रूपी द्रव्य का आलम्बन किए बिना शुद्ध आत्मा की समाधि को अनालम्बन योग कहा है।

—योग-विशिका टीका, ३

पञ्चम प्रकाश से एकादश प्रकाश तक के वर्णन में मिलता है। उभय ग्रन्थों में वर्णित विषय ही नहीं, बल्कि शब्दों में भी बहुत कुछ समानता है। प्राणायाम आदि से प्राप्त होने वाली लब्धियों एवं परकायप्रवेश आदि के फल का निरूपण करने के बाद दोनों आचार्यों ने प्राणायाम को साध्य सिद्धि के लिए अनावश्यक, निरूपयोगी, अहितकारक एवं अनर्थकारी बताया है। ज्ञानार्णव में २१ से २७ सर्गों में यह बताया है कि आत्मा स्वयं ज्ञान-स्वरूप है। कषाय आदि दोषों ने आत्म-शक्तियों को आवृत कर रखा है। अतः राग-द्वेष एवं कषाय आदि दोषों का क्षय करना.....मोक्ष है। इसलिए इसमें यह बताया है कि कषाय पर विजय प्राप्त करने का साधन इन्द्रिय-जय है, इन्द्रियों को जीतने का उपाय—मन की शुद्धि है, मन-शुद्धि का साधन है—राग-द्वेष को दूर करना और उसे दूर करने का साधन है—समत्व-भाव की साधना। समत्व-भाव की साधना ही ध्यान या योग-साधना की मुख्य विशेषता है। यह वर्णन योग-शास्त्र में भी शब्दशः एवं अर्थशः एक-सा है। यह सत्य है कि अनित्य आदि बारह भावनाओं और पाँच महाव्रतों का वर्णन उभय ग्रन्थों में एक-से शब्दों में नहीं है, फिर भी वर्णन की शैली में समानता है। उभय ग्रन्थों में यदि कुछ अन्तर है तो वह यह है कि ज्ञानार्णव के तीसरे सर्ग में ध्यान-साधना करने वाले साधक के लिए गृहस्थाश्रम के त्याग का स्पष्ट विधान किया गया है, जब कि आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थाश्रम की भूमिका पर ही योग-शास्त्र की रचना की है।

आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं—“बुद्धिशाली एवं त्यागनिष्ठ होने पर भी साधक महादुःखों से भरे हुए तथा अत्यधिक निन्दित गृहस्थाश्रम में रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता और चंचल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः चित्त की शान्ति के लिए महापुरुष गृहस्थाश्रम का त्याग ही करते हैं।”

“अरे ! किसी देश और किसी काल-विशेष में आकाश-पुष्प और गधे के सिर पर शृंग का अस्तित्व मिल भी सकता है, परन्तु किसी भी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहकर ध्यानसिद्धि को प्राप्त करना सम्भव ही नहीं है।”<sup>१</sup>

परन्तु आचार्य हेमचन्द्र ने गृहस्थ-अवस्था में ध्यान-सिद्धि का निषेध नहीं किया है। आगमों में भी गृहस्थ-जीवन में धर्म-ध्यान की साधना को स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में तो यहाँ तक कहा गया है कि किसी साधु की साधना की अपेक्षा गृहस्थ भी साधना में उत्कृष्ट हो सकता है।<sup>२</sup> अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने भी पञ्चम गुणस्थान में धर्म-ध्यान को माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने तो योग-शास्त्र का निर्माण राजा कुमारपाल के लिए ही किया था।

**उपाध्याय यशोविजयजी**

इसके पश्चात् उपाध्याय यशोविजयजी के योग विषयक ग्रन्थों पर दृष्टि जाती

१ ज्ञानार्णव सर्ग ३. ६, १०, १७.

२ सति एणेहि भिक्खुहि, गारत्था संजमुत्तरा।

—उत्तराध्ययन, ५, २०.

है। उपाध्यायजी का आगमज्ञान, चिन्तन-मनन, तर्क-कौशल और योगानुभव विस्तृत एवं गंभीर था। ज्ञान की विशालता के साथ उनकी दृष्टि भी विशाल एवं व्यापक थी। उनका हृदय सांप्रदायिक संकीर्णताओं से रहित था। वस्तुतः उपाध्यायजी केवल परम्पराओं के पुजारी नहीं, बल्कि सत्योपासक थे।

उपाध्याय यशोविजयजी ने योग पर अध्यात्मसार, अध्यात्मोपनिषद् और सटीक बत्तीस बत्तीसियाँ लिखीं, जिनमें जैन मान्यताओं का स्पष्ट एवं रोचक वर्णन करने के अतिरिक्त अन्य दर्शनों के साथ जैन दर्शन के साम्य का भी उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त गुजराती भाषी विचारकों के लिए आपने गुजराती भाषा में भी योगदृष्टि सञ्ज्ञाय की रचना की।

अध्यात्मसार ग्रन्थ में उपाध्यायजी ने योगाधिकार और ध्यानाधिकार प्रकरण में मुख्य रूप से गीता एवं पातञ्जल योग-सूत्र का उपयोग करके जैन परम्परा में प्रसिद्ध ध्यान के अनेक भेदों का उभय ग्रन्थों के साथ समन्वय किया है। उपाध्यायजी का यह समन्वयात्मक वर्णन दृष्टि तथा विचार-समन्वय के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है।

अध्यात्मोपनिषद् ग्रन्थ में आपने शास्त्र-योग, ज्ञानयोग, क्रिया-योग और साम्य-योग के सम्बन्ध में योगवासिष्ठ और तैत्तिरीय उपनिषद् के वाक्यों से उद्धरण देकर जैन-दर्शन के साथ तात्त्विक ऐक्य या समानता दिखाई है।

योगावतार बत्तीसी में आपने मुख्यतया पातञ्जल योग-सूत्र में वर्णित योग-साधना का जैन प्रक्रिया के अनुसार विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र की योग-विशिका एवं षोडशक पर टीकाएँ लिखकर उनमें अन्त-निहित गूढ़ तत्त्वों का उद्घाटन किया है। वे इतना लिखकर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, उन्होंने पातञ्जल योग-सूत्र पर भी जैन-सिद्धान्त के अनुसार एक छोटी-सी वृत्ति लिखी है। उसमें उन्होंने अनेक स्थानों पर सांख्य विचारधारा का जैन विचार-धारा के साथ मिलान भी किया और कई स्थलों पर युक्ति एवं तर्क के साथ प्रतिवाद भी किया।

उपाध्याय यशोविजय जी के ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उपाध्यायजी ने अपने वर्णन में मध्यस्थ भावना, गुण-ग्राहकता, सूक्ष्म समन्वय शक्ति एवं स्पष्टवादिता दिखाई है। अतः हम निस्संकोच भाव से यह कह सकते हैं कि उपाध्यायजी ने आचार्य हरिभद्र की समन्वयात्मक दृष्टि को पल्लवित-पुष्पित किया है, उसे आगे बढ़ाया है।

**योगसार ग्रन्थ—**

इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर साहित्य में एक योगसार ग्रन्थ भी है। उसमें लेखक के नाम का उल्लेख नहीं है और यह भी उल्लेख नहीं मिलता है कि वह कब और कहाँ लिखा गया है। परन्तु उसके वर्णन, शैली एवं दृष्टान्तों का अवलोकन करने से ऐसा लगता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योग-शास्त्र के आधार पर किसी श्वेताम्बर आचार्य ने उसे लिखा हो।.....इत्यादि। □

## अनुक्रमणिका

### योगदृष्टि समुच्चय

मंगलाचरण	१	दीप्रा दृष्टि	१७
इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग	१	स्थिरा दृष्टि	४६
योग दृष्टियाँ	४	कान्ता दृष्टि	५०
औष दृष्टि	४	प्रभा दृष्टि	५३
योग दृष्टियों का स्वरूप	५	परा दृष्टि	५५
मित्रा दृष्टि	६	मुक्ततत्त्व मीमांसा	५६
तारा दृष्टि	१२	कुलयोगी आदि का स्वरूप	६६
बला दृष्टि	१५		

### योगविन्दु

मंगलाचरण	८१	सम्यक् दृष्टि और बोधिसत्त्व	१५४
योग : असंकीर्ण साधना-पथ	८१	कालातीत का मन्तव्य	१६२
योग के भेद	८६	भाग्य तथा पुरुषार्थ	१६६
योग का महात्म्य	९०	चारित्र्यी	१७६
अध्यात्म	९६	ध्यान	१८१
लोकपक्ति	१०२	समता	१८२
गोपेन्द्र का अभिमत	१०६	तात्त्विक : अतात्त्विक	१८६
पूर्वसेवा	१०६	साम्भव : अनास्रव	१८५
असदनुष्ठान	१२२	उपसंहार	१८६
सदनुष्ठान	१२४	जप	१८७
बन्ध-विचार	१२५	योग्यतांकन	१८६
अध्यात्म-जागरण	१२७	देव-वन्दन	१६१
अपुनर्बन्धक स्वरूप	१२८	प्रतिक्रमण	१६२
भिन्नग्रन्थि	१३५	भावनानुचिन्तन	१६३
विद्या शुद्ध अनुष्ठान	१३७	वृत्तिसंक्षय	१६४
सम्यक् दृष्टि स्वरूप	१४६	सर्वज्ञवाद	२०२
तीन करण	१५२	परिणामित्व	२२५

## योगशतक

मंगलाचरण	२३३	उपदेश : नियम	२४४
निश्चय-योग	२३३	अरति-निवारण	२४७
व्यवहार-योग	२३४	नवाभ्यासी की प्रमुखचर्या	२४८
योग के अधिकारी	२३५	कर्म-प्रसंग	२४८
अपुनर्बन्धक आदि की पहचान		दोष-चिन्तन	२५०
सामायिक : शुद्धि, अशुद्धि	२३६	सच्चिन्तन	२५५
अधिकारी भेद	२४०	आहार	२५६
प्रथम श्रेणी का साधक	२४१	यौगिक लब्धियाँ	२५७
द्वितीय श्रेणी का साधक	२४२	मनोभाव का वैशिष्ट्य	२५६
तृतीय श्रेणी का साधक	२४२	विकास : प्रगति	२६१
गृही साधक	२४३	काल-ज्ञान	२६३
समाचारी	२४३	अनशनशुद्धि में आत्मपराक्रम	२६५

## योगविशिका

योग की परिभाषा	२६७	अनुभाव-प्राकट्य	२७७
योग के भेद	२६७	अनुष्ठान-विश्लेषण	२७३

परिशिष्ट २७७ से २६२

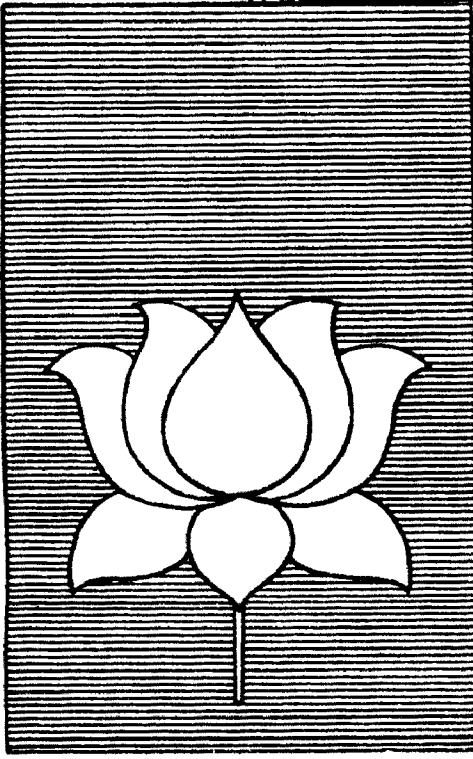
योगदृष्टिसमुच्चय की श्लोकानुक्रमणिका

योगबिन्दु की श्लोकानुक्रमणिका

योगशतक की श्लोकानुक्रमणिका

योगविशिका की श्लोकानुक्रमणिका





# योगदृष्टि समुच्चय



## योगदृष्टि समुच्चय

मंगलाचरण—

[ १ ]

नत्वेच्छायोगतोऽयोगं योगिगम्यं जिनोत्तमम् ।  
वीरं वक्ष्ये समासेन योगं तद्दृष्टिभेदतः ॥

अयोग—मानसिक, वाचिक, कायिक योग—प्रवृत्ति से अतीत, योगिगम्य—योग-साधकों द्वारा प्राप्य—अनुभाव्य, जिन-श्रेष्ठ भगवान् महावीर को इच्छायोग से अन्तर्भावपूर्वक नमस्कार कर मैं योग का योग-दृष्टियों के रूप में विश्लेषण करते हुए संक्षेप में विवेचन करूँगा ।

त्रियोग—(इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्ययोग)

[ २ ]

इहैवेच्छाद्वियोगानां स्वरूपमभिधीयते ।  
योगिनामुपकाराय द्यवत्तं योगप्रसंगतः ॥

यहाँ योग के प्रसंग में, योग-साधकों के लाभार्थ इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग के स्वरूप का विशद रूप में वर्णन किया जा रहा है ।

[ ३ ]

कर्तुमिच्छोः श्रुतार्थस्य ज्ञानिनोऽपि प्रमादतः ।  
विकलो धर्मयोगो यः स इच्छायोग उच्यते ॥

जो धर्म—आत्मोपलब्धि की इच्छा लिये है, जिसने आगम-अर्थ—शास्त्रीय सिद्धान्तों का श्रवण किया है, ऐसे ज्ञानी पुरुष का प्रमाद के कारण विकल—असम्पूर्ण धर्मयोग इच्छायोग कहा जाता है ।



[ ४ ]

० शास्त्रयोगस्त्वह ज्ञेयो यथाशक्त्यप्रमादिनः ।  
श्राद्धस्य तीव्रबोधेन वचसाऽविकलस्तथा ॥

यथाशक्ति प्रमादरहित, श्रद्धावान्, तीव्र बोधयुक्त पुरुष के आगम-  
वचन—शास्त्र-ज्ञान के कारण अविकल—अखण्ड अथवा काल आदि की  
अविकलता—अखण्डता के कारण अविकल—सम्पूर्ण योग शास्त्रयोग कहा  
जाता है ।

[ ५ ]

शास्त्रसन्दर्शितोपायस्तदतिक्रान्तगोचरः ।  
शक्त्युद्रेकाद्विशेषेण सामर्थ्याख्योऽयमुत्तमः ॥

शास्त्र में जिसका उपाय बताया गया है, शक्ति के उद्रेक—जागरण—  
प्रबलता के कारण जिसका विषय शास्त्र से भी अतिक्रान्त—अतीत—पर है,  
वैसा उत्तम योग सामर्थ्य-योग कहा जाता है ।

[ ६ ]

सिद्ध्याख्यपदसम्प्राप्तिहेतुभेदा न तत्त्वतः ।  
शास्त्रादेवावगम्यन्ते सर्वथैवेह योगिभिः ॥

सिद्धि—चरम सफलता रूप पद को प्राप्त करने के हेतुओं के भेद—  
कारणों का तत्त्वतः विश्लेषण योगीजन केवल शास्त्रों के माध्यम से ही  
सम्पूर्णतया नहीं जान पाते ।

[ ७-८ ]

सर्वथा तत्परिच्छेदात् साक्षात्कारित्वयोगतः ।  
तत्सर्वज्ञत्वसंसिद्धेस्तदा सिद्धिपदातितः ॥

न चैतदेवं यत्तस्मात् प्रातिभज्ञानसंगतः ।  
सामर्थ्ययोगोऽवाचरोऽस्ति सर्वज्ञत्वादिसाधनम् ॥

सर्वथा शास्त्र द्वारा तत्—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान आदि अधिगत  
हो जायें तो साक्षात्कारित्व—प्रत्यक्ष—इन्द्रियनिरपेक्ष ज्ञान का उद्भव

होगा । उससे सर्वज्ञभाव सधेगा और वैसा होने पर सिद्धि—परम सफलता—मुक्तता प्राप्त होगी पर वस्तुतः ऐसा होता नहीं । इसलिए प्रातिभ ज्ञान—प्रतिभा या असाधारण आत्म-ज्योति से उत्पन्न ज्ञान—आत्मानुभव या स्वसंवेदन के अद्भुत प्रकाश—अनन्यं तत्त्वचिन्तन, दीप्ति से संयुक्त सामर्थ्य-योग ही सर्वज्ञता आदि का हेतु है । सामर्थ्ययोग की विशेषता—सूक्ष्म स्वरूप शब्दों द्वारा नहीं कहा जा सकता ।

[ ६ ]

द्विधाऽयं धर्मसंन्यास - योगसंन्याससंज्ञितः ।  
क्षयोपशमिका धर्मा योगाः कायादिकर्म तु ॥

सामर्थ्ययोग धर्मसंन्यास और योगसंन्यास के रूप में दो प्रकार का है । क्षयोपशम से उत्पन्न स्थिति धर्म है तथा देह आदि का कर्म योग है ।

[ १० ]

द्वितीयापूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।  
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ॥

पहला—धर्मसंन्यास—तात्त्विक धर्मसंन्यास द्वितीय अपूर्वकरण में अर्थात् ग्रन्थिभेदरूप प्रथम अपूर्वकरण के पश्चात् क्षयक-श्रेणी-आरोहण में सधता है ।

वेदनीय आदि कर्मों की आयुष्य कर्म की तुलना में अधिक स्थिति देख केवली भगवान् द्वारा उन्हें समंजस करने हेतु कर्मों की उदीरणा, जिससे समुद्घात द्वारा वे शीघ्र क्षीण किये जा सकें, आयोज्यकरण है । आयोज्यकरण से आगे योगसंन्यास सधता है ।

[ ११ ]

अतस्त्वयोगो योगानां योगः पर उदाहृतः ।  
मोक्षयोजनभावेन सर्वसंन्यासलक्षणः ॥

इसलिए अयोग—मानसिक, वाचिक, कायिक कर्म का सर्वथा राहित्य योगों में परम-सर्वोत्कृष्ट है क्योंकि वह आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है । वह सर्वसंन्यासमय है । आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ वहाँ छूट जाता है ।

योग-दृष्टियाँ—

[ १२ ]

एतत् त्रयमनाश्रित्य विशेषेणैतदुद्भवाः ।  
योगदृष्टय उच्यन्त अष्टौ सामान्यतस्तु ताः ॥

इन तीनों—इच्छायोग, शास्त्रयोग तथा सामर्थ्ययोग का सीधा आधार लिए बिना, पर उन्हीं से विशेष रूप से निःसृत दृष्टियाँ योगदृष्टियाँ कही जाती हैं। वे सामान्यतः आठ प्रकार की हैं।

[ १३ ]

मित्रा तारा बला दीप्रा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।  
नामानि योगदृष्टीनां लक्षणं च निबोधत ॥

उन आठ योगदृष्टियों के नाम इस प्रकार हैं—१. मित्रा, २. तारा, ३. बला, ४. दीप्रा, ५. स्थिरा, ६. कान्ता, ७. प्रभा तथा ८. परा। उनके लक्षण समझिए।

ओघ-दृष्टि—

[ १४ ]

समेघामेघरात्यादौ सग्रहाद्यभंकादिवत् ।  
ओघदृष्टिरिह ज्ञेया मिथ्यादृष्टीतराश्रया ॥

बादल भरी रात, बादलों से शून्य रात, बादल सहित दिवस, बादल रहित दिवस, ग्रह-पीड़ित दर्शक, ग्रह बाधा रहित स्वस्थ दर्शक, बाल दर्शक, वयस्क दर्शक, मोतियाबिन्द आदि से उपहत नेत्र दर्शक, अनुपहत नेत्र दर्शक—इन आपेक्षिक भिन्नताओं के कारण जैसे वस्तु-दर्शन में विशदता की दृष्टि से तरतमता, न्यूनाधिकता होती है, उसी तरह ओघ-दृष्टि—संसार-प्रवाह-पतित दृष्टि—सामान्य दृष्टि भिन्न-भिन्न प्रकार की है।

(ओघ-दृष्टि से ऊपर उठकर साधक योग-दृष्टि में प्रवेश करता है।)

योगदृष्टियों का स्वरूप

[ १५ ]

तृणगोमयकाष्ठाग्निकणदीपप्रभोपमा ।  
रत्नतारार्कचन्द्राभा सद्दृष्टेर्दृष्टिरष्टधा ॥

सद्दृष्टा पुरुष की दृष्टि बोध-ज्योति की विशदता के विकास की अपेक्षा से घास, कण्डे तथा काठ के अग्नि कण, दीपक की प्रभा, रत्न, तारे, सूर्य और चन्द्र की आभा के सदृश क्रमशः मित्रा, तारा, बला, दीप्रा स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा रूप में आठ प्रकार की है ।

[ १६ ]

यमादियोगयुक्तानां खेदादिपरिहारतः ।  
अद्वेषादिगुणस्थानं क्रमेणैषा सतां मता ॥

यम, नियम आदि योगांगों के साधक, खेद, उद्वेग आदि दोषों के परिहारक सत्पुरुषों के क्रमशः अद्वेष, जिज्ञासा आदि गुणों की आधार-स्थानीया ये—मित्रा आदि योग-दृष्टियाँ निष्पन्न होती हैं ।

[ १७ ]

सच्छ्रद्धासंगतो बोधो दृष्टिरित्यभिधीयते ।  
असत्प्रवृत्तिव्याघातात् सत्प्रवृत्तिपदावहः ॥

सत् श्रद्धा से युक्त बोध दृष्टि कहा जाता है । उससे असत् प्रवृत्ति की रुकावट होती है तथा सत् प्रवृत्ति में गति होती है ।

[ १८ ]

इयं चावरणापायभेदादष्टविधा स्मृता ।  
सामान्येन विशेषास्तु भूयान्सः सूक्ष्मभेदतः ॥

आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ढकने वाले आवरण के दूर होते जाने की तरतमता की दृष्टि से सामान्यतः स्थूल-रूप में दृष्टि आठ प्रकार की मानी गई है । सूक्ष्मता में जाने पर उसके बहुत—अनेक भेद होते हैं ।

[ १९ ]

प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो नोत्तरास्तथा ।  
सापाया अपि चैतास्तत्प्रतिपातेन नेतराः ॥

पहली चार दृष्टियाँ—मित्रा, तारा, बला तथा दीप्रा, प्रतिपात—भ्रंश युक्त हैं अर्थात् जो साधक उन्हें प्राप्त कर लेता है, उनसे भ्रष्ट भी हो सकता है। पर भ्रष्ट होता ही हो, ऐसा नहीं है। भ्रंश या पतन की संभावना के कारण ये चार दृष्टियाँ सापाय—अपाय या बाधायुक्त कही जाती हैं।

आगे की चार दृष्टियाँ—स्थिरा, कान्ता, प्रभा तथा परा प्रतिपात-रहित, अतएव बाधारहित हैं।

[ २० ]

प्रयाणभङ्गाभावेन निशि - स्वापसमः पुनः ।  
विद्यातो दिव्यभावतश्चरणस्योपजायते ॥

अप्रतिपाती दृष्टि प्राप्त होने पर योगी का अपने मोक्षरूप लक्ष्य की ओर अनवरत प्रयाण चालू हो जाता है। हाँ, जिस प्रकार यात्रा पर आगे बढ़ते पथिक को रात में कुछ एक स्थानों पर रुकना पड़ता है, जो किसी अपेक्षा से उसकी यात्रा का अंशतः विघात है, उसी प्रकार मोक्षोन्मुख योगी को अवशिष्ट कर्म-भोग पूरा कर लेने हेतु बीच में देव-जन्म आदि में से गुजरना होता है, जो आपेक्षिक रूप में चरण-चारित्र्य-लक्ष्य की ओर गतिशीलता में विघात या रुकावट है। पर, इतना निश्चित है, उसके इस प्रयाण का समापन-लक्ष्य-प्राप्ति में होता है।

मित्रा-दृष्टि—

[ २१ ]

मित्रायां दशनं मन्दं यम इच्छादिकस्तथा ।  
अस्तेदो देवकार्यादावद्वेषश्चापरत्र तु ॥

समस्त जगत् के प्रति मित्र भाव के उद्बोधन के कारण यह दृष्टि मित्रादृष्टि के रूप में अभिहित हुई है। इस दृष्टि के प्राप्त हो जाने पर

सत् श्रद्धोन्मुख बोध तो होता है पर वह मन्दता लिए रहता है। मित्रादृष्टि में स्थित साधक योग के प्रथम अंग यम<sup>१</sup> के प्रारम्भिक अभ्यास इच्छादि यम (यम के अभ्यासगत भेद-इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम और सिद्धियम) को प्राप्त कर लेता है। देवकार्य, गुरुकार्य, धर्मकार्य में वह अखेद भाव—अपरिश्रान्तभाव से लगा रहता है। उसके खेद नामक आशय-दोष अपगत हो जाता है—टल जाता है। जो देवकार्य आदि नहीं करते, उनके प्रति उसे द्वेष या मत्सर-भाव नहीं होता।

[ २२ ]

करोति योगबीजानामुपादानमिह स्थितः ।  
अवन्ध्यमोक्षहेतूनामिति योगविदो विदुः ॥

योगवेत्ताओं को यह सुविदित है कि इस (मित्रा) दृष्टि में स्थित साधक मोक्ष के अमोघ—अचूकहेतु भूत योग-बीजों को स्वीकार करता है।

[ २३ ]

जिनेषु कुशलं चित्तं तन्नमस्कार एव च ।  
प्रणामादि च संशुद्धं योगबीजमनुत्तमम् ॥

अर्हतों के प्रति शुभभावमय चित्त, उन्हें नमस्कार तथा मानसिक, वाचिक, कायिक शुद्धिपूर्ण प्रणमन आदि भक्ति-भावमय प्रवृत्ति परमोत्कृष्ट योग-बीज हैं।

[ २४ ]

चरमे पुद्गलावर्ते तथाभव्यत्वपाकतः ।  
संशुद्धमेतन्नियमान्नान्यदापीति तद्विदः ॥

१ अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।

तथाभव्यता—बीज-सिद्धि आदि की अपेक्षा से आत्मा की बहुमुखी योग्यता के परिपाक से चरमपुद्गलावर्त<sup>१</sup> के समय में ही, अन्यथा नहीं, कुशल चित्त आदि योग-बीज संशुद्ध होते हैं, निपजते हैं, योगवित् ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं, बताते हैं ।

[ २५ ]

उपादेयाधियात्यन्तं संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् ।  
फलाभिसन्धिरहितं संशुद्धं ह्येतदीदृशम् ॥

अत्यन्त उपादेय बुद्धिपूर्वक आहार आदि संज्ञाओं<sup>२</sup> के निरोध से युक्त, फल की कामना से रहित स्थिति संशुद्ध होने का लक्षण है ।

[ २६ ]

आचार्यादिष्वपि ह्येतद्विशुद्धं भावयोगिषु ।  
वैयावृत्यं च विधिवच्छुद्धाशयविशेषतः ॥

भावयोगी—यथार्थतः जिनकी आत्मा योग—अध्यात्म-योग में परिणत है, ऐसे आचार्य आदि सत्पुरुषों की विशुद्ध—कुशल चित्त तथा शुद्ध आशयपूर्वक विधिवत् सेवा का भी योगबीजों में समावेश है ।

[ २७ ]

भवोद्देशश्च सहजो द्रव्याभिग्रहपालनम् ।  
तथा सिद्धान्तमाश्रित्य विधिना लेखनादि च ॥

१ जीव द्वारा ग्रहण-त्याग किये जाते लोक-व्याप्त समस्त पुद्गलों का एक बार संस्पर्श एक पुद्गलावर्त कहा जाता है । इस क्रम का अन्तिम आवर्त, जिसे भोग चुकने पर जीव को पुनः इस चक्र में नहीं आना पड़ता, चरम-पुद्गलपरावर्त कहा जाता है । इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत 'योगशतक' की ६वीं गाथा के सन्दर्भ में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है ।

२ संज्ञाएँ—१. आहार-संज्ञा, २. भय-संज्ञा, ३. मैथुन-संज्ञा, ४. परिग्रह-संज्ञा, ५. क्रोध-संज्ञा, ६. मान-संज्ञा, ७. माया-संज्ञा, ८. लोभ-संज्ञा, ९. ओष (सामान्य लोक-प्रवाह—गतानुगतिकता के अनुरूप जीवनक्रम)-संज्ञा तथा १०. लोक-संज्ञा ।

सहजरूप में संसार के प्रति वैराग्य, द्रव्य अभिग्रह—सत्पात्र को निर्दोष आहार, औषधि, उपकरण आदि का सम्यक् दान तथा सिद्धान्त या सत् शास्त्रों का लेखन आदि योगबीज में आते हैं ।

[ २८ ]

लेखना पूजना दानं श्रवणं वाचनोद्ग्रहः ।

प्रकाशनाथ स्वाध्यायश्चिन्तना भावनेति च ॥

गत (सत्ताईसवें) श्लोक में लेखना के साथ आये आदि शब्द से सत् शास्त्रों के लेखन के साथ-साथ उनकी पूजा, सत्पात्र को दान, शास्त्र-श्रवण, वाचन, विधिपूर्वक-शुद्ध उपधान-क्रिया आदि द्वारा शास्त्रों का उद्ग्रहण—सम्मान आत्मार्थी जिज्ञासुजनों में शास्त्रों का प्रकाशन-प्रसार, स्वाध्याय, चिन्तन-मनन तथा पुनः-पुनः आवर्तन ग्राह्य हैं ।

[ २९ ]

बीजश्रुतौ च संवेगात् प्रतिपत्तिः स्थिराशया ।

तदुपादेयभावश्च परिशुद्धो महोदयः ॥

योग-बीजों के सुनने पर उत्पन्न भावोल्लास—श्रद्धोत्कर्ष से जो तद्विषयक मान्यता सुस्थिर होती है, वह भी योग-बीजों में समाविष्ट है । योग-बीजों के प्रति शुद्ध एवं समुन्नत उपादेय भाव भी योग-बीजों के अन्तर्गत है ।

[ ३० ]

एतद्भावमले क्षीणे प्रभूते जायते नृणाम् ।

करोत्यव्यक्तचेतन्यो महत्कार्यं न यत् क्वचित् ॥

जिन मनुष्यों का भाव-मल—आन्तरिक मलिनता अत्यन्त क्षीण हो जाती है, उनमें योग-बीज उत्पन्न होते हैं—वे योग-बीज के अधिकारी हैं । जिस मनुष्य की चेतना अव्यक्त—अजागरित—अस्फुटित है, वह योग-बीज स्वायत्त करने जैसा महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकता ।



[ ३१ ]

चरमे पुद्गलावर्ते क्षयश्चात्योपपद्यते ।  
जीवानां लक्षणं तत्र यत एतदुदाहृतम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में भाव-मल का क्षय होता है। उस स्थिति में वर्तमान जीवों का लक्षण इस प्रकार (अग्रिम श्लोक में कथ्यमान) है।

[ ३२ ]

दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो गुणवत्सु च ।  
औचित्यात्सेवनं चैव सर्वत्रैवाविशेषतः ॥

दुःखी प्राणियों के प्रति अत्यन्त दया-भाव, गुणीजनों के प्रति अद्वेष—अमत्सर-भाव तथा सर्वत्र जहाँ जैसा उचित हो, बिना किसी भेद-भाव के व्यवहार करना, सेवा करना—यह उन जीवों की पहचान हैं जिनका भावमल क्षीण हो जाता है।

[ ३३ ]

एवंविधस्य जीवस्य भद्रमूर्तेर्महात्मनः ।  
शुभो निमित्त-संयोगो जायतेऽवंचकोदयात् ॥

ऐसे भद्रमूर्ति—सौम्य स्वरूप, महात्मा—उत्तम पुरुष को अवंचकोदय के कारण शुभ निमित्त का संयोग प्राप्त होता है।

[ ३४ ]

योगक्रियाफलाख्यं यत् श्रूयतेऽवंचकत्रयम् ।  
साधूनाश्रित्य परमभिषुलक्ष्यक्रियोपमम् ॥

साधकों में तीन अवंचक—योगावंचक, क्रियावंचक तथा फलावंचक प्राप्त होते हैं, यों सुना जाता है।

जो वंचना—प्रवंचना न करे, कभी न चूके, उलटा न जाय, बाण की तरह सीधा अपने लक्ष्य पर पहुँचे, उसे अवंचक कहा गया है। सद्गुरु का सुयोग प्राप्त होना योगावंचक है। उनका वन्दन, नमन, सेवा, सत्कार आदि शुभ क्रियाएँ क्रियावंचक है। ऐसे उत्तम कार्य का फल, जो अमोघ होता है, फलावंचक है।

[ ३५ ]

एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं समये स्थितम् ।  
अस्य हेतुश्च परमस्तथा भावमलाल्पता ॥

सत्प्रणाम—सत्पुरुषों को प्रणमन, उनकी वैयावृत्य—सेवा आदि सत्कार्यों के परिणामस्वरूप अवञ्चकत्रय की प्राप्ति होती है। सत्प्रणाम आदि उत्तम कार्यों का मुख्य हेतु भावमल—वैचारिक मलिनता की अल्पता है।

[ ३६ ]

नास्मिन् घने यतः सत्सु, तत्प्रतीतिर्महोदया ।  
किं सम्यग् रूपमादत्ते कदाचिन्मन्दलोचनः ॥

जब तक भावमल सघनता लिए रहता है, तब तक साधक के मन में सत्पुरुषों के प्रति महोदय—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय या अन्तःश्रद्धारूप प्रतीति नहीं होती। जिनकी नेत्र-ज्योति मन्द है, ऐसा पुरुष क्या दृश्य पदार्थों का रूप भलीभाँति ग्रहण कर सकता है ?

[ ३७ ]

अल्पव्याधिर्यथा लोके तद्विकारैर्न बाध्यते ।  
चेष्टते चेष्ट-सिद्धयर्थं वृत्त्यैवायं तथा हिते ॥

अल्पव्याधि—जिसके बहुत थोड़ी बीमारी बाकी रही है—जो लगभग स्वस्थ जैसा है, वह अवशिष्ट रहे अति साधारण रोग के मामूली विकारों से बाधित नहीं होता। वह इच्छित कार्य साधने के लिए प्रयत्नशील रहता है। उसी प्रकार वह योगी—योग साधक वृत्ति—धृति, श्रद्धा, सुविद्विषा—सत्त्व चर्चा तथा त्रिज्ञप्ति—विशिष्ट ज्ञानानुभूति—इन चार अन्तर्वृत्तियों के साथ हितकर कार्य में प्रवृत्त होता है।

[ ३८ ]

यथाप्रवृत्तिकरणे चरमेऽल्पमलत्वतः ।  
आसन्नग्रन्थिभेदस्य समस्तं जायते ह्यदः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण में अन्तर्मल की अल्पता के कारण उस साधक के, जो ग्रन्थिभेद के लगभग सन्निकट पहुँच चुका हो, यह सारी स्थिति निष्पन्न होती है।

[ ३६ ]

अपूर्वासन्नभावेन व्यभिचारवियोगतः ।  
तत्त्वतोऽपूर्वमेवेदमिति योगविदो विदुः ॥

अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण अपूर्वकरण के साथ सन्निकटता लिए रहता है। अर्थात् अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद निश्चित रूप से अपूर्वकरण आता है। इसमें कोई व्यभिचार—वैपरीत्य या उलटफेर नहीं होता। अपूर्वकरण अन्तःशुद्धि की दृष्टि से अपने आप में सर्वथा वैसी नवीनता या मौलिकता लिए रहता है, जो पहले कभी निष्पन्न नहीं हुई, इसलिए उसकी 'अपूर्व' संज्ञा तत्त्वतः संगत है। योगवेत्ता ऐसा जानते हैं।

[ ४० ]

प्रथमं यद्गुणस्थानं सामान्येनोपवर्णितम् ।  
अस्यां तु तदवस्थायां मुख्यमन्वर्थयोगतः ॥

मित्रादृष्टि में आत्मगुणों की स्फुरणा के रूप में अन्तर्विकास की दिशा में जो प्रथम उद्वेलन होता है, उस अवस्था से यथार्थतः प्रथम गुणस्थान की मुख्यता मानी जाती है। अर्थात् आत्म-अभ्युदय या अध्यात्म-योग की यह पहली दशा है, जिसमें यद्यपि दृष्टि तो पूर्णतया सम्यक् नहीं हो पाती पर अन्तर्जगिरण तथा गुणात्मक प्रगति की यात्रा का यहाँ से शुभारम्भ हो जाता है।

तारा-दृष्टि

[ ४१ ]

तारायां तु मनाक् स्पष्टं नियमश्च तथाविधः ।  
अनुद्वेगो हितारम्भे जिज्ञासा तत्त्वगोचरा ॥

तारादृष्टि में बोध मित्रादृष्टि की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होता है। योग

का दूसरा अंग नियम वहाँ सधता है अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथा परमात्म-चिन्तन—जीवन में फलित होते हैं।<sup>१</sup> आत्म-हितकर प्रवृत्ति में अनुद्वेग—उद्वेग का अभाव अर्थात् उत्साह तथा तत्त्वोन्मुखी जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

[ ४२ ]

भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना प्रीतिर्योगकथास्वलम् ।  
शुद्धयोगेषु नियमाद् बहुमानश्च योगिषु ॥

इस दृष्टि में योग कथा—योग सम्बन्धी चर्चा में साधक अच्छिन्न—विच्छेद रहित या अखण्डित प्रीति—अभिरुचि लिए रहता है। शुद्ध योगनिष्ठ योगियों का वह नियमपूर्वक बहुमान करता है।

[ ४३ ]

यथाशक्त्युपचारश्च योगवृद्धिफलप्रदः ।  
योगिनां नियमादेव तदनुग्रहधीयुतः ॥

शुद्ध योगनिष्ठ योगियों के बहुमान के साथ-साथ वह साधक उनके प्रति यथाशक्ति सेवा-भाव लिए रहता है—उनकी सेवा करता है। इससे उसे अपनी योग-साधना में निश्चय ही विकासात्मक फल प्राप्त होता है तथा शुद्ध योगनिष्ठ सत्पुरुषों का अनुग्रह मिलता है।

[ ४४ ]

लाभान्तरफलश्चास्य श्रद्धायुक्तो हितोदयः ।  
क्षुद्रोपद्रवहानिश्च शिष्टा-सम्मतता तथा ॥

सेवा से और भी लाभ प्राप्त होते हैं—श्रद्धा का विकास होता है, आत्महित का उदय होता है, क्षुद्र—तुच्छ उपद्रव मिट जाते हैं एवं शिष्टजनों से उसे मान्यता प्राप्त होती है।

१ शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

[ ४५ ]

भयं नातीव भवजं कृत्यहानिर्न चोचिते ।  
तथानाभोगतोऽप्युच्चर्न चाप्यनुचितक्रिया ॥

इस दृष्टि में अवस्थित पुरुष को भव—जन्म मरण रूप आवागमन का अत्यन्त भय नहीं होता । उचित स्थान में कृत्य-हानि—अकार्यकारिता नहीं होती अर्थात् जहाँ जैसा करना है, वह वहाँ वैसा करता है । अनजाने भी उससे कोई अनुचित क्रिया नहीं होती ।

[ ४६ ]

कृत्येऽधिकेऽधिकगते जिज्ञासा लालसान्विता ।  
तुल्ये निजे तु विकले संत्रासो द्वेषवर्जितः ॥

जो गुणों में अधिक या आगे बढ़े हुए हैं, जिनके कार्य भी वैसे ही हैं, उनके प्रति साधक के मन में लालसापूर्ण—उल्लासयुक्त जिज्ञासा उत्पन्न होती है । अपने विकल—कमीयुक्त कार्य के प्रति उसके मन में द्वेषरहित संत्रास होता है अर्थात् वह अपनी कमियों के लिए अन्तर्तम में संत्रास का अनुभव करता है, मन में जरा भी उनके लिए द्वेष-भाव नहीं लाता ।

[ ४७ ]

दुःखरूपो भवः सर्व उच्छेदोऽस्य कुतः कथम् ।  
चित्रा सतां प्रवृत्तिश्च साशेषा ज्ञायते कथम् ॥

यह सारा संसार दुःख-रूप है । किस प्रकार इसका उच्छेद हो ? सत्पुरुषों की विविध प्रकार की आश्चर्यकर सत्प्रवृत्तियों का ज्ञान कैसे हो ? साधक ऐसा सात्त्विक चिन्तन लिए रहता है ।

[ ४८ ]

नास्माकं महती प्रज्ञा सुमहान् शास्त्रविस्तरः ।  
शिष्टाः प्रमाणनिह तदित्यस्यां मन्यते सदा ॥

उनका चिन्तन-क्रम आगे बढ़ता है—हमारे में विशेष बुद्धि नहीं है, न शास्त्राध्ययन ही विस्तृत है इसलिए सत्पुरुष ही हमारे लिए प्रमाणभूत हैं ।

बला दृष्टि —

[ ४९ ]

सुखासनसमायुक्तं बलायां दर्शनं बद्धम् ।  
परा च तत्त्वशुश्रूषा न क्षेपो योगगोचरः ॥

बलादृष्टि में सुखासनयुक्त दृढ़ दर्शन—सद्बोध प्राप्त होता है, परम तत्त्व शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की अत्यन्त तीव्र इच्छा जागती है तथा योग की साधना में अक्षेप—क्षेप नामक चित्त-दोष या चैतसिक विक्रम का अभाव होता है ।

इस दृष्टि में योग के तीसरे अंग आसन<sup>१</sup> के सधने की बात कही गयी है । यहाँ सुखासन शब्द का प्रयोग इस बात का सूचक है कि जिस प्रकार सुखपूर्वक शान्ति से बैठा जा सके, उस आसन में योगी को स्थित होना चाहिए । इससे मन में उद्वेग नहीं होता । ध्यान आदि में चित्त स्थिर रहता है ।

बाह्य आसन के साथ-साथ आन्तरिक आसन की बात भी यहाँ समझने योग्य है । आध्यात्मिक दृष्टि से पर-वस्तु में जो आसन या स्थिति है, वह दुःखप्रद है । इसलिए वह दुःखासन है । अपने सहज स्वरूप में स्थित होना पारमार्थिक दृष्टि से सुखासन—सुखमय आसन है ।

[ ५० ]

नास्यां सत्यामसत्तृष्णा प्रकृत्यैव प्रवर्तते ।  
तद्भावाच्च सर्वत्र स्थितमेव सुखासनम् ॥

इस दृष्टि के आ जाने पर असत् पदार्थों के प्रति तृष्णा सहज ही प्रवृत्तिशून्य हो जाती है अर्थात् स्वतः रुक जाती है । यों तृष्णा का अभाव हो जाने पर साधक की सब कहीं सुखमय—आत्मिक उल्लासमय स्थिति बन जाती है ।

१ स्थिरसुखमासनम् ।

[ ५१ ]

अत्वरपूर्वकं सर्वं गमनं कृत्यमेव वा ।  
प्रणिधानसमायुक्तमपायपरिहारतः ॥

उस साधक के जीवन में स्थिरता का ऐसा सुखद समावेश हो जाता है कि उसका गमन, हलन-चलन त्वरा—उतावलेपन से रहित होता है । दृष्टि आदि में दोष न रह जाने से उसके सब कार्य मानसिक सावधानी लिए रहते हैं ।

[ ५२ ]

कान्तकान्तासमेतस्य दिव्यगेयश्रुतौ यथा ।  
यूनो भवति शुश्रूषा तथास्यां तत्त्वगोचरा ॥

सुन्दर रमणी से युक्त युवा पुरुष को जैसे दिव्य संगीत सुनने की उत्कण्ठा रहती है, उसी प्रकार इस दृष्टि से युक्त साधक को तत्त्व सुनने की उत्सुकता बनी रहती है ।

[ ५३ ]

बोधाम्भः स्रोतसश्चैषा सिरातुल्या सतां मता ।  
अभावेऽस्याः श्रुतं व्यर्थमसिरावनिकूपवत् ॥

सत्पुरुषों का ऐसा मानना है कि यह शुश्रूषा बोधरूपी जल के स्रोत की सिरा—भूमिवर्ती जलनालिका के समान है । इसके न होने पर सारा सुना हुआ उस कुए की तरह व्यर्थ है, जो जल की अन्तर्नालिका रहित भूमि में बना हो ।

[ ५४ ]

श्रुताभावेऽपि भावेऽस्याः शुभभावप्रवृत्तितः ।  
फलं कर्मक्षयाख्यं स्यात्परबोधनिबन्धनम् ॥

यदि श्रवण का अभाव हो—तत्त्व सुनने का योग न मिल पाये तो भी शुश्रूषा—तत्त्व-श्रवण की उत्कण्ठा का शुभभाव की प्रवृत्ति के कारण कर्मक्षय रूप फल होता है, जो परम बोध का कारण है ।

[ ५५ ]

शुभयोगसमारम्भे न क्षेपोऽस्यां कदाचन ।  
उपायकौशलं चापि चारु तद्विषयं भवेत् ॥

इस दृष्टि को प्राप्त कर लेने पर योगी के ध्यान, चिन्तन, मनन आदि शुभ योगमूलक कार्यों में विक्षेप नहीं आता। वह अपने शुभ समारम्भमय उपक्रम में कुशलता—निपुणता प्राप्त करता जाता है।

[ ५६ ]

परिष्कारगतः प्रायो विघातोऽपि न विद्यते ।  
अविघातश्च सावद्यपरिहारःमहोदयः ॥

परिष्कार—उपकरण—अध्यात्म-साधना में उपकारक या सहायक साधनों के सन्दर्भ में उसके इच्छा-प्रतिबन्ध नहीं होता। अर्थात् साधन को ही सब कुछ मानकर वह उसमें अटका नहीं रहता। आत्मसिद्धिरूप साध्य अधिगत करने में सदा प्रयत्नशील रहता है। पापपूर्ण प्रवृत्तियों का वह परित्याग कर देता है अतः योग-साधना में उसके अविघात—इच्छा-प्रतिबन्ध आदि विघ्नों का अभाव हो जाता है। फलतः महान्—उत्कृष्ट आत्म-अभ्युदय सधता है।

दीप्रा-दृष्टि

[ ५७ ]

प्राणायामवती दीप्रा न योगोत्थानवत्यलम् ।  
तत्त्वश्रवणसंयुक्ता सूक्ष्मबोधविर्जिता ॥

दीप्रा दृष्टि में प्राणायाम<sup>१</sup> सिद्ध होता है। वहाँ अन्तरतम में ऐसे प्रशान्त रस का सहज प्रवाह बहता रहता है कि चित्त योग में से उठता नहीं, हटता नहीं, अन्यत्र जाता नहीं। यहाँ तत्त्व-श्रवण सधता है—तत्त्व सुनने-समझने के प्रसंग प्राप्त रहते हैं—केवल बाहरी कानों से नहीं,

१ तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।



अन्तःकरण द्वारा तत्त्व-श्रवण की स्थिति बनती है, अन्तर्ग्राहकता का भाव उदित होता है। पर, सूक्ष्मबोध अधिगत करना अभी बाकी रहता है। वैसी स्थिति नहीं बनती।

प्राणायाम केवल रेचक—श्वास का बाहर निकालना, पूरक—भीतर खींचना तथा कुम्भ या घड़े से पानी की तरह श्वास को भीतर निश्चल-तया रोके रखना—यों बाहरी प्रक्रिया तक ही सीमित नहीं माना जाना चाहिए। बाह्य भाव या परभाव का रेचक—परभाव को अपने में से बाहर निकालना, अन्तरात्मभाव—आत्मस्वरूपानुप्रत्यय भीतर भरना—अन्तरत्न को तन्मूलक चिन्तन-मनन से आपूर्ण करना, उस प्रकार के चिन्तन-मनन को अपने में स्थिर किये रहना—यह भाव-प्राणायाम है, जिसका आत्म-विकास में बहुत बड़ा महत्त्व है।

[ ५८ ]

प्राणेभ्योऽपि गुरुधर्मः सत्यामस्यामस्यामसंशयम् ।  
प्राणांस्त्यजति धर्मार्थं न धर्मं प्राणसंकटे ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक का मनःस्तर इतना ऊँचा हो जाता है कि वह निश्चित रूप से धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है। वह धर्म के लिए प्राणों का त्याग कर देता है पर प्राणवातक संकट आ जाने पर भी धर्म को नहीं छोड़ता।

[ ५९ ]

एक एव सुहृद्धर्मो मृतमप्यनुयाति यः ।  
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥

धर्म ही एक मात्र ऐसा सुहृद्—मित्र है, जो मरने पर भी साथ जाता है। और सब तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाता है, शरीर के साथ कोई भी नहीं जाता।

[ ६० ]

इत्थं सदाशयोपेतस्तत्त्वश्रवणतत्परः ।  
प्राणेभ्यः परमं धर्मं बलादेव प्राण्यते ॥

साधक यों सात्त्विक भावों से आप्यायित हो जाता है। वह तत्त्व-श्रवण में तत्पर रहता है। आत्मबल के सहारे धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता है।

[ ६१ ]

क्षाराम्भस्त्यागतो यद्वन्मधुरोदकयोगतः ।  
बीजं प्ररोहमाधत्ते तद्वत्तत्त्वश्रुतेर्नरः ॥

खारे पानी के त्याग और मीठे पानी के योग से जैसे बीज उग जाता है, उसी प्रकार तत्त्व-श्रवण से साधक के मन में बोध-बीज अंकुरित हो जाता है।

प्ररोह शब्द का एक अर्थ बीज का उगना या अंकुरित होना है, दूसरा अर्थ उपर चढ़ना या आगे बढ़ना भी है। इस दूसरे अर्थ के अनुसार साधक साधना-सोपान पर चढ़ता जाता है अथवा साधना-पथ पर आगे बढ़ता जाता है।

[ ६२ ]

क्षाराम्भस्तुल्य इह च भवयोगोऽखिलो मतः ।  
मधुरोदकयोगेन समा तत्त्वश्रुतिस्तथा ॥

भवयोग—सांसारिक प्रसंग—जागतिक पदार्थ एवं भोग खारे पानी के समान माने गये हैं तथा तत्त्व-श्रवण मधुर जल के समान है।

[ ६३ ]

अतस्तु नियमादेव कल्याणमखिलं नृणाम् ।  
गुरुभक्तिसुखोपेतं लोकद्वयहितावहम् ॥

अतः तत्त्व-श्रवण से नियमतः—निश्चित रूपेण साधक जनों का सम्पूर्ण कल्याण सधता है। इससे गुरुभक्ति रूप सुख प्राप्त होता है और यह ऐहिक तथा पारलौकिक—दोनों अपेक्षाओं से हितकर है।

[ ६४ ]

गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।  
समापत्यादिभेदेन निर्वाणैकनिबन्धनम् ॥

गुरु-भक्ति के प्रभाव से समापत्ति—परमात्मस्वरूप—शुद्ध आत्म-स्वरूप के ध्यान द्वारा तीर्थकर-दर्शन—तीर्थकर स्वरूप का अन्तः-साक्षात्कार होता है, अथवा तीर्थकर-नामकर्म का बन्ध होता है, जिसके फलस्वरूप तीर्थकरभाव की प्राप्ति होती है। यह मोक्ष का अद्वितीय—अमोघ—सुनिश्चित कारण है।

[ ६५ ]

सम्यग्चेत्वादिभेदेन लोके यस्तत्त्वनिर्णयः ।  
वेद्यसंवेद्यपदतः सूक्ष्मबोधः स उच्यते ॥

जीवन का साध्य, उसका यथार्थ हेतु, उसकी परिपुष्टि, तत्त्व का स्वरूप, फल आदि द्वारा ज्ञानी जन तत्त्व का निर्णय करते हैं। वेद्य—वेदने योग्य, जानने योग्य या अनुभव करने योग्य तत्त्व की अनुभूति के कारण वह ज्ञान सूक्ष्मबोध कहा जाता है।

[ ६६ ]

भावाम्भोधिसमुत्तारात्कर्मवज्रविभेदतः ।  
ज्ञेयव्याप्तेश्च कात्स्न्येन सूक्ष्मत्वं नायमन्न तु ॥

संसार-सागर से निस्तार, कर्मवज्र—कर्मरूपी हीरे का विभेद तथा अनन्तधर्मात्मक अखण्ड वस्तु-तत्त्व-रूप ज्ञेय का समग्रता से ग्रहण—यह सब इससे सधता है, इसलिए इसे सूक्ष्मबोध कहा गया है। अर्थात् एतद्रूप सूक्ष्मबोध हो जाने पर साधक अन्ततः जन्म-मरण के चक्र से छूट जाता है। महामोह-रूप दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि टूट जाती है और ज्ञेय तत्त्व सम्पूर्णतया अधिगत हो जाता है। यह इसकी फल-निष्पत्ति है।

यह सूक्ष्मबोध इस दृष्टि में तथा इससे नीचे की दृष्टियों में प्राप्त नहीं होता।

[ ६७ ]

अवेद्यसंवेद्यपदं यस्मादासु तथोल्बणम् ।  
पक्षिच्छायाजलचरप्रवृत्त्याभमतः परम् ॥

पिछली चार दृष्टियों में अवेद्यपद—जानने योग्य को अनुभूत कर पाने की क्षमता का अभाव बहुत प्रबल होता है अतः वेद्यसंवेद्यपद वहाँ नहीं सध पाता । आकाश में उड़ते पक्षी की छाया को पक्षी जानकर पकड़ने का उद्यम करते जलचर जैसी स्थिति साधक की वहाँ होती है । अर्थात् तत्त्वतः वहाँ वेद्यसंवेद्यपद की प्राप्ति नहीं होती । उस दिशा में साधक का प्रयत्न तो रहता है, पर वह यथार्थ सिद्ध नहीं होता ।

[ ६८ ]

अपायशक्तिमालिन्यं सूक्ष्मबोधविबन्धकृत् ।  
नैतद्वतोऽयं तत्त्वत्वे कदाचिदुपजायते ॥

अपाय—जो नरक आदि दुर्गति प्राप्त कराएँ, ऐसे क्लिष्ट कर्मों की शक्ति रूप मलिनता सूक्ष्मबोध प्राप्त होने में बाधक होती है । यह मालिन्य जिसके होता है, उसे सूक्ष्म तत्त्व-बोध कभी अधिगत नहीं होता ।

[ ६९ ]

अपायदर्शनं तस्मात्श्रुतदीपान्न तात्त्विकम् ।  
तदामालंबनं त्वस्य तथा पापे प्रवृत्तितः ॥

आगम एक ऐसा दीपक है, जो मोहरूप अन्धकार से आपूर्ण इस जगत् में समग्र पदार्थों का यथार्थ दर्शन कराता है परन्तु इस दृष्टि में स्थित साधक को अपाय-शक्ति-रूप मलिनता के कारण तत्त्वतः अपाय-दर्शन नहीं होता अर्थात् आत्म-विपरीत स्थिति में ले जाने वाले क्लिष्ट कर्मों को वह यथार्थतः देख नहीं पाता । वह केवल उनकी आभा या आभास मात्र का अनुभव कर पाता है क्योंकि वह तथाप्रकार के पापों में स्वयं लगा है ।

[ ७० ]

अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात् पापे कर्मगिसोऽपि हि ।  
तप्तलोह-पदन्यासतुल्या वृत्तिः क्वचिद्यदि ॥

अवेद्य-संवेद्यपद के प्रतिरूप—वेद्य-संवेद्यपद आगे की चार दृष्टियों में प्राप्त रहता है। वेद्य-संवेद्यपद के परम प्रभाव के कारण साधक पाप-कार्य में प्रायः अप्रवृत्त रहता है। पूर्व-संचित अशुभ कर्मवश कदाचित् पाप में प्रवृत्ति हो भी जाती है, तो वह तपे हुए लोहे पर पैर रखने जैसी होती है। जैसे तपे हुए लोहे पर यदि किसी का पैर टिक जाता है तो वह तत्क्षण वहाँ से हटा लेता है, जरा देर भी टिकाये नहीं रखता। उसी प्रकार साधक की यदि जाने-अनजाने हिंसा आदि पापों में प्रवृत्ति हो जाती है तो वह तत्क्षण सावधान हो जाता है, उधर से अपने को उसी क्षण हटा लेता है।

[ ७१ ]

वेद्यसंवेद्यपदतः संवेगातिशयादिति ।  
चरमैव भवत्येषा पुनर्दुर्गत्ययोगतः ॥

वेद्य-संवेद्यपद प्राप्त हो जाने के कारण तथा तीव्र मोक्षाभिलाषा के कारण साधक द्वारा जो कदाचित् पाप-प्रवृत्ति होती है, वह अन्तिम होती है। दृष्टिविकासक्रम की अग्रिम मंजिल में वह सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है। क्योंकि जैसी स्थिति वह प्राप्त कर चुकता है, उसमें फिर दुर्गति पाने का योग—संभावना नहीं होती।

[ ७२ ]

अवेद्यसंवेद्यपदमपदं परमार्थतः ।  
पदं तु वेद्यसंवेद्यपदमेव हि योगिनाम् ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में पद—पैर टिकाने का स्थान—अध्यात्म-विकास की यात्रा में उत्प्रेरक, उपयोगी स्थान नहीं है। योगियों के लिए वेद्यसंवेद्य पद ही वस्तुतः पद है।

[ ७३ ]

वेद्यं-संवेद्यते यस्मिन्नपायादिनिबन्धनम् ।  
तथाप्रवृत्तिबुद्ध्याऽपि स्त्र्याद्यागमविशुद्ध्या ॥

वहाँ अपाय—आत्माभ्युदय में विघ्नकारक स्त्री आदि वेद्य—वेदन या अनुभव करने योग्य पदार्थ आगमों के अनुशीलन से विशुद्ध हुई अप्रवृत्तिशील बुद्धि द्वारा अनुभूत किये जाते हैं। अर्थात् वेद्य पदार्थों का संवेदन—अनुभवन वहाँ होता है पर उनके प्रति रसात्मक या रागात्मक भाव नहीं होता, जैसा उनका स्वरूप है, मात्र वैसी प्रतीति—अनुभूति वहाँ गतिशील रहती है अतः वैसा अनुभव करने वाली शास्त्रपरिष्कृत बुद्धि आन्तरिक दृष्टि से प्रवृत्तिशून्य ही कही जाती है।

[ ७४ ]

तत्पदं साधववस्थानाद् भिन्नग्रन्थ्यादिलक्षणम् ।  
अन्वर्थयोगतस्तन्त्रे वेद्यसंवेद्यमुच्यते ॥

वह पद साधु अवस्थान—सम्यक् स्थिति लिए होता है। कर्मग्रन्थि-भेद, देशविरति आदि से उसका स्वरूप लक्षित होता है। शास्त्र में (वेद्यसंवेद्य) शाब्दिक अर्थ के अनुरूप ही उसे 'वेद्यसंवेद्य' कहा जाता है।

[ ७५ ]

अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो मतम् ।  
भवाभिनन्दिविषयं समारोपसमाकुलम् ॥

वेद्यसंवेद्यपद से विपरीत—प्रतिरूप अवेद्यसंवेद्यपद है। उसका विषय भवाभिनन्दिता है। अर्थात् भवाभिनन्दी—संसार के राग-रस में रचे-पचे जीवों के साथ उसका लगाव है। इसमें एक पर दूसरे का—स्व पर पर-वस्तु का, पर-वस्तु पर स्व का आरोप करते रहने की वृत्ति बनी रहती है, जो आत्म-परिपन्थी या श्रेयस् के प्रतिकूल है।

[ ७६ ]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।  
अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—पामर वृत्तियुक्त, लाभरति—क्षणिक, निःसार सांसारिक लाभ—धन, भोग्य पदार्थ, भौतिक सुख-सुविधा आदि में आसक्त, दीन—दैन्युक्त, आत्मिक ओजस्विता रहित, रंकवत् अपने को हीन मानने वाला, मत्सरी—गुणद्वेषी, ईर्ष्यालु, भयवान्—सदा भयभ्रान्त रहने वाला, शठ—मायावी, कपटी तथा अज्ञ—अज्ञानी, आत्मस्वरूप के ज्ञान से रहित होता है ।

[ ७७ ]

इत्यसत्परिणामानुबिद्धो बोधो न सुन्दरः ।  
तत्संगादेव नियमाद्विषसंपृक्तान्नवत् ॥

यों असत् परिणामों से संकुल बोध सुन्दर नहीं होता । उन (असत् परिणामों) के संसर्ग से निश्चय ही वह विषमिले अन्न के समान होता है । विषमिश्रित अन्न जैसे पोषक न होकर घातक है, उसी प्रकार वह बोध आत्मा के लिए श्रेयस्कर न होकर विघातक—हानिकारक होता है ।

[ ७८ ]

एतद्वन्तोऽत एवेह विपर्यासपरा नराः ।  
हिताहितविवेकान्धाः खिद्यन्ते साम्प्रतेक्षणः ॥

अतएव अवेद्यसंवेद्ययुक्त मनुष्य विपर्यासपरायण—वस्तु-स्थिति से विपरीत बुद्धि एवं वृत्ति रखनेवाले, हित, अहित के ज्ञान में अन्धवत्—अपना हित, अहित नहीं पहचानने वाले तथा मात्र वर्तमान को ही देखने वाले होते हैं—उनमें जरा भी दूरदर्शिता अथवा अतीत तथा भविष्यमूलक चिन्तन नहीं होता । वे अपनी अयोग्यता एवं अज्ञान के कारण दुःखी होते हैं ।

[ ७६ ]

जन्ममृत्युजराव्याधि रोगशोकाद्युपद्रुतम् ।  
वीक्षमाणा अपि भवं नोद्विजन्तेऽतिमोहतः ॥

जन्म, मृत्यु, वृद्धावस्था, कुष्ठ आदि घोर कष्टकर दुःसाध्य व्याधियाँ, ज्वर, अतिसार, विसूचिका आदि अत्यन्त पीड़ाप्रद रोग, इष्ट-वियोग तथा अनिष्ट-संयोग-जनित दुःसह शोक आदि अनेक उपद्रवों से पीड़ित जगत् को देखते हुए भी वैसे जीव अत्यधिक—प्रगाढ़ मोह के कारण उससे जरा भी उद्विग्न नहीं होते, उसकी भयावहता, विकरालता देख उनके मन में खेद नहीं होता, उससे त्रस्त होकर उससे छूटने की भावना मन में नहीं आती ।

[ ८० ]

कुकृत्यं कृत्यमाभाति कृत्यं चाकृत्यवत् सदा ।  
दुःखे सुखधियाकृष्टा कच्छूकण्डूयकादिवत् ॥

उनको कुकृत्य—बुरा कार्य कृत्य—करने योग्य प्रतीत होता है । जो करने योग्य है, वह उन्हें अकरणीय लगता है । जैसे पाँव (खाज, खुजली) को खुजलाने वाला व्यक्ति खुजला-खुजलाकर खून निकालता जाता है पर वैसे करने में वह अज्ञानवश सुख मानता है, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीव दुःख-मय संसार में करणीय, अकरणीय का भेद भूलकर हिंसा, परिग्रह, भोग आदि अकृत्यों में प्रवृत्त रहते हैं । उनमें सुख मानते हैं ।

[ ८१ ]

यथाकण्डूयनेष्वेषां धीर्न कच्छूनिवर्तने ।  
भोगाङ्गेषु तथैतेषां न तदिच्छापरिक्षये ॥

जैसे पाँव को खुजलाने वालों की बुद्धि मात्र खुजलाने में होती है, पाँव को मिटाने में नहीं, उसी प्रकार भवाभिनन्दी जीवों की बुद्धि भोगांगों—भोग्य विषयों में ही रहती है, विषयों की इच्छा—आसक्ति को मिटाने में नहीं ।



[ ८२ ]

आत्मानं पाशयन्त्येते सदाऽसच्चेष्टया भृशम् ।  
पापधूल्या जडाः कार्यमविचार्यैव तत्त्वतः ॥

ये जड़ जीव तात्त्विक दृष्टि से कार्य-अकार्य का विचार किये बिना बहुलतया असत् चेष्टा—हिंसा, असत्य, चौर्य, कुशील आदि द्वारा अपनी आत्मा को पाप रूपी धूल से मलिन बनाते हैं और स्वयं ही अपने को पाप-मय बन्धनों से बाँधते जाते हैं ।

[ ८३ ]

धर्मबीजं परं प्राप्य मानुष्यं कर्मभूमिषु ।  
न सत्कर्मकृषावस्य प्रयतन्तेऽल्पमेधसः ॥

कर्मभूमि में उत्तम धर्मबीज रूप मानुष्य—मनुष्य-जीवन प्राप्त कर मन्दबुद्धि पुरुष सत्कर्म रूपी खेती में प्रयत्न नहीं करते—दुर्लभ मनुष्य-जीवन का सत्कर्म करने में उपयोग नहीं करते ।

[ ८४ ]

बडिशामिषवत्तुच्छे कुसुखे दारुणोदये ।  
सक्तास्त्यजन्ति सच्चेष्टां धिगहो दारुणं तमः ॥

मच्छीमार द्वारा मछलियों को लुभाने हेतु कांटे में फँसाये हुए मछली के गले के मांस में लुब्ध होकर उसमें मछलियाँ फँस जाती हैं, उसी प्रकार जिसका फल-परिपाक भीषण दुःखमय है, वैसे तुच्छ, कुत्सित सुख में आसक्त हुए—लुभाये हुए मनुष्य सत्-चेष्टा—शुभ प्रवृत्ति या उत्तम कार्य छोड़ देते हैं । उनके अज्ञान रूपी भीषण अन्धकार को धिक्कार है ।

[ ८५ ]

अवेद्यसंवेद्यपदमान्ध्यं दुर्गतिपातकृत् ।  
सत्संगागमयोगेन जेयमेतन्महात्मभिः ॥

अवेद्यसंवेद्यपद वास्तव में अन्धत्व है, जिसके कारण मनुष्य दुर्गति में गिरते हैं । सत्पुरुषों की संगति तथा उनसे आगम-श्रवण, अध्ययन, अनु-

शीलन आदि द्वारा सत्त्वशील पुरुष इस (अवाञ्छनीय) स्थिति को जीत सकते हैं, इसे पराभूत कर सकते हैं ।

[ ८६ ]

जीयमाने च नियमादेर्त्स्मिस्तत्त्वतो नृणाम् ।  
निवर्तते स्वतोऽत्यन्तं कुतर्कविषमग्रहः ॥

अवेद्यसंवेद्य पद के, जो महामिथ्यात्व का कारण है, जीत लिए जाने पर कुतर्क—कुत्सित या कुटिल तर्क—व्यर्थ तर्क-वितर्क, आवेश—अभिनिवेश की पकड़ स्वयं निश्चित रूप में यथार्थतः सर्वथा मिट जाती है अथवा कुतर्क रूप अनिष्ट ग्रह या भयावह प्रेत या दुर्घर्ष मगरमच्छ की पकड़ से मनुष्य सर्वथा छूट जाते हैं ।

[ ८७ ]

बोधरोगः शमापायः श्रद्धाभङ्गोऽभिमानकृत् ।  
कुतर्कश्चेतसो व्यक्तं भावशत्रुरनेकधा ॥

कुतर्क बोध के लिए रोग के समान बाधा-जनक, शम—आत्मशान्ति के लिए अपाय—विघ्न या हानिरूप, श्रद्धा को भग्न करने वाला तथा अभिमान को उत्पन्न करने वाला है । वह स्पष्टतः चित्त के लिए अनेक प्रकार से भाव-शत्रु है—चित्त का अनेक प्रकार से अहित करने वाला है ।

[ ८८ ]

कुतर्कोऽभिनिवेशस्तन्न युक्तो मुक्तिवादिनाम् ।  
युक्तः पुनः श्रुते शीले समाधौ च महात्मनाम् ॥

मुक्तिवादी—मोक्ष की चर्चा करने वाले—मुमुक्षु जनों के लिए कुतर्काभिनिवेश—कुतर्क में लगे रहना, रस लेना, आग्रह रखना युक्तिसंगत नहीं है । वैसे उत्तम पुरुष के लिए श्रुत—सद् आगम, शील—सच्चारित्र्य तथा समाधि—ध्याननिष्ठा में ही लगाव रखना, आग्रह लिये रहना समुचित है ।

[ ८६ ]

बीजं चास्य परं सिद्धमवन्ध्यं सर्वयोगिनाम् ।  
परार्थकरणं येन परिशुद्धमतोऽत्र च ॥

श्रुत, शील तथा समाधि का परम बीज—मुख्य कारण, सब योगियों को सिद्ध तथा अचूक फलप्रद परिशुद्ध—शुद्ध भावना से सम्पादित परोपकार है। उसी में लगाव या आग्रह रखना संगत है।

[ ६० ]

अविद्यासंगताः प्रायो विकल्पाः सर्व एव यत् ।  
तद्योजनात्मकश्चैव कुतर्कः किमनेन तत् ॥

सभी विकल्प—शब्दविकल्प, अर्थविकल्प आदि प्रायशः अविद्या-संगत—अविद्या के सहवर्ती हैं, ज्ञानावरणीय आदि के उदय से निष्पन्न हैं। उन (अविद्यासंगत) विकल्पों का योजक—उत्पादक, एक-दूसरे के साथ जोड़ने वाला कुतर्क है। अतः ऐसे कुतर्क से क्या प्रयोजन !

[ ६१ ]

जातिप्रायश्च सर्वोऽयं प्रतीतिफलबाधितः ।  
हस्ती व्यापादयत्युक्तौ प्राप्ताप्राप्तविकल्पवत् ॥

सारा कुतर्क, जो प्रतीति और फल से रहित है—जिससे चर्चित वस्तु का प्रत्यय नहीं होता, उसके सम्बन्ध में संशयात्मकता बनी रहती है तथा जिससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, दूषणाभास-प्रधान है। अर्थात् वह प्रायः हर कहीं दूषण जैसे दिखाई देते छिद्र खोजता रहता है।

इस सन्दर्भ में एक दृष्टान्त है—न्यायशास्त्र का एक विद्यार्थी कहीं से आ रहा था। मार्ग में एक मदोन्मत्त हाथी मिला, जिस पर बैठा महावत चिल्लाया—दूर हट जाओ, यह हाथी मार डालता है। नैयायिक विद्यार्थी ने तर्क किया—हाथी पास में अवस्थित को मारता है या पास में अनवस्थित को मारता है? इतने में हाथी उस पर झपट पड़ा। महावत ने किसी प्रकार उसे छुड़ाकर बचाया। नैयायिक विद्यार्थी का यह तर्क कुतर्क था, महावत के कथन में दोष खोजने वाला या उसका खण्डन करने वाला था। उसका

जड़ आशय यह था कि हाथी तो पास में स्थित को पहले मारता है, जो पास में स्थित नहीं है, उसे कैसे मारेगा ? पर, पास में तुम (महावत) ही हो इसलिए तुम्हें ही मारेगा । नैयायिक पद्धति से यह तर्क तो उसने किया पर उसके साथ यह व्यावहारिक तथ्य नहीं सोचा कि महावत उसके समीप तो है पर सुपरिचित है, वह महावत से अनुशासित है, महावत को वह कैसे मारेगा ? इसलिए कुतर्क प्रतीतिशून्य और प्रयोजनशून्य कहा गया है ।

[ ६२ ]

स्वभावोत्तरपर्यन्त एषोऽसावपि तत्त्वतः ।  
नार्वाग्दृग्गोचरो न्यायादन्यथाऽन्येन कल्पितः ॥

कुतर्क का पर्यवसान स्वभाव में होता है अर्थात् उसका अन्तिम उत्तर स्वभाव है । पर वह (स्वभाव) भी अर्वाग्दृक्—छद्मस्थ—असर्वज्ञ को ज्ञात नहीं होता । क्योंकि नैयायिक पद्धति से उसके सन्दर्भ में अनेक प्रकार की परिकल्पनाएँ की जा सकती हैं, जो तर्क गम्य तो हो सकती हैं पर तथ्यपरक नहीं होतीं ।

[ ६३ ]

अतोऽग्निः क्लेदयम्बुसन्निधौ दहतीति च ।  
अम्ब्वग्निसन्निधौ तत्स्वाभावादित्युदिते तयोः ॥

उष्ण जल वस्तु को भिगो देता है, उसे देख, उसमें रहे अग्नि के समावेश को उद्दिष्टकर कोई कुतर्क करे कि अग्नि का स्वभाग भिगोना है; तथा उष्ण जल जला भी देता है, उसे उद्दिष्ट कर दूसरा व्यक्ति ऐसा भी कुतर्क कर सकता है कि जल जलाता है । ये दोनों ही बातें संगत नहीं हैं । यह जो भिगोने और जलाने की बात हुई, उसका तथ्य तो यह है कि उष्ण जल भिगोता है, वहाँ जल का भिगोने का स्वभाव कार्य करता है, तथा जहाँ वह जलाता है, वहाँ अग्नि का जलाने का स्वभाव कार्यकर है अतः वास्तव में भिगोना जल का स्वभाव है और जलाना अग्नि का । पर पूर्वोक्त रूप में कुतर्क स्वभाव विरुद्ध भी किया जा सकता है ।

[ ६४ ]

कोशपानादृते ज्ञानोपायो नास्त्यत्र युक्तितः ।  
विप्रकृष्टोऽयस्कान्तः स्वार्थकृद् इश्यते यतः ॥

केवल शब्द कोश को ली जाना—उसे घोख जाना—तद्गम्य अर्थ को ही ठीक मानना ज्ञान का उपाय नहीं है । शब्दकोश सूचित ज्ञान युक्तिपूर्वक उपयोग में आने से कार्यकर होता है । लोह-चुम्बक लोहे को खींचता है, यह सही है, पर वह लोहे से कुछ दूरी पर होने पर ही खींचता है, बिलकुल समीप होने पर नहीं । दूर रहने पर खींचता है, यह युक्तिसाध्य है, केवल शब्दसाध्य नहीं ।

[ ६५ ]

दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र यदेवं सुलभं क्षितौ ॥  
एतत्प्रधानतस्तत्केन स्वनीत्यापोद्यते ह्ययम् ॥

इस पृथ्वी पर सर्वत्र—संगत-असंगत सभी विषयों में दृष्टान्त आसानी से प्राप्त हो जाते हैं—वैसे गढ़े जा सकते हैं । वही कारण है कि दृष्टान्त-प्रधान कुतर्क को अपनी नीति द्वारा कौन बाधित कर सकता है ? अर्थात् जब सत्य, असत्य हर प्रकार के दृष्टान्त गढ़े जा सकते हैं तो उनकी रोक कैसे हो ?

[ ६६ ]

द्विचन्द्रस्वप्नविज्ञाननिदर्शनबलोत्थितः ।  
निरालम्बनतां सर्वज्ञानानां साधयन् यथा ॥

चन्द्रमा यद्यपि एक है पर दोषयुक्त नेत्र द्वारा दो भी दिखलाई पड़ सकते हैं, उसी प्रकार स्वप्न मिथ्या है पर उसका ज्ञान तो है । यद्यपि इनका कोई आधार, आलम्बन या मूल नहीं है फिर भी इसके दृष्टान्त के सहारे कोई यह दावा कर सकता है कि जिस प्रकार असत्य या अयथार्थ होने के बावजूद इनकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार दूसरे जो भी ज्ञान हैं, प्रतीयमान हैं, वे क्यों नहीं निराधार या निरालम्बन हैं अर्थात् वे भी वैसे ही हो सकते हैं । यों दलील करने वाले को कौन रोके ?

[ ६७ ]

सर्वं सर्वत्र चाप्नोति यदस्मादसमञ्जसम् ।  
प्रतीतिबाधितं लोके तदनेन न किञ्चन ॥

कुतर्क द्वारा सब कहीं सब कुछ साध पाने का दुष्प्रयत्न किया जा सकता है। अतएव कुतर्क अयथार्थ है—कल्पित है, प्रतीति से बाधित है—कुतर्क द्वारा निरूपित या साधित बात में कोई प्रतीति नहीं करता, उसे मान्यता नहीं देता।

[ ६८ ]

अतीन्द्रियार्थसिद्धयर्थं यथालोचितकारिणाम् ।  
प्रयासः शुष्कतर्कस्य न चासौ गोचरः क्वचित् ॥

आलोचितकारी—आलोचन, चिन्तन, विमर्शपूर्वक कार्य करने वाले अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों से गृहीत नहीं किये जा सकते, ऐसे आत्मा, धर्म आदि पदार्थों को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं—उस दिशा में प्रयत्नशील रहते हैं। ये अतीन्द्रिय पदार्थ शुष्क तर्क द्वारा गम्य नहीं हैं—ये शुष्क तर्क के विषय नहीं हैं, अनुभूति एवं श्रद्धा के विषय हैं।

[ ६९ ]

गोचरस्त्वागमस्यैव, ततस्तदुपलब्धितः ।  
चन्द्रसूर्योपरागादिसंवाद्यागमदर्शनात् ॥

स्थूल इन्द्रियों से जिसका ग्रहण सम्भव नहीं, ऐसा अतीन्द्रिय अर्थ आगम—आप्त-पुरुषों के वचन द्वारा उपलब्ध होता है। चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि, जिनके होने का ज्ञान स्थूल इन्द्रियों द्वारा नहीं होता, ज्ञानी जनों के वचन द्वारा जाने जाते हैं। ऐसे संवादी—मेल खाने वाले, संगत उदाहरण से यह तथ्य स्पष्ट है। यद्यपि चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण आदि आत्मा, धर्म जैसे अलौकिक अतीन्द्रिय अर्थ नहीं हैं, लौकिक हैं अतः तत्त्वतः आध्यात्मिक पदार्थों से इनकी वास्तविक संगति नहीं है पर स्थूल रूप में समझने के लिए यहाँ इनका दृष्टान्त उपयोगी है।

[ १०० ]

एतत्प्रधानः सत्श्रद्धाः शीलवान् योगतत्परः ।  
जानात्यतीन्द्रियानर्थास्तथा चाह महामतिः ॥

आगमप्रधान—श्रुत या आप्तवचन को मुख्य—सारभूत माननेवाला, सत् श्रद्धावान्, योगनिष्ठ पुरुष अतीन्द्रिय पदार्थों को जानता है, ऐसा महामति मुनियों (पतञ्जलि आदि) ने कहा है ।

[ १०१ ]

आगमेनानुमानेन योगाभ्यासरसेन च ।  
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते तत्त्वमुत्तमम् ॥

महर्षियों ने बताया है कि आगम, अनुमान तथा योगाभ्यास में रस—तन्मयता—यों तीन प्रकार से बुद्धि का उपयोग करता हुआ साधक उत्तम तत्त्व प्राप्त करता है—सत्य का साक्षात्कार करता है ।

[ १०२ ]

न तत्त्वतो भिन्नमताः सर्वज्ञा बहवो यतः ।  
मोहस्तदधिमुक्तीनां तदभेदाश्रयणं ततः ॥

अनेक परंपराओं में भिन्न-भिन्न नामों से जो अनेक सर्वज्ञों का स्वीकार है, वहाँ यह ज्ञातव्य है कि उन (सर्वज्ञों) में किसी भी प्रकार का मतभेद या अभिप्राय-भेद नहीं है । किन्तु उन-उन सर्वज्ञों के अतिभक्त—अधिक श्रद्धालु जो उनमें भेद-कल्पना करते हैं, वह उनका मोह प्रसूत अज्ञान है ।

[ १०३ ]

सर्वज्ञो नाम यः कश्चित् पारमार्थिक एव हि ।  
स एक एव सर्वत्र व्यक्तिभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

‘सर्वज्ञ’ नाम से जो भी कोई पारमार्थिक आप्त पुरुष है, वैयक्तिक भेद के बावजूद तात्त्विक दृष्टि से सर्वत्र एक ही है ।

[ १०४ ]

प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य सामान्येनैव यावताम् ।  
ते सर्वेऽपि तमापन्ना इति न्यायगतिः परा ॥

व्यक्तिभेद के आधार पर जितने भी सर्वज्ञ कहे गये हैं, सर्वज्ञत्वरूप सामान्य गुण के आधार पर उनकी स्वरूपात्मक प्रतिपत्ति—मान्यता या पहचान एक ही है।

वे सभी समानगुणात्मक स्थिति को लिए हुए हैं। गुण-सामान्यत्व के आधार पर नैयायिक पद्धति से भी ऐसा ही फलित निष्पन्न होता है—ऐसा ही न्यायसंगत है।

[ १०५ ]

विशेषेषु पुनरतस्य कात्स्न्येनासर्वदर्शभिः ।  
सर्वेन ज्ञायते तेन तमापन्नो न कश्चन ॥

सर्वज्ञत्व की दृष्टि से सामान्यतया सर्वज्ञों में समानता है, ऐसा ऊपर कहा गया है। सामान्य न सही, उनमें परस्पर कोई विशेष भेद हो सकता है, ऐसी आशंका भी संगत नहीं है। क्योंकि असर्वदर्शी या असर्वज्ञ सम्पूर्णरूप में सर्वज्ञों के विशेष भेद को जानने में सक्षम नहीं है। सम्पूर्ण ही सम्पूर्ण को जान सकता है, अपूर्ण नहीं। इस दृष्टि से ऐसा कोई भी असर्वदर्शी पुरुष नहीं है, जिसने सर्वज्ञों को सम्पूर्ण रूप में अधिगत किया हो, उनकी विशेषताओं को समग्रतया स्वायत्त किया हो, जाना हो।

[ १०६ ]

तस्मात्सामान्यतोऽप्येनमभ्युपैति य एव हि ।  
निर्व्याजं तुल्य एवासौ तेनांशेनैव धीमताम् ॥

अतः सामान्यतः भी सर्वज्ञ को जो निर्व्याज रूप में—दम्भ कपट या बनाव के बिना मान्य करते हैं, उतने अंश—उस अपेक्षा से उन प्रज्ञाशील पुरुषों का मानस, अभिमत परस्पर तुल्य या समान ही है। अथवा बिना किसी बनाव-दिखाव या दम्भ आदि के जो सर्वज्ञ-तत्त्व को स्वीकार करते हैं, सच्चे भाव से उनकी आज्ञा, प्ररूपणा का अनुसरण करते हैं, वे सब उस अपेक्षा से परस्पर समान ही तो हैं।



[ १०७ ]

यथैवंकस्य नृपतेर्बह्वोऽपि समाश्रिताः ।  
दूरासन्नादिभेदेऽपि तद्भृत्या सर्व एव ते ॥

जैसे एक राजा के यहाँ रहने वाले अनेक नौकर-चाकर होते हैं, उनमें भिन्न-भिन्न कार्यों की दृष्टि से कोई दूर होते हैं, कोई निकट होते हैं, कोई कहीं होते हैं, कोई कहीं। दूरी, निकटता आदि भेद के बावजूद वे सभी सेवक तो राजा के ही हैं।

[ १०८ ]

सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन तथा सर्वज्ञवादिनः ।  
सर्वे तत्तत्त्वगा ज्ञेया भिन्नावार स्थिता अपि ॥

सर्वज्ञ तत्त्व में कोई भेद नहीं है। अतः सभी सर्वज्ञ कहे जाने वाले आप्त पुरुष भिन्न-भिन्न आचार में स्थित होते हुए भी सर्वज्ञतत्त्वोपेत हैं।

[ १०९ ]

न भेद एव तत्रेन सर्वज्ञानां महात्मनाम् ।  
तथा नामाहि भेदेऽपि भाव्यमेतन्महात्मभिः ॥

नाम आदि बाह्य भेद रहते हुए भी महान् आत्मा सर्वज्ञों में तत्त्वतः कोई भेद नहीं है, ऐसा उदारवेत्ता पुरुषों को समझना चाहिए।

[ ११० ]

चित्राचित्रविभागेन यच्च देवेषु वर्णिता ।  
भक्तिः सद्योगशास्त्रेषु ततोऽप्येवमिदं स्थितम् ॥

शास्त्रों में देवभक्ति दो तरह की बतलाई गई है—चित्र—भिन्न-भिन्न प्रकार की तथा अचित्र—अभिन्न, भिन्न-भिन्न प्रकार की न होकर एक ही प्रकार की। इससे भी पूर्वोक्त कथन सिद्ध होता है।

[ १११ ]

संसारिषु हि देवेषु भक्तिस्तत्कार्यगामिनाम् ।  
तदतीते पुनस्तत्त्वे तदतीतार्थयायिनाम् ॥

जो संसारी देवों की गति में जाने वाले होते हैं, वे लोकपाल आदि संसारी देवों की भक्ति करते हैं। जो योगीजन संसार से अतीत परम तत्त्व को स्वायत्त करने का भाव लिये होते हैं, मुमुक्षु भाव रखते हैं, उनकी संसार से अतीत—संसार के पारगामी—मुक्त एवं सर्वज्ञ देवों के प्रति भक्ति होती है।

[ ११२ ]

चित्रा चाद्येषु तद्वागतदन्यद्वेषसङ्गता ।  
अचित्रा चरमे त्वेषा शमसाराखिलेव हि ॥

पहली चित्रा नामक भक्ति में, जो सांसारिक देवों के प्रति होती है, भक्त अपने इष्टदेव के प्रति राग तथा अनिष्ट देव के प्रति द्वेष रखते हैं। यों राग-द्वेषात्मकता लिये वह भिन्न-भिन्न प्रकार ही होती है। चरम—संसार से अतीत तत्त्व—मुक्तात्मा के प्रति जो भक्ति होती है; वह शम—शान्त भाव की प्रधानता लिये रहती है। वह अचित्रा—अभिन्न—भिन्नता या भेद रहित है।

[ ११३ ]

संसारिणां हि देवानां यस्माच्चित्राण्यनेकधा ।  
स्थित्यैश्वर्यप्रभावाद्यः स्थानानि प्रतिशासनम् ॥

सांसारिक देवों के स्थान—पद, स्थिति, ऐश्वर्य तथा प्रभाव आदि के कारण प्रत्येक धार्मिक परम्परा में भिन्न-भिन्न हैं।

[ ११४ ]

तस्मात्तत्साधनोपायो नियमाच्चित्र एव हि ।  
न भिन्ननगराणां स्यादेकं वर्त्म कदाचन ॥

इस कारण उन सांसारिक देवों की आराधना व भक्ति के प्रकार नियमतः भिन्न-भिन्न ही होते हैं। भिन्न-भिन्न नगरों को जाने का एक ही मार्ग कदापि नहीं होता।

[ ११५ ]

इष्टापूर्तानि कर्माणि लोके चित्राभिसन्धितः ।  
नानाफलानि सर्वाणि दृष्टव्यानि विचक्षणैः ॥

जो सुयोग्य पुरुष यह समझें—जो इष्टापूर्त कर्म हैं, वे संसार में भिन्न-भिन्न अभिप्राय से किये जाते हैं। अतः उनके फल भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं।

[ ११६ ]

ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारैर्ब्राह्मणानां समक्षतः ।  
अन्तर्वेद्यां हि यद्दत्तमिष्टं तदभिधीयते ॥

ऋत्विजों—यज्ञ में अधिकृत ब्राह्मणों द्वारा मन्त्रसंस्कारपूर्वक अन्य ब्राह्मणों की उपस्थिति में वेदी के भीतर—वेदी-क्षेत्र के अन्तर्गत जो विधिवत् दान दिया जाता है, उसे इष्ट कहा जाता है।

[ ११७ ]

वापीकूपतडागानि देवतायतनानि च ।  
अन्नप्रदानमेतत्तु पूर्तं तत्त्वविदो विदुः ॥

बावड़ी, कूप, तालाब तथा देवमन्दिर बनवाना, अन्न का दान देना पूर्त है, ज्ञानीजन ऐसा जानते हैं, कहते हैं।

[ ११८ ]

अभिसन्धेः फलं भिन्नमनुष्ठाने समेऽपि हि ।  
परमोऽतः स एवेह वारीव कृषिकर्मणि ॥

अनुष्ठान के समान होने पर भी अभिसन्धि—अभिप्राय या आशय के भिन्न होने पर फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अतः जैसे खेती में जल प्रधान है, उसी प्रकार फलसिद्धि में अभिप्राय की प्रधानता है।

[ ११९ ]

रागादिभिरयं चेह भिद्यतेऽनेकधा नृणाम् ।  
नानाफलोपभोवतृणां तथा बुद्ध्यादिभेदतः ॥

भिन्न-भिन्न प्रकार के फलोपभोग की वाञ्छा लिये पुरुषों के बुद्धि-भेद—अपने-अपने बोध या समझ के भेद के अनुरूप राग, मोह, द्वेष आदि के कारण निष्पन्न अभिसन्धि या अभिप्राय का फल भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है।

[ १२० ]

बुद्धिज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो बोध इष्यते ।  
तद्भेदात् सर्वकर्माणि भिद्यन्ते सर्वदेहिनाम् ॥

बुद्धि, ज्ञान तथा असंमोह—यों बोध तीन प्रकार का कहा गया है। बोध-भेद के कारण सब प्राणियों के समस्त कर्म भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं।

[ १२१ ]

इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिज्ञानं त्वागमपूर्वकम् ।  
सदनुष्ठानवच्चैतदसंमोहो ऽभिधीयते ॥

बुद्धि इन्द्रियों द्वारा जाने जाते पदार्थों पर आश्रित है—इन्द्रियगम्य पदार्थ बुद्धि के विषय हैं। उन द्वारा जो बोध होता है, वह बुद्धि है। जो आगम—शास्त्र या श्रुत द्वारा बोध उत्पन्न होता है, वह ज्ञान है। प्राप्त ज्ञान के अनुरूप सत् अनुष्ठान—सत्प्रवृत्ति या सद्आचरण करना असंमोह है। अर्थात् सद्ज्ञान तब असंमोह कहा जाता है, जब वह क्रियान्विति पा लेता है। वह सर्वोत्तम बोध है।

[ १२२ ]

रत्नोपलम्भतज्ज्ञानतत्प्राप्त्यादि यथाक्रमम् ।  
इहोदाहरणं साधु ज्ञेयं बुद्ध्यदिसिद्ध्ये ॥

आँखों द्वारा देखकर यह रत्न है, ऐसा समझना बुद्धि है। रत्न के लक्षण आदि का निरूपण करने वाले शास्त्र के आधार पर उसे विशेष रूप से जानना, उसके लक्षण, स्वरूप आदि को स्वायत्त करना ज्ञान है। यों उस ज्ञान से रत्न के निश्चित स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करना, उपयोग में लेना असंमोह है। इन्द्रियों द्वारा पहचान एवं शास्त्र द्वारा ज्ञान कर

लेने तथा ग्रहण कर लेने के बाद संमोह या भ्रम नहीं रहता । इसलिए क्रियान्वयनपूर्वक ज्ञान की परिष्कृत अवस्था को असंमोह कहा गया है ।

[ १२३ ]

आदरः करणे प्रीतिरविघ्नः सम्पदागमः ।

जिज्ञासा तज्ज्ञसेवा च सदनुष्ठानलक्षणम् ॥

१. आदर—क्रिया के प्रति आदर, सुयत्न, उपयोगपूर्वक क्रिया करना,
२. प्रीति—क्रिया के प्रति आन्तरिक अभिरुचि, सरसता,
३. अविघ्न—निर्विघ्नता, पूर्वाजित पुण्यवश निर्बाधरूप में क्रिया करना,
४. सम्पदागम—सम्पत्ति—धन, वैभव आदि द्रव्य-सम्पत्ति तथा विद्या-विनय, विवेक, शील, वैराग्य आदि भाव-सम्पत्ति का प्राप्त होना,
५. जिज्ञासा—जानने की तीव्र उत्कण्ठा रखना,
६. तज्ज्ञ-सेवा—ज्ञानी पुरुषों की सेवा करना,
७. तज्ज्ञ-अनुग्रह—ज्ञानी जनों की कृपा पाना, ये सदनुष्ठान के लक्षण हैं ।

[ १२४ ]

बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि सर्वाण्येवेह देहिनाम् ।

संसारफलदान्येव विपाकविरसत्त्वतः ॥

यहाँ संसार में सामान्यतः प्राणियों के सभी कर्म बुद्धि—इन्द्रियजनित बोध द्वारा होते हैं । विषयप्रधान वे विपाकविरस—परिणाम में नीरस—असुखद हैं । उनका फल संसार—जन्म-मरण के चक्र में भटकना है ।

[ १२५ ]

ज्ञानपूर्वाणि तान्येव मुक्त्यङ्गं कुलयोगिनाम् ।

श्रुतशक्तिसन्तोषशादनुबन्धफलत्वतः ॥

ज्ञानपूर्वक किये गये वे ही कर्म कुलयोगियों के लिए मुक्ति के अंग हैं । आप्त वचन रूप शास्त्रशक्ति—आगम ज्ञान की शक्तिमत्ता के समावेश के कारण वे शुभ फलप्रद सिद्ध होते हैं ।

[ १२६ ]

असंमोहसमुत्थानि त्वेकान्तपरिशुद्धितः ।  
निर्वाणफलदान्याशु भवातीतार्थयायिनाम् ॥

असंमोह से निष्पन्न होने वाले—किये जाने वाले वे ही कर्म एकान्तरूप से परिशुद्ध—अत्यन्त शुद्ध होने के कारण संसार से अतीत पदार्थ—परम पद, परम तत्त्व का साक्षात्कार करने को समुद्यत—परम तत्त्ववेदी जनों के लिए मोक्षरूप फल देने वाले होते हैं ।

[ १२७ ]

प्राकृतेष्वह भावेषु येषां चेतो निरुत्सुकम् ।  
भवभोगविरक्तास्ते भवातीतार्थयायिनः ॥

प्राकृत भावों—शब्द, रूप, रस आदि सांसारिक विषयों में जिनका चित्त उत्सुकता रहित है, उदासीन है, जो सांसारिक भोगों से विरक्त हैं, वे भवातीतार्थयायी—संसारातीत अर्थगामी—परम तत्त्ववेदी कहे जाते हैं ।

[ १२८ ]

एक एव तु मार्गोऽपि तेषां शमपरायणः ।  
अवस्थाभेदभेदेऽपि जलधौ तीरमार्गवत् ॥

अवस्था-भेद के बावजूद उनका शम—निष्कषाय आत्मपरिणति, प्रशान्त भाव, या साम्यप्रधान मार्ग एक ही है । जैसे समुद्र में मिलने वाले सभी मार्ग तटमार्ग हैं, भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने के बावजूद उनका उद्दिष्ट एक ही है, यों वे एकरूपता लिये हुए हैं ।

[ १२९ ]

संसारातीततत्त्वं तु परं निर्वाणसंज्ञितम् ।  
तद्व्येकमेव निमयाच्छब्दभेदेऽपि तत्त्वतः ॥

संसार से अतीत परम तत्त्व निर्वाण कहा जाता है । शाब्दिक भेद होते हुए भी वह तात्त्विक दृष्टि से निश्चित रूपेण एक ही है ।

[ १३० ]

सदाशिवः परं ब्रह्म सिद्धात्मा तथातेति च ।  
शब्दैस्तदुच्यतेऽन्वयदिकमेवैवमादिभिः ॥

सदाशिव, परं ब्रह्म, सिद्धात्मा, तथाता आदि शब्दों द्वारा उसका कथन किया जाता है पर तात्पर्य की दृष्टि से वह एक ही है । सदाशिव—सब समय कल्याणरूप—मंगलरूप, परं ब्रह्म—आत्मगुणों के अत्यन्त वृद्धिगत परम विकास के कारण महाविशाल, सिद्धात्मा—विशुद्ध आत्म-सिद्धि प्राप्त एवं तथाता—सदा एक जैसे शुद्ध सहजात्म-स्वरूप में संस्थित—यों यथार्थतः उसमें कोई भेदात्मकता नहीं है ।

[ १३१ ]

तल्लक्षणाविसंवादान्निराबाधामनामयम् ।  
निष्क्रियं च परं तत्त्वं यतो जन्माद्ययोगतः ॥

विभिन्न नामों से कथित परम तत्त्व का वही लक्षण है, जो निर्वाण का है अर्थात् वे एक ही हैं । वह परमतत्त्व निराबाध—सब बाधाओं से रहित—अव्याबाध, निरामय—देहातीत होने के कारण द्रव्यरोगों से रहित तथा अत्यन्त विशुद्ध आत्मस्वरूप में अवस्थित होने के कारण राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि भाव-रोगों से रहित—परम स्वस्थ, निष्क्रिय—सब कर्मों का, कर्म-हेतुओं का निःशेष रूप में नाश हो जाने के कारण सर्वथा क्रियारहित—कृत-कृत्य है । जन्म, मृत्यु आदि का वहाँ सर्वथा अभाव है ।

[ १३२ ]

ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्नसंमोहेन तत्त्वतः ।  
प्रोक्षावतां न तद्भक्तौ विवाद उपपद्यते ॥

इस निर्वाण-तत्त्व को असंमोह द्वारा सर्वथा जान लेने पर विचार-शील, विवेकशील पुरुषों के लिए उसकी आराधना में कोई विवाद घटित नहीं होता ।

[ १३३ ]

सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव यत् स्थितम् ।  
आसन्नोऽयमृजुमार्गस्तद्भेदस्तत्कथं भवेत् ॥

निर्वाण नियमतः सर्वज्ञपूर्वक है—सर्वज्ञता प्राप्त किये बिना निर्वाण नहीं सधता। यों सर्वज्ञता का निर्वाण के साथ अविनाभाव सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सर्वज्ञता निर्वाण से पूर्ववर्ती अविनाभावी स्थिति है। निर्वाण का सन्निकटवर्ती यह सर्वज्ञरूप मार्ग बिलकुल सरल—सीधा है। फिर उसमें भेद कैसे हो ?

[ १३४ ]

चित्रा तु देशनैतेषां स्याद्विनेयानुगुण्यतः ।  
यस्मादेते महात्मानो भवव्याधिभिषग्वराः ॥

सर्वज्ञों की भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना—धर्मोपदेश शिष्यों की अनुकूलता को लेकर है। क्योंकि ये महापुरुष संसार रूप व्याधि को मिटाने वाले वैद्य हैं। अतः शिष्यों के जीवन-परिष्कार हेतु, उन्हें भावात्मक दृष्टि से नीरोग बनाने के लिए जैसा अपेक्षित हो, धर्मोपदेश करते हैं, उन्हें समझाने का प्रयास करते हैं।

[ १३५ ]

यस्य येन प्रकारेण बीजाधानदिसम्भवः ।  
सानुबन्धो भवत्येते तथा तस्य जगुस्ततः ॥

जिस प्रकार किसी विशेष पौधे को उगाने के लिए भूमि में एक विशेष प्रकार की खाद देनी होती है, उसी प्रकार जिस शिष्य की चित्तभूमि में सम्यक् बोध रूप बीज का जिस प्रकार उत्तरोत्तर विकासोन्मुख रोपण, संवर्धन आदि हो, उसे उसी प्रकार का उपदेश देते हैं।

[ ११६ ]

एकाऽपि देशनैतेषां यद्वा श्रोतृविभेदतः ।  
अचिन्त्यपुण्यसामर्थ्यात्तथा चित्राऽवभासते ॥



अथवा सर्वज्ञों की देशना एक होते हुए भी अपने अचिन्त्य—जिसे सोचा तक नहीं जा सकता, (ऐसे) असीम पुण्य-सामर्थ्य के कारण भिन्न-भिन्न श्रोताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार की अवभासित—प्रतीत होती है।

[ १३७ ]

यथाभव्यं च सर्वेषामुपकारोऽपि तत्कृतः ।  
जायतेऽवन्ध्यताऽत्येवमस्याः सर्वत्र सुस्थिता ॥

यों भिन्न-भिन्न रूप में अवभासित होती हुई सर्वज्ञ-देशना से सब श्रोताओं का अपने भव्यत्व के अनुरूप उपकार होता है। इससे उस (देशना) की सार्वत्रिक अनिष्फलता—फलवत्ता सिद्ध होती है।

[ १३८ ]

यद्वा तत्तन्नयापेक्षा तत्कालादिनियोगतः ।  
ऋषिभ्यो देशना चित्रा तन्मूलैषाऽपि तत्त्वतः ॥

अथवा द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों की अपेक्षा से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की देशना ऋषियों से प्रवृत्त हुई। पर वस्तुतः उनके मूल में सर्वज्ञ-देशना ही है। अर्थात् विभिन्न अपेक्षाओं से ऋषियों ने लोकोपकार की भावना से एक ही तत्त्व को भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्यात किया। इससे तत्त्व में, तत्त्व-देशना में भिन्नता नहीं आती, केवल निरूपण की शैली में भिन्नता है।

[ १३९ ]

तदभिप्रायमज्ञात्वा न ततोऽर्वाग्दृशां सताम् ।  
युज्यते तत्प्रतिक्षेपो महानर्थकरः परः ॥

उन (सर्वज्ञों) के अभिप्राय को (सर्वथा) न जानते हुए उनकी देशना का प्रतिक्षेप—विरोध करना अर्वाकदृक्—छद्मस्थ—असर्वज्ञ जनों के लिए उचित नहीं है। वैसा करना महाअनर्थकारी है।

[ १४० ]

निशानाथप्रतिक्षेपो यथान्धानान्संगतः ।  
तद्भेदपरिकल्पश्च तथैवाऽर्वाग्दृशाम्यम् ॥

अन्धे यदि चन्द्र का निषेध करें—उसका अस्तित्व स्वीकार न करें अथवा उसमें भेद-परिकल्पना करें—उसे अनेक प्रकार का—वांका, टेढ़ा, चतुष्कोण, गोल आदि बताएँ तो यह असंगत है। उसी प्रकार छद्मस्थ सर्वज्ञ का निषेध करें, उनमें भेद-कल्पना करें, यह अयुक्तियुक्त है।

[ १४१ ]

न युज्यते प्रतिक्षेपः सामान्यस्यापि तत्सताम् ।  
आर्यापवादस्तु पुनर्जिह्वाच्छेदाधिको यतः ॥

सत्पुरुषों के लिए सामान्य व्यक्ति का भी विरोध, खण्डन या प्रतिकार करना उपयुक्त नहीं है, श्रद्धास्पद सर्वज्ञों का अपवाद करना, विरोध करना, प्रतिकार करना तो उन्हें जिह्वाच्छेद से भी अधिक कष्टकर प्रतीत होता है।

[ १४२ ]

कुदृष्ट्यादिवन्नो सन्तो भाषन्ते प्रायशः क्वचित् ।  
निश्चितं सारवच्चैव किन्तु सत्वार्थकृत् सदा ॥

सत्पुरुष असद्दृष्टि आदि अवगुण युक्त लोगों की तरह कहीं कुत्सित वचन नहीं बोलते। वे निश्चित—सन्देहरहित, सारयुक्त तथा प्राणियों के लिए हितकर वचन बोलते हैं।

[ १४३ ]

निश्चयोऽतीन्द्रियार्थस्य योगिज्ञानादृते न च ।  
अतोऽप्यत्रान्धकल्पानां विवादेन न किञ्चन ॥

सर्वज्ञ आदि इन्द्रियातीत पदार्थ का निश्चय योगिज्ञान—योग द्वारा लब्ध साक्षात् ज्ञान के बिना नहीं होता। इसलिए सर्वज्ञ के विषय में अन्धों जैसे छद्मस्थ जनों के विवाद से क्या प्रयोजन सधे ?

[ १४४ ]

न चानुमानविषय एषोऽर्थस्तत्त्वतो मत्तः ।  
न चातो निश्चयः सम्यगन्यत्राप्याह धीधनः ॥

यह (सर्वज्ञरूप अर्थ) तत्त्वतः अनुमान का विषय भी नहीं माना गया है। यह तो अतीन्द्रिय विषय है, सामान्य विषय में भी अनुमान से सम्यक्—यथार्थ निश्चय नहीं हो पाता। परम मेधावी (भर्तृहरि) ने भी ऐसा कहा है।

[ १४५ ]

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः ।  
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥

(भर्तृहरि का कथन) अनुमाताओं—अनुमानकारों द्वारा यत्नपूर्वक—युक्तिपूर्वक अनुमित—अनुमान द्वारा सिद्ध किये हुए अर्थ को भी दूसरे प्रबल युक्तिशाली—प्रखर तार्किक अनुमाता दूसरे प्रकार से सिद्ध कर डालते हैं।

[ १४६ ]

ज्ञायेरन् हेतुवादेन पदार्था यद्यतोन्द्रियाः ।  
कालेनैतावता प्राज्ञः कृतः स्यात्तेषु निश्चयः ॥

यदि युक्तिवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता तो बुद्धिशाली तार्किकजन इतने दीर्घकाल में उन (अतीन्द्रिय पदार्थों) के सम्बन्ध में अवश्य निश्चय कर पाते। पर आज तक ऐसा हो नहीं पाया। अतीत की तरह आज भी उन विषयों में वाद-विवाद, खण्डन-मण्डन उसी तीव्रता से चलता है।

[ १४७ ]

न चैतदेवं यत्तस्माच्छुष्कतर्कग्रहो महान् ।  
मिथ्याभिमानहेतुत्वात्त्याज्य एव मुमुक्षुभिः ॥

इस सन्दर्भ में ऐसी स्थिति नहीं है अर्थात् युक्तिवाद या हेतुवाद द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों का निश्चय नहीं हो पाता। अतः मोक्षार्थियों के लिए विस्तीर्ण शुष्क तर्क ग्रह—नीरस या सारहीन तर्क की पकड़ अथवा विकराल तर्क रूपी अनिष्ट ग्रह या प्रेत या मगरमच्छ छोड़ने योग्य है। क्योंकि वह मिथ्या अभिमान का हेतु है।

[ १४८ ]

ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन मुमुक्षूणामसंगतः ।  
मुक्तौ धर्मा अपि प्रायस्त्यक्तव्या किमनेन तत् ॥

मोक्षार्थियों को वास्तव में कहीं भी ग्रह—पकड़ रखना असंगत है—समुचित नहीं है। मुक्तावस्था में तो प्रायः क्षायोपशमिक धर्म भी—कर्मों के क्षय और उपशम से निष्पन्न क्षमा, शील आदि धर्म भी छोड़ देने पड़ते हैं। वहाँ तो शुद्ध आत्मस्वभाव-मूलक क्षायिक धर्मों की ही अवस्थिति होती है। फिर तुच्छ अनिष्ट ग्रह की तो बात ही क्या !

[ १४९ ]

तदत्र महतां वर्त्म समाश्रित्य विवक्षणेः ।  
वर्तितव्यं यथान्यायं तदतिक्रमवर्जितैः ॥

सुयोग्य आत्मार्थी पुरुषों को चाहिए, वे महापुरुषों के पथ का—जिस पर महापुरुष चलते रहे हैं, जिसका महापुरुषों ने निर्देश किया है, ऐसे मार्ग का अवलम्बन कर यथाविधि उस पर गतिमान् रहें, उसका उल्लंघन न करें, उसके विपरीत न चलें।

[ १५० ]

परपीडेह सूक्ष्माऽपि वर्जनीया प्रयत्नतः ।  
तद्वत्तदुपकारेऽपि यतितव्यं सदैव हि ॥

महापुरुषों का मार्ग है—

साधक का यह प्रयास रहे कि उसकी ओर से किसी को जरा भी पीड़ा न पहुँचे। उसी प्रकार उसे सदा दूसरों का उपकार करने का भी प्रयत्न करते रहना चाहिए।

[ १५१ ]

गुरवो देवता विप्रा यतयश्च तपोधना ।  
पूजनीया महात्मानः सुप्रयत्नेन चेतसा ॥

गुरु, देवता, ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता तथा तपस्वी साधु—ये सत्पुरुष प्रयत्न युक्त चित्त से—तन्मयता तथा श्रद्धापूर्वक पूजनीय—सम्मान करने योग्य—सत्कार करने योग्य हैं ।

[ १५२ ]

पापवत्स्वपि चात्यन्तं स्वकर्मनिहतेष्वलम् ।  
अनुकम्पैव सत्त्वेषु न्याय्या धर्मोऽयमुत्तमः ॥

मुमुक्षु पुरुषों में सभी प्राणियों के प्रति अनुकम्पा या दया का भाव रहे, यह तो है ही पर अपने कुत्सित कर्मों द्वारा निहत—अत्यन्त पीड़ित पापी प्राणियों के प्रति भी वे अनुकम्पाशील हों, यह न्यायोचित—अपेक्षित है ।

यों पर-पीड़ावर्जन, परोपकारपरायणता, गुरु, देव, ब्राह्मण—ब्रह्म-वेत्ता तथा यतिजन का सत्कार, पापी जीवों पर भी अनुकम्पा-भाव—साधक द्वारा जीवन में इनका क्रियान्वयन उत्तम धर्म है ।

[ १५३ ]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुतोऽधुना ।  
तत्पुनः पञ्चमी तावद्योगदृष्टिर्महोदया ॥

प्रसंगवश ऊपर जो कहा गया है, वह पर्याप्त है । अब मूलतः चालू विषय को प्रस्तुत करते हैं । वह (चालू विषय) पाँचवीं स्थिरा-दृष्टि है, जो आत्मा के महान् उदय—परम उत्थान से सम्बद्ध है ।

स्थिरा दृष्टि

[ १५४ ]

स्थिरायां दर्शनं नित्यं प्रत्याहारवदेव च ।  
कृतमभ्रान्तमनधं सूक्ष्मबोधसमन्वितम् ॥

स्थिरा-दृष्टि में दर्शन नित्य—अप्रतिपाती—नहीं गिरने वाला होता है, प्रत्याहार—स्व-स्व-विषयों के सम्बन्ध से विरत होकर इन्द्रियों का चित्त-

स्वरूपानुकार<sup>१</sup> सधता है तथा साधक द्वारा किये जाते कृत्य—क्रियाकलाप भ्रान्ति रहित, निर्दोष एवं सूक्ष्मबोध युक्त होते हैं ।

स्थिरा-दृष्टि दो प्रकार की मानी गयी है—निरतिचार एवं साति-चार । निरतिचार दृष्टि अतिचार, दोष या विघ्न वर्जित होती है । उसमें होने वाला दर्शन नित्य—प्रतिपात रहित होता है, एक सा अवस्थित रहता है । सातिचार दृष्टि अतिचार सहित होती है, अतः उसमें होने वाला दर्शन अनित्य—न्यूनाधिक होता है, एक सा अवस्थित नहीं रहता ।

स्थिरा-दृष्टि को रत्नप्रभा की उपमा दी गई है । निर्मल रत्नप्रभा—रत्नज्योति जैसे एक सी देदीप्यमान रहती है, उसी प्रकार निरतिचार स्थिरा दृष्टि में दर्शन अनवच्छिन्न, निर्बाध या सतत दीप्तिमय रहता है । रत्न पर यदि मल आदि लगा होता है तो उसकी चमक बीच-बीच में रुकती रहती है, एक सी नहीं रहती, न्यूनाधिक होती रहती है, सातिचार स्थिरा-दृष्टि की वैसी ही स्थिति है । अतिचार या किञ्चित् दूषितपन के कारण दर्शन में कुछ-कुछ व्याघात होता रहता है । ऐसा होते हुए भी जैसे मलयुक्त रत्न की प्रभा मूलतः मिटती नहीं, उसकी मौलिक स्थिरता विद्यमान रहती है, उसी तरह सातिचार स्थिरा-दृष्टि में जो रुकावट या दर्शन-ज्योति की न्यूनाधिकता होती है, वह कादाचित्क है । मूलतः इस (स्थिरा) दृष्टि की दर्शनगत स्थिरता व्याहत नहीं होती ।

[ १५५ ]

बाल धूलीगृह क्रीडा तुल्याऽस्यां भाति धीमताम् ।  
तमोग्रन्थिविभेदेन भवचेष्टाऽखिलं व हि ॥

इस (पाँचवीं स्थिरा) दृष्टि को प्राप्त सम्यग्दृष्टि पुरुष के अज्ञानान्ध-कारमय ग्रन्थि का विभेद हो जाता है—बाँस की गाँठ जैसी कठोर, कर्कश, सघन तथा गूढ़ तमोग्रन्थि इसमें टूट जाती है अतः प्रज्ञाशील साधकों को

१. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

समग्र सांसारिक चेष्टा—किया-प्रक्रिया बालकों द्वारा खेल में बनाये जाते घर जैसी प्रतीत होती है। बालक खेल में मिट्टी के घरों को बनाते हैं, जिन्हें थोड़ी देर में वे छिन्न-भिन्न कर देते हैं, उसी तरह सम्यग्दृष्टि प्रबुद्ध जनों को संसार की क्षणभंगुरता, अस्थिरता प्रतीत होने लगती है। उसमें वे आसक्त नहीं होते।

[ १५६ ]

मायामरोचिगन्धर्वनगरस्वप्नसन्निभान् ।  
बाह्यान् पश्यति तत्त्वेन भावान् श्रुतबिवेकतः ॥

इस स्थिति को प्राप्त योगी, जिसका शास्त्रप्रसूत विवेक जागरित होता है; देह, घर, परिवार, वैभव आदि बाह्य भावों को मृगतृष्णा, गन्धर्वनगर—ऐन्द्रजालिक द्वारा मायाजाल के सहारे आकाश में प्रदर्शित नगर तथा दृष्ट स्वप्न—जो सर्वथा मिथ्या एवं कल्पित हैं, जैसा देखता है। उसे सांसारिक भावों की अयथार्थता का सत्य दर्शन—सम्यक् बोध हो जाता है।

[ १५७ ]

अबाह्यं केवलं ज्योतिर्निराबाधमनामयम् ।  
यदत्र तत्परं तत्त्वं शेषः पुनरुपप्लवः ॥

इस जगत् में परम—सर्वोत्तम तत्त्व अन्तर्तम में देदीप्यमान ज्ञान रूप ज्योति ही है, जो निराबाध—बाधा, पीड़ा या विघ्न रहित तथा अनामय—रोग रहित—दोष रहित या भावात्मक नीरोगता युक्त है। उसके अतिरिक्त बाकी सब उपप्लव—संकट, आपत्ति, विघ्न या भय है।

[ १५८ ]

एवं विवेकिनो धीराः प्रत्याहारपरायणाः ।  
धर्मबाधापरित्यागयत्नवन्तश्च तत्त्वतः ॥

इस प्रकार स्व-पर-भेद-ज्ञान-प्राप्त विवेकी धीर पुरुष प्रत्याहार-परायण होते हैं और वे धर्मबाधा—धर्मरिाधना में आने वाली बाधाओं के परित्याग में प्रयत्नशील रहते हैं।

[ १५६ ]

न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मीर्यथानन्दाय धीमताम् ।  
तथा पापसखा लोके देहिनां भोगविरतरः ॥

जैसे बुद्धिमान्—विवेकशील पुरुषों के लिए अलक्ष्मी की सहेली लक्ष्मी—वह लक्ष्मी, जिसके साथ अलक्ष्मी रहती है अथवा वह लक्ष्मी, जिसकी परिणति अलक्ष्मी में होती है, आनन्दप्रद नहीं होती—वे उसे कभी आनन्ददायक नहीं मानते, क्योंकि उसके साथ दुःख जो जुड़ा है। इसी तरह भोग-विस्तार, जो पाप का मित्र है, जिसके साथ पाप लगा है, जिसकी फल-निष्पत्ति पाप में है, प्राणियों के लिए आनन्दप्रद नहीं होता।

[ १६० ]

धर्मादपि भवन् भोगः प्रायोऽनर्थाय देहिनाम् ।  
चन्दनादपि संभूतो दहत्येव हुताशनः ॥

धर्म से भी उत्पन्न भोग प्राणियों के लिए प्रायः अनर्थकर ही होता है। जैसे चन्दन से भी उत्पन्न अग्नि जलाती ही है।

[ १६१ ]

भोगात्तदिच्छाविरतिः स्कन्धभारापनुपत्तये ।  
स्कन्धान्तरसमारोपस्तत्संस्कारविधानतः ॥

भोगों को छककर भोग लेने से स्वयं इच्छा मिट जायेगी, यह सोचना वैसा ही है, जैसा किसी भारवाहक द्वारा अपने एक कन्धे पर लदे भार को दूसरे कन्धे पर रखा जाना।

वस्तुस्थिति यह है, भोग भोगने से इच्छा विरत नहीं होती क्योंकि एक भोग भोगने के बाद दूसरे प्रकार के भोग से इच्छा जुड़ जाती है, व्यक्ति उसमें लग जाता है, उसके अनन्तर किसी तीसरी में, फिर चौथी में—यों भोगक्रम चलता ही रहता है। जिस प्रकार भारवाहक के एक कन्धे का भार दूसरे पर चला जाता है, मूलतः भार तो जाता नहीं, वैसी ही बात भोगी के साथ है। उसकी भोग वाञ्छा मिटती नहीं, अनवरत भोगलिप्तता बनी रहती है क्योंकि उसके भौगिक संस्कार विद्यमान हैं, वासना छूटी नहीं।



[ १६२ ]

कान्तायामेतदन्येषां प्रीतये धारणा परा ।  
अतोऽत्र नान्यमुन्नित्यं मीमांसाऽस्ति हितोदय ॥

कान्ता-दृष्टि में पूर्व वर्णित नित्य-दर्शन—अविच्छिन्न सम्यक्दर्शन आदि विद्यमान रहते हैं। इस दृष्टि में स्थित योगी के व्यक्तित्व में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि उसके सम्यक्दर्शन आदि सद्गुण औरों के लिए सहजतया प्रीतिकर होते हैं, औरों के मन में उसे देख द्विष्ट भाव नहीं आता, प्रीति उमड़ती है।

यहाँ योगी के धारणा—नामक छठा योगांग, जिसका तात्पर्य चित्त को नाभिचक्र, हृदयकमल आदि शरीर के आभ्यन्तर या सूर्य, चन्द्र आदि बाह्य स्थान में लगाना है,<sup>१</sup> सधता है। यों धारणानिष्ठ हो जाने पर योगी को अन्यत्र—आत्मरमण के अतिरिक्त अन्य विषयों में मोद या हर्ष नहीं होता—वह जरा भी उनमें रस नहीं लेता।

सूक्ष्मबोध उसे पूर्वतन दृष्टि में प्राप्त हो चुका होता है, वह इसमें चिन्तन, मनन, निदिध्यासनमूलक मीमांसा करता है, सद्विचारणा में तल्लीन रहता है, जिसकी फलनिष्पत्ति आत्मा के उत्कर्ष में होती है।

इस दृष्टि का नाम कान्ता अनेक अपेक्षाओं से संगत है। कान्ता का एक अर्थ पतिव्रता नारी है। पतिव्रता नारी घर के सभी कार्य करती है पर उसका मन प्रतिक्षण अपने पति में रहता है। उसी प्रकार इस दृष्टि में स्थित योगी का चित्त कर्तव्यवश सांसारिक कार्य करते हुए भी श्रुत-धर्म में—अध्यात्म में लीन रहता है। अथवा इस दृष्टि में स्थित योगी सभी को बड़ा कान्त—प्रिय लगता है, इसलिए इसे कान्ता कहा जाना उपयुक्त है। अथवा यह दृष्टि योगीजनों को बड़ी कान्त—प्रीतिकर—प्रिय है, अतः इसे कान्त नाम से अभिहित किया गया है।

१ देशबन्धशिवत्तस्य धारणा ।

—पातंजल योगसूत्र ३-१

[ १६३ ]

अस्यां तु धर्ममाहात्म्यात् समाचारविशुद्धितः ।  
प्रियो भवति भूतानां धर्मैकाग्रमनास्तथा ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी धर्म की महिमा तथा सम्यक् आचार की विशुद्धि के कारण सब प्राणियों का प्रिय होता है—सब जीवों को वह प्रीतिकर प्रतीत होता है। उसका मन धर्म में एकाग्र—तन्मय हो जाता है।

[ १६४ ]

श्रुतधर्मे मनो नित्यं कायस्त्वस्थान्यचेष्टिते ।  
अतस्त्वाक्षेपकज्ञानान्न भोगा भवहेतवः ॥

इस दृष्टि वाला योगी आत्मधर्म की इतनी दृढ़ भावना लिए होता है कि चाहे वह शरीर से अन्यान्य कार्यों में लगा हो पर उसका मन सदा सद्गुरुजन से सुने हुए, सीखे हुए आगम में तल्लीन रहता है। वह योगी सदा आक्षेपक—सहज स्वभाव की ओर आकृष्ट करने वाले ज्ञान से युक्त होता है—एक ऐसी दिव्य ज्ञानानुभूति उसे रहती है, जिससे अनुप्राणित होता हुआ वह सतत सहजावस्था—आत्मभाव की ओर खिंचा रहता है। अतः अनासक्त भाव से भोगे जाते सांसारिक भोग उसके लिए भवहेतु—संसार के कारण—जन्म-मरण के चक्र में भटकाने वाले नहीं होते।

[ १६५ ]

मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्ननुद्विग्नस्ततो द्रुतम् ।  
तन्मध्येन प्रयात्येव यथा व्याघातवजितः ॥

जो पुरुष मृगमरीचिका के जल को वस्तुतः जानता है—उसके मिथ्या कल्पित अस्तित्व को समझता है, वह जरा भी उद्विग्न हुए बिना—घबराये बिना निर्विघ्नतया उसके बीच से चला जाता है। अर्थात् जल तो वहाँ है नहीं, केवल भ्रम है। जो उसकी यथार्थता समझ लेता है, वह भ्रान्त नहीं होता, अतः भयभीत भी नहीं होता। भय का कोई कारण भी तो वहाँ नहीं है। भय तो केवल भ्रान्तिजन्य है।

[ १६६ ]

भोगान् स्वरूपतः पश्यंस्तथा मायोदकोपमान् ।  
भुञ्जानोऽपि ह्यसङ्गः सन् प्रयात्येव परं पदम् ॥

वह साधक भोगों को मृगमरीचिका के जल की तरह मिथ्या, असार और कल्पित देखता है, जानता है। अनासक्त भाव से उन्हें भोगता हुआ भी वह परम पद की ओर अग्रसर होता जाता है।

[ १६७ ]

भोगतत्त्वस्य तु पुनर्न भवोर्दाधलंघनम् ।  
मायोदकदृढावेशस्तेन यातीह कः पथा ॥

जो पुरुष भोगों को तात्त्विक, वास्तविक, परमार्थरूप मानता है, वह संसार-समुद्र को लाँघ नहीं सकता। जिसे मृगमरीचिका के जल में दृढ़ आवेश—अभिनिवेश या आग्रहपूर्ण निश्चय है—जो उसे सचमुच जल मानता है, किस मार्ग से वह वहाँ जाए अर्थात् मिथ्याअभिनिवेश के कारण वह उसे पार करने को उद्यत नहीं होता।

[ १६८ ]

स तत्रैव भवोद्विग्नो यथा तिष्ठत्यसंशयम् ।  
मोक्षमार्गोऽपि हि तथा भोगजम्बालमोहितः ॥

पूर्वोक्त कथन के अनुसार जो मृगमरीचिका के जल को वास्तविक जल मानता है, वह संसार में उद्वेग—दुःख पाता हुआ निश्चित रूप से वहीं टिका रहता है। जब माया-जल को यथार्थतः जल मानता है, तो उसे पार कैसे करे? उसे भय बना रहता है—वैसा करने पर वह कहीं डूब न जाए। यही स्थिति मोक्षमार्ग में है। जो पुरुष भोगों के कीचड़ में मोहित है, फँसा है, मोक्ष-मार्ग में उसका प्रवेश, गति कैसे हो?

[ १६९ ]

मीमांसाभावतो नित्यं न मोहोऽस्यां यतो भवेत् ।  
अतस्तत्त्वसमावेशात् सदैव हि हितोदयः ॥

इस दृष्टि में संस्थित साधक तत्त्वचिन्तन, तत्त्वमीमांसा में निरन्तर लगा रहता है। इसलिए वह मोहव्याप्त नहीं होता—वह मोहमूढ नहीं बनता। तत्त्व-समावेश—तत्त्वज्ञान—यथार्थ अवबोध के प्राप्त हो जाने के कारण सदैव उत्तरोत्तर उसका हित—श्रेयस् सधता जाता है।

प्रभा-दृष्टि

[ १७० ]

ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो नास्यां रुगत एव हि ।  
तत्त्वप्रतिपत्तियुता सत्यप्रवृत्तिपदावहा ॥

प्रभा दृष्टि प्रायशः ध्यानप्रिय है। इसमें संस्थित योगी प्रायः ध्यान निरत रहता है अर्थात् इसमें योग का सातवाँ अंग ध्यान—ध्येय में प्रत्ययै-कतानता<sup>१</sup>—चित्तवृत्ति का एकाग्र भाव सधता है। राग, द्वेष, मोह रूप त्रिदोष जन्य भाव-रोग यहाँ बाधा नहीं देते। दूसरे शब्दों में, राग-द्वेष-मोहात्मक प्रवृत्ति, जो आत्मिक स्वस्थता में बाधक होती है, यहाँ उभार नहीं पाती। तत्त्व मोमांसक योगी यहाँ ऐसी स्थिति पा लेता है, जिसमें उसे तत्त्वानुभूति प्राप्त होती है। सहजतया सत्प्रवृत्ति की ओर उसका झुकाव रहता है।

[ १७१ ]

ध्यानजं सुखमस्यां तु जितमन्मथसाधनम् ।  
विवेकबलनिर्जातं शमसारं सदैव हि ॥

इस दृष्टि में ध्यानजनित सुख अनुभूत होता है, जो काम के साधनों—रूप, शब्द, स्पर्श आदि विषयों को जीतने-वाला है। वह ध्यान—प्रसूत सुख विवेक के बल—उदग्रता—तीव्रता से उद्भूत होता है। उसमें प्रशान्त भाव की प्रधानता रहती है।

१. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

[ १७२ ]

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।  
एतदुक्तं समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

परवशता—परतन्त्रता में सर्वथा दुःख है तथा आत्मवशता—आत्म-  
तन्त्रता—स्वतन्त्रता में सर्वथा सुख है । संक्षेप में यह सुख तथा दुःख का  
लक्षण है ।

[ १७३ ]

पुण्यापेक्षमपि ह्येवं सुखं परवशं स्थितम् ।  
ततश्च दुःखमेवैतत्तल्लक्षणनियोगतः ॥

पुण्य की अपेक्षा रखने वाला—पुण्योदय से होने वाला सुख भी  
परतन्त्र है । पुण्य शुभकर्म पुद्गलात्मक है, आत्मा से भिन्न है, पर है । उस  
पर आश्रित सुख सर्वथा परवशता लिये हुए होता है । वास्तव में वह दुःख  
है क्योंकि दुःख का लक्षण परवशता है ।

पुण्य भी बन्धन है । पाप लोहे की बेड़ी है, पुण्य सोने की । बेड़ी  
चाहे लोहे की हो या सोने की, है तो बेड़ी ही । बाँधे रखने के कारण दोनों  
ही कष्टप्रद हैं । इसके अतिरिक्त इतना और समझने योग्य है, जब तक पुण्य  
का संयोग है, पुण्यबन्ध है, संसार-बन्धन चालू रहता है, वस्तुतः जो  
दुःखमय है ।

[ १७४ ]

ध्यानं च निर्मले बोधे सदैव हि महात्मनाम् ।  
क्षीणप्रायमलं हेम सदा कल्याणमेव हि ॥

बोध के निर्मल होने पर महान् साधकों के सदैव ध्यान सधता रहता  
है । जिस सोने का मूल निकाल दिया गया हो, वह सोना सदा कल्याण—  
उत्तम—विशुद्धि लिए होता है । कहीं-कहीं नाम से भी उसे कल्याण कहा  
जाता है ।

[ १७५ ]

सत्प्रवृत्तिपदं चेहासङ्गनुष्ठानसंज्ञितम् ।  
महापथप्रयाणं यदनागामि पदावहम् ॥

पीछे जो सत्-प्रवृत्ति-पद कहा गया है, उसकी असंगानुष्ठान संज्ञा है । अनुष्ठान चार प्रकार का माना गया है—१. प्रीति-अनुष्ठान, २. भक्ति-अनुष्ठान, ३. वचन-अनुष्ठान तथा ४. असंग-अनुष्ठान । समग्र प्रकार के संग—आसक्तता या संस्पर्श रहित विशुद्ध आत्मानुचरण असंगानुष्ठान है । इसे अनालम्बन योग भी कहा जाता है, जो संगत्याग पर आधृत है । असंगानुष्ठान महापथप्रयाण—अध्यात्म-साधना के महान् उपक्रम में गतिशीलता का संयोजक है । यह अनागामि पद—अपुनरावर्तन—जन्म-मरण से रहित शाश्वत पद प्राप्त कराने वाला है ।

[ १७६ ]

प्रशान्तवाहितासंज्ञं विसभागपरिक्षयः ।  
शिववर्त्मं ध्रुवाध्वेति योगिभिर्गीयते ह्यदः ॥

योगीजन असंगानुष्ठान पद को विभिन्न नामों से आख्यात करते हैं । इसे सांख्य दर्शन में प्रशान्तवाहिता, बौद्ध दर्शन में विसभागपरिक्षय तथा शैव दर्शन में शिववर्त्म कहा गया है । कोई उसे ध्रुव मार्ग भी कहते हैं ।

[ १७७ ]

एतत् प्रसाधयत्याशु यद्योग्यस्यां व्यवस्थितः ।  
एतत्पदावहैषैव तत्तत्रैतद्विदां मता ॥

इस दृष्टि में संस्थित योगी असंगानुष्ठान को शीघ्र साध लेता है । अतः असंगानुष्ठानपद—परम वीतराग भावरूप स्थिति को प्राप्त कराने वाली यह दृष्टि इस तथ्य के वेत्ता योगीजनों को इष्ट या अभीप्सित है ।

परा-दृष्टि

[ १७८ ]

समाधिनिष्ठा तु परा तदासंगविवर्जिता ।  
सात्मीकृतप्रवृत्तिश्च तदुत्तीर्णाशयेति च ॥

आठवीं परा-दृष्टि समाधिनिष्ठ होती है—वहाँ आठवाँ योगांग समाधि<sup>१</sup>—चित्त का ध्येयाकार में परिणमन सध जाता है। इसमें आसंग दोष—किसी एक ही योग क्रिया में आसक्ति रूप दूषण नहीं रहता। इसमें शुद्ध आत्म-तत्त्व, आत्म-स्वरूप जिस प्रकार अनुभूति में आए, वैसी प्रवृत्ति, आचरण या चारित्र्य सहज रूप में गतिमान् रहता है। इसमें चित्त उत्तीर्णा-न्नय—प्रवृत्ति से उत्तीर्ण—ऊँचा उठा हुआ हो जाता है। चित्त में कोई प्रवृत्ति करने की वासना नहीं रहती।

[ १७६ ]

निराचारपदो ह्यस्यामतिचारविवर्जितः ।  
आरूढारोहणाभावगतित्वत्वस्य चेष्टितम् ॥

इस दृष्टि में योगी निराचार पद युक्त होता है—किसी आचार के अनुसरण का प्रयोजन वहाँ रह नहीं जाता। वह अतिचारों से विवर्जित होता है—कोई अतिचार या दोष लगने का कारण उसके नहीं होता। जो पहुँचने योग्य मंजिल पर चढ़ चुका हो, उसे और आगे चढ़ने की आवश्यकता नहीं रहती। अतः आगे चढ़ने का अभाव हो जाता है। वैसी ही स्थिति यहाँ स्थित योगी की होती है। उसके लिए किसी आचार का परिपालन अपेक्षित नहीं रहता। वह वैसी स्थिति से ऊँचा उठ चुकता है।

[ १८० ]

रत्नादिशिक्षाद्गभ्योऽन्या यथा इक् तन्नियोजने ।  
तथाचारक्रियाऽप्यस्य सैवान्या फलभेदतः ॥

रत्न आदि के सम्बन्ध में शिक्षा लेते समय शिक्षार्थी की जो दृष्टि होती है, शिक्षा ले चुकने पर, उस विद्या या कला में निष्णात हो जाने पर रत्न आदि के नियोजन—क्रय-विक्रय आदि प्रयोग में उसकी दृष्टि उससे सर्वथा भिन्न होती है। क्योंकि उसकी दोनों स्थितियों में अन्तर है। शिक्षाकाल में वह जिज्ञासु था, उसे जानने की, अपना ज्ञान बढ़ाने की

१. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

उत्सुकता थी। नियोजन-काल में वह उस स्थिति से ऊँचा उठा हुआ है। वहाँ वह प्राप्त ज्ञान या निपुणता का बुद्धिमत्तापूर्वक उपयोग करता है। यही स्थिति इस दृष्टि में संस्थित योगी की है। उसकी पहले की आचार-क्रिया तथा अब की आचार-क्रिया फलभेद की दृष्टि से सर्वथा भिन्न होती है।

[ १८१ ]

तन्नियोगान्महात्मेह कृतकृत्यो यथा भवेत् ।  
 तथाऽयं धर्मसंन्यासविनियोगान्महामुनिः ॥

सुयोग्य जौहरी रत्न के सद्बिनियोग से—लाभप्रद व्यवसाय से अपने को कृतकृत्य मानता है, वैसे ही वह महान् योगी धर्म-संन्यास—शुद्ध दृष्टि से तात्त्विक आचरणमूलक, नैश्चयिक शुद्ध व्यवहारमय विशिष्ट योग द्वारा अपने को कृतकृत्य मानता है।

[ १८२ ]

द्वितीयापूर्वकरणे मुख्योऽयमुपजायते ।  
 केवलश्रीस्ततश्चास्य निःसपत्ना सदोदया ॥

मुख्य—तात्त्विक द्वितीय अपूर्वकरण में धर्म-संन्यास निष्पन्न होता है। उससे योगी को सदा उत्कर्षशील—प्रतिपात रहित केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी अधिगत होती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, प्रथम अपूर्वकरण में ग्रन्थि-भेद होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में क्षपकश्रेणी प्राप्त होती है। प्रथम अपूर्वकरण में अनादि-कालीन भवभ्रमण के मध्य जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ, साधक में ऐसा प्रशस्त, शुभ आत्मपरिणाम उद्भूत होता है। द्वितीय अपूर्वकरण में साधक के परिणामों में अपूर्व निर्मलता तथा पवित्रता का संचार होता है।

[ १८३ ]

स्थितः शीतांशुश्चजीवः प्रकृत्या भावशुद्धया ।  
 चन्द्रिकावच्च विज्ञानं तदावरणमभ्रवत् ॥



जीव अपनी शुद्धभावात्मक प्रकृति से चन्द्र के समान स्थित है ।  
विज्ञान—आत्मा का स्व-पर-प्रकाशक ज्ञान चन्द्रिका के सदृश है तथा  
आवरण—ज्ञानावरणादि कर्म-आवरण मेघ के समान हैं, जो शुद्ध स्वभावस्थ  
आत्मा को आवृत्त करते हैं ।

[ १८४ ]

घातिकर्माभ्रकल्पं तदुक्तयोगानिलाहतेः ।  
यदापैति तदा श्रीमान् जायते ज्ञानकेवली ॥

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय तथा अन्तराय—ये घाति—  
आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले कर्म बादल के समान हैं । जब ये  
पूर्वोक्त योगरूपी वायु के आघात से हट जाते हैं, तब आत्म-लक्ष्मीसमुपेत  
साधक ज्ञानकेवली—सर्वज्ञ हो जाता है ।

[ १८५ ]

क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः सर्वलब्धिफलान्वितः ।  
परं परार्थं सम्पाद्य ततो योगान्तमश्नुते ॥

अज्ञान, निद्रा, मिथ्यात्व, हास्य, अरति, रति, शोक, दुर्गच्छा, भय,  
राग, द्वेष, अविरति, वेदोदय—काम-वासना, दानान्तराय, लाभान्तराय,  
वीर्यान्तराय, भोगान्तराय तथा उपभोगान्तराय—इन अठारह दोषों का  
क्षय हो जाने से सर्वज्ञत्व प्राप्त होता है ।

चार घाति-कर्म, जो क्षीण हो चुकते हैं, उनमें एक अन्तराय-कर्म  
है, जिसके क्षय से अनन्त दानलब्धि, अनन्त लाभ-लब्धि, अनन्तवीर्य-लब्धि,  
अनन्तभोग-लब्धि तथा अनन्त उपभोग-लब्धि समुदित होती है । पर यहाँ  
यह ज्ञातव्य है कि इन लब्धियों की सम्प्राप्ति आत्मा के क्षायिक-भाव से  
निष्पन्न है, औदायिक-भाव से नहीं । अतः शुद्ध भावापन्न आत्मा, परमपुरुष  
इन लब्धियों की प्रवृत्ति पौद्गलिक दृष्टि से नहीं करते । ये लब्धियाँ  
आत्म-स्वभावभूत हैं, आत्मा के शुद्ध स्वरूप में, परमानन्द में विविध-  
मुखी परिणमन के रूप में इनकी प्रवृत्ति या उपयोग हैं । ये नितान्त  
आध्यात्मिक हैं ।

उच्चावस्था प्राप्त, समग्रलब्धि सम्पन्न वीतराग प्रभु अपने अवशेष रहे चार अघाति कर्मों के उदयानुरूप इस भूतल पर विचरण करते हुए परम लोक-कल्याण सम्पादित कर—संसार के ताप से सन्तप्त लोगों को आत्मशान्ति प्रदान कर, जन-जन का महान् उपकार कर योग का पर्यवसान साध लेते हैं—अन्ततः योग की चरम-फल-प्रसूति—शैलेशी अवस्था प्राप्त कर लेते हैं ।

[ १८६ ]

तत्र द्रागेव भगवानयोगाद्योगसत्तमात् ।  
भवव्याधिक्षयं कृत्वा निर्वाणं लभते परम् ॥

वह परम पुरुष अयोग—योगराहित्य - मानसिक, वाचिक, कायिक प्रवृत्तियों के अभाव द्वारा, जो योग की सर्वोत्तम दशा है, शीघ्र ही संसार रूप व्याधि का क्षय कर परम निर्वाण प्राप्त कर लेता है ।

मुक्ततत्त्वमीमांसा —

[ १८७ ]

व्याधिमुक्तः पुमान् लोके यादृशस्तादृशो ह्ययम् ।  
नाभावो न च नो मुक्तो व्याधिना व्याधितो न च ॥

संसार में जैसे रोगमुक्त पुरुष होता है, वैसा ही वह मुक्त पुरुष है । वह अभावरूप नहीं है, सद्भावरूप है । वह व्याधि से मुक्त नहीं हुआ, ऐसा नहीं है अर्थात् भवव्याधि से वह मुक्त हुआ है ! वह व्याधि से युक्त नहीं हुआ, ऐसा भी नहीं है क्योंकि निर्वाण प्राप्त करने से पूर्व वह भवव्याधि से युक्त था ।

[ १८८ ]

भव एव महाव्याधिर्जन्ममृत्युविकारवान् ।  
विचित्रमोहजननस्तोन्नरागादिवेदनः ॥

यह संसार ही घोर व्याधि है, जो जन्म-मरण के विकार से युक्त है, अनेक प्रकार का मोह उत्पन्न करती है तथा तीव्रराग, द्वेष आदि की वेदना—पीड़ा—संकलेश लिये हुए है ।

[ १८६ ]

मुख्योऽयमात्मनोऽनादिचित्रकर्मनिदानजः ।

तथानुभवसिद्धत्वात् सर्वप्राणिभूतामिति ॥

यह (भव-व्याधि) आत्मा की प्रमुख व्याधि है, कोई काल्पनिक नहीं है। अनादि काल से चले आते विविध प्रकार के कर्मों से यह प्रसूत है। सभी प्राणियों को यह अनुभवसिद्ध है—सभी इसे अपने-अपने अनुभव से जानते हैं।

[ १६० ]

एतन्मुक्तश्च मुक्ताऽपि मुख्य एवोपपद्यते ।

जन्मादिदोष विगमात्तददोषत्वसंगतेः ॥

भव-व्याधि से मुक्त हुआ पुरुष भी जन्म, मृत्यु प्रभृति दोषों के मिट जाने तथा सर्वथा दोष रहित हो जाने के कारण पारमार्थिक सत्-रूप मुख्य—प्रधान—परमोत्तम ही होता है। अर्थात् भवव्याधि को जिसे मुख्य कहा गया है, मिटा देने के कारण मिटाने वाला परम पुरुष भी मुख्य ही है—मुख्य बाधक को मिटाया, स्वयं सम्पूर्ण स्वत्व प्राप्ति रूप मुख्यत्व स्वायत्त किया।

[ १६१ ]

तत्स्वभावोपमर्दोऽपि तत्तत्स्वाभाव्ययोगतः ।

तस्यैव हि तथाभावात्तददोषत्वसंगतिः ॥

अपने स्वभाव के उपमर्द से—विभाव या परभाव के आक्रमण से स्वभाव के उपमर्दित—उपप्लुत—आवृत हो जाने के कारण—दब जाने या ढक जाने के कारण संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा का जब योग-साधना द्वारा पुनः अपने स्वभाव से योग होता है—उसका आवृत स्वभाव उद्घाटित होता है, विभाव का आवरण हट जाता है, तब उसका तथाभाव-शुद्ध स्वरूप उद्भासित होता है और सर्वथा उसे निर्दोषावस्था प्राप्त हो जाती है।

[ १६२ ]

स्वभावोऽस्य स्वभावो यग्निजा सत्तैव तत्त्वतः ।  
भावावधिरयं युवतो नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

आत्मा का जो अपना भाव है, तत्त्वतः जो अपनी सत्ता है, उसी प्रकार होना स्वभाव है। स्वभाव भावावधियुक्त है—स्वभाव की जैसी, जितनी मर्यादा है, वह उसी प्रकार घटित होता है, अन्य प्रकार से नहीं। शुद्ध चेतन भाव में होना, वर्तना आत्मा की स्वभाव-मर्यादा है, यही इसका मर्यादा-धर्म है। शुद्ध चेतन भाव में वर्तने से ही आत्मा का स्वभाव में आना कहा जाता है। चेतन भाव में न वर्ते तो उसका स्वभाव में आना, वर्तना नहीं कहा जाता। यदि कहा जाता है तो अति प्रसंग दोष आता है। वैसे कहना प्रसंग से बहिर्भूत है।

[ १६३ ]

अनन्तरक्षणाभूतिरात्मभूतेह यस्य तु ।  
तथाऽविरोधान्नित्योऽसौ स्यादसत्त्वा सदैव हि ॥

प्रस्तुत श्लोक में आचार्य ने क्षणिकवाद का निषेध किया है जो पहले, अगले क्षण आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता, केवल उसे वर्तमान क्षणवर्ती मानता है, स्वयं उस पर भी यह घटाया जाय तो विरोध आता है। उसके कथन के अतिरुद्ध विचार किया जाए तो अपने कथनानुसार वर्तमान भाव में तो वह है, पिछले, अगले क्षण में नहीं। जो वर्तमान भाव में वर्तमान—विद्यमान है तो भाव की दृष्टि से वह नित्य होना चाहिए। तद्भाव तद्वत् होता है, ऐसा नियम है। तदवत् तभी होता है, जब पिछले क्षण में भी भाव या सत्ता हो।

यदि पिछले, अगले क्षण में सर्वथा 'अभाव' होने पर जोर दिया जाए तो वादी का स्वयं का भी अगले, पिछले क्षण में अस्तित्व नहीं टिकता। जब वह स्वयं पिछले, अगले क्षण में नहीं है तो पिछले, अगले क्षण के सम्बन्ध में वह कैसे जान सकता है, उस सम्बन्ध में कैसे कुछ कह सकता है? अतः वह स्वयं वर्तमान क्षण में विद्यमान है, यह इस तथ्य का सूचक है कि पिछले,

अगले क्षण—भूत, भविष्य में भी उसकी विद्यमानता होनी चाहिए। क्योंकि जैसा कहा गया है, 'वस्तु क्षणिक है'—जो ऐसा जानता है, कथन करता है, वह स्वयं क्षणिक नहीं होता। उसका अपना भूत, वर्तमान, भविष्य-वर्ती अस्तित्व एक ऐसा तथ्य है, जिससे क्षणिकवाद स्वयं निरस्त हो जाता है।

[ १६४ ]

स एव न भवत्येतदन्यथा भवतोतिवत् ।  
विरुद्धं तन्नयादेव तदुत्पत्त्यादितस्तथा ॥

क्षणिकवाद का और अधिक स्पष्टता तथा युक्तिमत्तापूर्वक यहाँ निर-सन किया गया है। "स एव न भवति - वह ही नहीं होता।" "एतदन्यथा भवति—यह अन्यथा होता है।" इन उक्तियों के आधार पर आचार्य अपना विवेचन आगे बढ़ाते हैं। 'अन्यथा भवति' इसका क्षणिकवादी खण्डन करता है। उसका कथन है—यदि 'भवति'—भाव है तो वह अन्यथा नहीं होता। यदि अन्यथा होता है तो भाव नहीं है। यों खण्डन करता हुआ वह स्वयं अपने से ही व्याहृत हो जाता है। वह "स एव न भवति" ऐसा जो निरूपण करता है, अर्थात् विगत क्षण तथा आगामी क्षण में वह नहीं होता—यह कथन भी "एतत् अन्यथा भवति" को जैसे असंगत बतलाया, असंगत सिद्ध होता है। क्योंकि यदि "स एव—वही है" तो फिर 'न भवति' सिद्ध नहीं होता और यदि वह 'न भवति' है तो फिर 'स एव'—वही है, ऐसा फलित नहीं होता। इस युक्ति से क्षणिकवाद की सिद्धि घटित नहीं होती।

[ १६५ ]

सतोऽसत्त्वे तदुत्पादस्ततो नाशोऽपि तस्य यत् ।  
तन्नष्टस्य पुनर्भावः सदा नाशे न तत्स्थितिः ॥

यदि सत् का असत्त्व माना जाए, उसे असत् माना जाए तो असत्त्व की उत्पत्ति माननी होगी। यदि उत्पत्ति होगी तो नाश भी मानना होगा। फिर नष्ट हुए असत्त्व का पुनर्भाव होगा। यदि उसका नित्य नाश माना जाए तो फिर उसकी स्थिति ही नहीं टिकेगी।

[ १६६ ]

स क्षणस्थितिधर्मा चेद् द्वितीयादिक्षणे स्थितौ ।  
युज्यते ह्येतदप्यस्य तथा चोक्तानतिक्रमः ॥

यदि ऐसा कहा जाए, वह नाश क्षणस्थितिधर्मा है तो द्वितीय आदि क्षण में उसकी स्थिति होगी, जो युक्त है। ऐसा होने से उक्त का अनतिक्रम होता है—जो कहा गया है, उसका उल्लंघन—खण्डन नहीं होता।

[ १६७ ]

क्षणस्थितौ तदैवास्य नास्थितिर्युक्त्यसंगतेः ।  
पश्चादपि सेत्येवं सतोऽसत्त्वं व्यवस्थितम् ॥

क्षण स्थितिकता मानने पर विवक्षित क्षण में विवक्षित भाव की अस्थिति—स्थिति रहितता नहीं होती। अर्थात् उसकी स्थिति होती है। ऐसा न होने पर युक्तिसंगतता बाधित होती है। बाद में भी स्थितिराहित्य नहीं होता। यों अपरापर-अनुस्यूत सत्, असत् का एक सुव्यवस्थित क्रम है। इससे उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य का सिद्धान्त फलित होता है।

[ १६८ ]

भवभावानिवृत्तावप्ययुक्ता मुक्तकल्पना ।  
एकान्तैकस्वभावस्य न ह्यवस्थाद्वयं क्वचित् ॥

संसार-भाव की अनिवृत्ति—एकान्त नित्यता मानने पर आत्मा के मुक्त होने की कल्पना सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जिसका एकान्तः सर्वथा स्थिर, अपरिवर्त्य, एक रूप स्वभाव होता है, संसारावस्था, मुक्तावस्था—यों दो अवस्थाएँ उसके नहीं हो सकती। वैसा होने से उसकी एकस्वभावता में विरोध आता है।

[ १६९ ]

तदभावे च संसारी मुक्तश्चेति निरर्थकम् ।  
तत्स्वभावोपमदोऽस्य नीत्या तात्त्विक इष्यताम् ॥

उक्त दो अवस्थाओं के न होने पर आत्मा को संसारी और मुक्त कहना निरर्थक होगा। अतः आत्मा का स्वभावोपमर्द—अवस्था से अवस्थान्तर, भाव से भावान्तर, परिणाम से परिणामान्तर आदि न्यायपूर्वक तात्त्विक—पारमार्थिक या यथार्थ मानें। ऐसा होने से ही आत्मा की संसारावस्था, मुक्तावस्था आदि स्थितियाँ घटित हो सकती हैं।

[ २०० ]

दिदृक्षाद्यात्मभूतं तन्मुख्यमस्य निवर्तते ।  
प्रधानादिनतेर्हेतुस्तदभावान्न तन्नतिः ॥

दिदृक्षा—देखने की इच्छा, अविद्या—आत्मस्वरूप का अज्ञान, — राग, द्वेष, मोह आदि आन्तरिक मालिन्य, भवाधिकार—संसारोन्मुख भाव की प्रबलता आदि आत्मभूत हैं—आत्मा के अंगभूत भाव हैं, वास्तविक सत्ता लिये हुए हैं, काल्पनिक नहीं हैं। आत्मा के साथ जुड़े होने से वे औपचारिक नहीं वरन् मुख्य हैं। वे जब तक निवृत्त नहीं होते—आत्मा से हटते नहीं, तब तक वे प्रधान—जड़ प्रकृति आदि के परिणमन के निमित्त बनते हैं। तब तक संसारभाव—सांसारिक सलभता बनी रहती है। दिदृक्षा आदि भावों का जब अभाव हो जाता है तो आत्मा के प्रकृत्यनुरूप परिणमन का अभाव हो जाता है, मुक्तभाव प्राप्त हो जाता है। आत्मा का परिणामित्व इससे सिद्ध होता है।

[ २०१ ]

अन्यथा स्यादियं नित्यमेषा च भव उच्यते ।  
एवं च भवनित्यत्वे कथं मुक्तस्य सम्भवः ॥

यदि उक्त कथन—दिदृक्षा आदि के कारण प्रधान आदि की परिणति न मानी जाए, तो वह (प्रधान आदि की परिणति) नित्य घटित होती है। इसे (परिणति को) भव या संसार कहा जाता है। प्रधान आदि की परिणति को जब नित्य माना जायेगा तो संसार भी नित्य होगा। वैसे स्थिति में मुक्त की—संसार-बन्धन से छूटे हुए—मोक्ष प्राप्त जीव की संभावना कैसे की जा सकती है? अर्थात् वैसे नहीं सधता।

[ २०२ ]

अवस्था तत्त्वतो नो चेन्ननु तत्प्रत्ययः कथम् ।  
भ्रान्तोऽयं किमनेनेति मानमत्रं न विद्यते ॥

एकान्त नित्यवादी को उद्दिष्ट कर आचार्य का कथन है—यदि पूर्वापरभावयुक्त अवस्था परमार्थतः नहीं है, ऐसा कहते हो तो फिर अवस्था का प्रत्यय-प्रतीति कैसे हो ? कारण के अभाव में कार्य कैसे हो ?

इस पर वादी का पक्ष आता है—अवस्था की प्रतीति भ्रान्त—भ्रम-युक्त है, वह यथार्थ नहीं है ।

आचार्य का इस पर प्रत्युत्तर है—यदि अवस्था प्रतीति को भ्रमपूर्ण कहते हो तो उसका प्रमाण क्या है ? प्रमाण तो होना चाहिए । वस्तुतः इसका प्रमाण नहीं है । यह कथन अप्रमाणित है ।

[ २०३ ]

योगिज्ञानं तु मानं चेत्तदवस्थान्तरं तु तत् ।  
ततः किं भ्रान्तमेतत् स्यादन्यथा सिद्धसाध्यता ॥

पूर्वपक्ष को उद्दिष्ट कर आचार्य कहते हैं—यदि यों कहो कि योगिज्ञान—योग-साधना द्वारा निष्पन्न असाधारण ज्ञान, जिससे परोक्ष पदार्थ प्रत्यक्षवत् प्रतीत होते हैं, इसमें प्रमाण है तो योगिज्ञान तो योगी का अवस्थान्तर है—ज्ञान का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में, एक परिणमन से दूसरे परिणमन में जाना है ।

प्रतिवादी का कथन है—इससे क्या होता है ?

आचार्य का निरूपण है—योगिज्ञान या तो भ्रान्त होगा या अभ्रान्त । यदि उसे भ्रान्त मानते हो तो वह प्रमाण नहीं है । यदि अभ्रान्त मानते हो तो योगिज्ञान के अवस्थान्तर रूप होने से हमारा साध्य विषय आत्मा की अवस्थान्तरता—परिणामिता सिद्ध हो जाती है ।

[ २०४-२०५ ]

व्याधितस्तदभावो वा तदन्यो वा यथैव हि ।  
व्याधिमुक्तो न सन्नीत्या कदाचिदुपपद्यते ॥



संसारी तदभावो वा तदन्यो वा तथैव हि ।  
मुक्तोऽपि हन्त नो मुक्तो मुख्यवृत्त्येति तद्विदः ॥

जो व्याधियुक्त—रोग सहित है, उसे व्याधियुक्त नहीं कहा जा सकता । जहाँ व्याधियुक्त का अभाव है—व्याधियुक्त पुरुष जहाँ है ही नहीं, वहाँ भी व्याधियुक्त का प्रयोग नहीं होता । क्योंकि व्याधियुक्त होने पर ही व्याधि छूट जाने पर व्याधियुक्त संज्ञा होती है । व्याधियुक्त पुरुष से अन्य व्यक्ति—उसके पुत्र, बन्धु, मित्र आदि को या तद्भिन्न और किसी को व्याधियुक्त नहीं कहा जा सकता । उनमें से जब कोई व्याधिग्रस्त नहीं, तो फिर मुक्त कैसे कहे जायेंगे ।

इस दृष्टान्त के अनुसार जो जीव संसारी—संसारावस्थापन्न है, उसे मुक्त—संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता है, जहाँ संसारी पुरुष का अभाव है, वहाँ संसारमुक्त का प्रयोग नहीं घटता, जो संसारी पुरुष से एकान्त भिन्न है, उसे भी संसारमुक्त नहीं कहा जा सकता ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, शुद्ध निश्चयनय के अनुसार सभी जीवों को मुक्त या सिद्ध सदृश कहा गया है पर यथार्थतः पारमार्थिक मुक्तावस्था के बिना—मोक्ष की प्रवृत्तिनिमित्तता के अभाव में उक्त तीनों ही अवस्थाओं में 'मुक्त' का कथन घटित नहीं होता ।

[ २०६ ]

क्षीणव्याधिर्यथा लोके व्याधिमुक्त इति स्थितः ।  
भवरोग्येव तु तथा मुक्तस्तन्त्रेषु तत्क्षयात् ॥

जैसे व्याधियुक्त पुरुष व्याधि का क्षय—नाश हो जाने पर क्षीण व्याधि होता है, उसी प्रकार संसार—जन्म-मरण के रोग से ग्रस्त पुरुष उस रोग का—संसारावस्था का क्षय हो जाने पर मुक्त हो जाता है । ऐसा शास्त्रों में निर्देश है ।

कुलयोगी आदि का स्वरूप

[ २०७ ]

अनेकयोगशास्त्रेभ्यः संक्षेपेण समुद्धृतः ।  
दृष्टिभेदेन योगोऽयमात्मानुस्मृतये परः ॥

आचार्य ग्रन्थ-प्रणयन के सम्बन्ध में लिखते हैं—अनेक योगशास्त्रों से उनका सार गृहीत कर मित्रा आदि दृष्टियों के भेद से—दृष्टि विश्लेषण की पद्धति से प्रस्तुत ग्रन्थ आत्मानुस्मृति—आत्मस्वरूप का, आत्मप्रगति का अनुस्मरण—आत्मलक्ष्य की ओर जागरूक रहने, आत्म पराक्रम के सतत विकासोन्मुख अभ्युदय का स्मरण रखने हेतु आत्मोपकारार्थ रचा गया है।

[ २०८ ]

कुलादियोगभेदेन चतुर्धा योगिनो यतः ।

अतः परोपकारोऽपि लेशतो न विरुध्यते ॥

कुलादि योग—गोत्रयोग, कुलयोग, प्रवृत्तचक्रयोग तथा निष्पन्नयोग—इन भेदों के आधार पर योगी चार प्रकार के हैं। उनमें से भी किन्हीं का यत्किञ्चित् उपकार सधे, इसका विरोध नहीं। अर्थात् इस ग्रन्थ की रचना का मुख्य प्रयोजन तो आत्मानुस्मृति या आत्मोपकार ही है पर योगियों का उपकार भी इसका उपप्रयोजन या गौण प्रयोजन है।

[ २०९ ]

कुलप्रवृत्तचक्रा ये त एवास्याधिकारिणः ।

योगिनो न तु सर्वेऽपि तथासिद्ध्यादि भावतः ॥

कुलयोगी तथा प्रवृत्तचक्रयोगी ही इसके अधिकारी हैं, सभी योगी नहीं। क्योंकि गोत्रयोगी में वैसी योग्यता की असिद्धि होती है—उसमें वैसी योग्यता नहीं होती तथा निष्पन्नयोगी को वैसी योग्यसिद्धि प्राप्त हो चुकती है, जो प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशीलन तथा तदनुरूप साधन से प्राप्य है। अतः गोत्रयोगी तथा निष्पन्नयोगी—इन दो के लिए इसकी उपयोगिता नहीं है।

[ २१० ]

ये योगिनां कुले जातास्तद्धर्मानुगताश्च ये ।

कुलयोगिन उच्यन्ते गोत्रवन्तोऽपि नापरे ॥

जो योगियों के कुल में जन्मे हैं—जिन्हें जन्म से ही योग प्राप्त है— जो जन्म से ही योगी हैं, जो प्रकृति से ही योगिधर्म के अनुसर्ता हैं, वे कुल योगी कहे जाते हैं ।

तात्पर्य यह है, जो योगी योग-साधना करते-करते आयुष्य पूर्ण कर जाते हैं, उस जन्म में अपनी साधना पूर्ण नहीं कर पाते वे कुलयोगी के रूप में जन्म लेते हैं अर्थात् पूर्वसंस्कारवश उन्हें जन्म के साथ ही योग प्राप्त होता है, उनकी प्रकृति योग-साधना के अनुरूप होती है, वे आत्मप्रेरित हो स्वयं साधना में जुट जाते हैं ।

कुलयोगी शब्द बड़ा महत्त्वपूर्ण है । जैसे कुलवधू, कुलपुत्र आदि प्रशस्त अर्थ में हैं, उसी प्रकार कुलयोगी भी एक विशेष अर्थप्रशस्तता लिए हुए हैं । कुलवधू उसे कहा जाता है, जो अपने उच्च चारित्र्य, शील, सदाचार, लज्जा तथा सौम्य व्यवहार से कुल को सुशोभित करती है । कुलपुत्र वह है, जो अपने उत्तम व्यक्तित्व और कृतित्व से कुल को उजागर करता है । उसी प्रकार कुलयोगी उसे कहा जाता है, जो अपनी पावन, उदात्त योग-साधना द्वारा योगियों की गरिमा ख्यापित करता है, उनके अनुकरणीय, आदर्श जीवन की पवित्रता प्रस्तुत करता है । कुलयोगी आनुवंशिक नहीं है । योगियों का वंसा कोई कुल नहीं होता कि पिता योगी हो, पुत्र भी योगी हो, पुत्र का पुत्र भी योगी हो । कुलयोगी शब्द साधनानिष्ठ, योगपरायण पुरुषों की परम्परा से सम्बद्ध है, जो जन्म, वंशानुगति आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न हो सकते हैं ।

आर्यक्षेत्र के अन्तर्गत भारत भूमि में उत्पन्न भूमिभव्य कहे जाते हैं, उन्हें गोत्रयोगी भी कहा जाता है । इस भूमि में योग-साधना के अनुरूप उत्तम सामग्री, साधन, निमित्त आदि सुलभतया अधिगत होते हैं । पर केवल भूमि की भव्यता से साधना निष्पन्न नहीं होती । वह तभी सघर्ष है, जब साधक अपनी भव्यता, योग्यता, एवं सुपात्रता प्रकट कर पाए ।

अतएव प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि दूसरे गोत्रयोगी होते हुए भी कुलयोगी नहीं होते ।

[ २११ ]

सर्वत्राऽद्वेषिणश्चैते                      गुरुदेवद्विजप्रियाः ।  
दयालवो विनीताश्च बोधवन्तो यतेन्द्रियाः ॥

वे कुलयोगी सर्वत्र अद्वेषी होते हैं—किसी से भी द्वेष नहीं रखते गुरु, देव तथा ब्राह्मण उन्हें प्रिय होते हैं—वे इनमें प्रीति रखते हैं, इनका आदर करते हैं। वे दयालु, विनम्र, प्रबुद्ध तथा जितेन्द्रिय होते हैं।

[ २१२ ]

प्रवृत्तचक्रास्तु                                      पुनर्यमद्वयसमाश्रयाः ।  
शेषद्वयार्थिनोऽत्यन्तं                      शुश्रूषादिगुणान्विताः ॥

चक्र के किसी भाग पर डंडा सटाकर घुमा देने पर वह सारा स्वयं घूमने लग जाता है, वैसे ही जिनका योगचक्र उसके किसी अंग का संस्पर्श कर लेने, संप्रेरित कर देने पर सारा अपने आप प्रवृत्त हो जाता है, चलने लगता है, वे प्रवृत्तचक्र योगी कहे जाते हैं।

वे इच्छायम तथा प्रवृत्तियम—इन दो को साध चुकते हैं। स्थिरयम एवं सिद्धियम—इन दो को स्वायत्त करने की तीव्र चाह लिये रहते हैं, उधर अत्यन्त प्रयत्नशील रहते हैं।

प्रवृत्तचक्र योगी १. शुश्रूषा—सत् तत्त्व सुनने की आन्तरिक तीव्र उत्कण्ठा रखना, २. श्रवण—अर्थ का मनन-अनुसन्धान करते हुए सावधानी-पूर्वक तत्त्व सुनना, ३. सुने हुए को ग्रहण करना, ४. धारण—ग्रहण किये हुए का अवधारण करना, चित्त में उसका संस्कार जमाना, ५. विज्ञान—अवधारण करने पर उसका विशिष्ट ज्ञान होता है, प्राप्त बोध दृढ़ संस्कार से उत्तरोत्तर प्रबल बनता जाता है, वैसी स्थिति प्राप्त करना, ६. ईहा—चिन्तन, विमर्श, तर्क-वितर्क, शंका-समाधान करना, ७. अपोह—शंका-निवारण करना, चिन्तन विमर्श के अन्तर्गत प्रतीयमान बाधक अंश का निराकरण करना तथा ८. तत्त्वाभिनिवेश—तत्त्व में निश्चय पूर्ण प्रवेश या तत्त्वनिर्धारणमूलक अन्तःस्थिति प्राप्त करना—इन आठ गुणों से युक्त होते हैं।

[ २१३ ]

आद्यावञ्चकयोगाप्त्या तदन्यद्वयलाभिनः ।  
एतेऽधिकारिणो योगप्रयोगस्येति तद्विदः ॥

ये प्रवृत्तचक्रयोगी आद्य-अवञ्चक—योग-अवञ्चक प्राप्त कर चुकते हैं। योग-अवञ्चक प्राप्त करने का यह अमोघ प्रभाव होता है, उन्हें दूसरे दो—क्रिया-अवञ्चक तथा फल-अवञ्चक सहज ही प्राप्त हो जाते हैं। यों इन योगियों के तीनों अवञ्चक स्वायत्त हो जाते हैं। ऐसे योगी ही योग-प्रयोग—योग विद्या या योग-साधना के प्रयोग के अधिकारी हैं। योगविद्या आध्यात्मिक विज्ञान है। अधिकारी जहाँ इससे महत्त्वपूर्ण प्रयोग द्वारा असीम लाभ उठा सकते हैं, वहाँ अनधिकारी हानि उठा लेते हैं।

[ २१४ ]

इहाऽहिंसादयः पञ्च सुप्रसिद्धा यमाः सताम् ।  
अपरिग्रहपर्यन्तास्तथेच्छादिचतुर्विधाः ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम साधकों में सुप्रसिद्ध—सुप्रचलित हैं। इनमें अहिंसा से अपरिग्रह तक प्रत्येक के इच्छायम, प्रवृत्तियम, स्थिरयम तथा सिद्धियम के रूप में चार-चार भेद हैं। ये चारों भेद अहिंसा आदि यमों की तरतमता या विकासकोटि की दृष्टि से हैं, उनके क्रमिक अभिवर्धन के सूचक हैं।

इन भेदों के आधार पर निम्नांकित रूप में यम बीस प्रकार के होते हैं:—

### अहिंसा

१. इच्छा-अहिंसा, २. प्रवृत्ति-अहिंसा,
३. स्थिर-अहिंसा, ४. सिद्धि-अहिंसा ।

### सत्य

५. इच्छा-सत्य, ६. प्रवृत्ति-सत्य,
७. स्थिर-सत्य, ८. सिद्धि-सत्य ।

अस्तेय—

९. इच्छा-अस्तेय, १०. प्रवृत्ति-अस्तेय,  
११. स्थिर-अस्तेय, १२. सिद्धि-अस्तेय ।

ब्रह्मचर्य—

१३. इच्छा-ब्रह्मचर्य, १४. प्रवृत्ति-ब्रह्मचर्य,  
१५. स्थिर-ब्रह्मचर्य, १६. सिद्धि-ब्रह्मचर्य ।

अपरिग्रह—

१७. इच्छा-अपरिग्रह, १८. प्रवृत्ति-अपरिग्रह,  
१९. स्थिर-अपरिग्रह, २०. सिद्धि-अपरिग्रह ।

[ २१५ ]

तद्वत्कथाप्रीतियुता तथाऽविपरिणामिनी ।  
यमेष्विच्छाऽवसेयेह प्रथमो यम एव तु ॥

यमों के प्रति आन्तरिक इच्छा, अभिरुचि, स्पृहा, आकांक्षा, जो यमाराधक सत्पुरुषों की कथा में प्रीति लिए रहती हैं, जिसमें इतनी स्थिरता होती है कि जो कभी विपरिणत नहीं होती—अनिच्छारूप में परिणत नहीं होती—पहला इच्छायम है ।

[ २१६ ]

सर्वत्र शमसारं तु यमपालनमेव यत् ।  
प्रवृत्तिरिह विज्ञेया द्वितीयो यम एव तत् ॥

इच्छायम द्वारा अहिंसा आदि में उत्कण्ठा जागरित होती है, अन्त-रात्मा में उन्हें स्वायत्त करने की तीव्र भावना उत्पन्न होती है । फलतः साधक जीवन में उन्हें (अहिंसा आदि यमों को) क्रियान्वित करता है, प्रवृत्ति में स्वीकार करता है—उनमें प्रवृत्त होता है, वह प्रवृत्ति-यम है ।

यम-पालन का सार शम है अर्थात् यम-पालन से जीवन में शम—प्रशान्तभाव, शान्ति का उद्रेक होता है । अथवा जीवन में शम का समावेश होने पर यम प्रतिफलित होता है । दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है,

शम का सार—फल यम है। यों यम और शम—दोनों अन्योन्याश्रित सिद्ध होते हैं।

[ २१७ ]

विपक्षचिन्तारहितं यमपालनमेव तत् ।  
तत्स्थैर्यमिह विज्ञेयं तृतीयो यम एव हि ॥

प्रवृत्तियम के अन्तर्गत साधक अहिंसा आदि के परिपालन में प्रवृत्त तो हो जाता है किन्तु अतिचार, दोष, विघ्न आदि का भय बना रहता है। स्थिरयम में वैसा नहीं होता। साधक के अन्तर्मन में इतनी स्थिरता व्याप्त हो जाती है कि वह विपक्ष—अतिचाररूप कण्टक-विघ्न, हिंसादिरूप ज्वर-विघ्न तथा मतिमोह या मिथ्यात्वरूप दिङ्मोह-विघ्न आदि की चिन्ता से रहित हो जाता है। ये तथा दूसरे विघ्न, दोष आदि उसके मार्ग में अवरोध उत्पन्न नहीं कर पाते।

[ २१८ ]

परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः शुद्धान्तरात्मनः ।  
अचिन्त्यशक्तियोगेन चतुर्थो यम एव तु ॥

शुद्ध अन्तरात्मा की अचिन्त्य शक्ति के योग से परार्थ-साधक—दूसरों का उपकार साधने वाला यम सिद्धियम है।

जीवन में क्रमशः उत्तरोत्तर विकास पाते अहिंसा आदि यम इतनी उत्कृष्ट कोटि में पहुँच जाते हैं कि साधक में अपने आप एक दिव्य शक्ति का उद्रेक हो जाता है। उसके व्यक्तित्व में एक ऐसी दिव्यता आविर्भूत हो जाती है कि उसके कुछ बोले बिना, किये बिना केवल उसकी सन्निधिमात्र से उपस्थित प्राणियों पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि वे स्वयं बदल जाते हैं, उनकी दुर्वृत्ति छूट जाती है।

यमों के सिद्ध हो जाने से दृष्ट फलित क्या क्या होते हैं, महर्षि पतंजलि ने इस सम्बन्ध में अपने योगसूत्र में विशद चर्चा की है। उदाहरणार्थ अहिंसा यम के सिद्ध हो जाने पर उनके अनुसार अहिंसक योगी के यहाँ

वातावरण में अहिंसा इतनी व्याप्त हो जाती है कि जन्म से परस्पर बैर रखने वाले प्राणी भी वहाँ स्वयं आपस का बैर छोड़ देते हैं।

[ २१६ ]

सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनं ।

तथा दर्शनतो योग आद्यावंचक उच्यते ॥

कल्याणसम्पन्न विशिष्ट पुण्यशाली सत्पुरुषों के, जिनका दर्शन पावनता लिये है—जिनके दर्शन मात्र में दर्शकों के मन में पवित्रता का संचार होता है, आत्मा में संस्फूर्ति उत्पन्न होती है अत्यन्त निर्दोष, निर्विकार, आत्मगुणोपेत स्वरूप की पहचान कर, (उनके) साथ योग या सम्बन्ध होना आद्यावंचक (आद्य-अवंचक)—योगावंचक कहा जाता है।

ऐसे सत्पुरुष के, सद्गुरु के योग से साधक के जीवन में एक क्रान्ति आती है। जीवन की दिशा बदल जाती है, संसारलक्षिता स्वरूपलक्षिता की ओर मोड़ ले लेती है। इससे पूर्व साधक वंचक-योग में उलझा था। सद्गुरु के योग के बिना उसके समग्र योगसाधन वंचक थे। वह उनसे ठगा जा रहा था। सद्गुरु का योग, सद्गुरु की प्राप्ति, उनकी सन्निधि से प्राप्त होती प्रेरणा सचमुच साधना-पथ पर आगे बढ़ते साधक के लिए एक प्रकाश-स्तंभ है। साधक अपनी मंजिल की ओर सोत्साह आगे बढ़ता जाता है।

इसे आद्य-अवंचक कहा है। इसे प्राप्त न करने तक साधक प्रवंचना में उलझा रहता है, आगे बढ़ नहीं पाता। आगे बढ़ने का यह आद्य—प्रथम सोपान है।

[ २२० ]

तेषामेव प्रणामादिक्रियानियम इत्यलम् ।

क्रियावंचकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः ॥

उन सत्पुरुषों, सद्गुरुओं, भावसाधुओं का दर्शन, प्रणमन, स्तवन, कीर्तन, वैयावृत्त्य, सेवा आदि क्रिया करना क्रियावंचक योग कहा जाता है। यह महापापों का क्षय करने वाला है।



इस योग की प्राप्ति से पूर्व भी क्रिया तो होती रही है, अनन्तकाल से जीव अनन्त क्रियाएँ करता रहा है, पर जीवन का परम साध्य जो शुभ, अशुभ से अतीत शुद्धावस्था है, उस ओर सत्पुरुषों के योग बिना प्रयाण नहीं हुआ। सत्पुरुषों के योग रूप योगावंचक के प्राप्त हो जाने पर साधक की स्थिति बदल जाती है। उसका क्रिया-समुदाय पारमार्थिक बन जाता है। इसलिए उससे महापापक्षय निष्पन्न होता है।

[ २२१ ]

फलावंचकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः ।  
सानुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता ॥

सत्पुरुषों के सदुपदेश से धर्मसिद्धि—आत्मधर्म—आत्मस्वरूप के साक्षात्कार में सानुबन्ध—एक से एक जुड़े हुए—उत्तरोत्तर उत्तम फलों की प्राप्ति होती है। यह फलावंचक योग है।

सत्पुरुषों के सान्निध्य-सुयोगरूप योगावंचक, तत्पश्चात् क्रियावंचक योग के सध जाने पर जो फल प्राप्त होता है, वह स्वभावतः अवंचक होता है। वंचक से वंचक और अवंचक से अवंचक प्रसूत होता है। फिर सद्गुरु के सदुपदेश का अवलम्बन और मिल जाता है। साधक का क्रियायोग उत्तरोत्तर अभ्युदय पाता जाता है। यों सहजतया उसके फलावंचक योगावस्था सिद्ध होती है। यह सत्पुरुषों का अभिमत है।

[ २२२ ]

कुलादियोगिनामस्मान्मत्तोऽपि जडधोमताम् ।  
श्रवणात् पक्षपातादेरुपकारोऽस्ति लेशतः ॥

आचार्य अपने इस ग्रन्थ के सम्बन्ध में कहते हैं:—कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्र योगियों में, जो मुझसे भी मन्दबुद्धि हैं, इस ग्रन्थ के श्रवण से पक्षपात—शुभेच्छा आदि भाव जागरित होंगे, उनका यत्किंचित् उपकार होगा। अर्थात् जैसे साधक इस सद्ग्रन्थ को सुनें, गुणग्राहिता के कारण प्रमुदित होंगे, सत्तत्त्व ज्ञान में पक्षपात होगा, अभिरुचि बढ़ेगी, भक्ति स्फुरित होगी, योगमार्ग का प्रबोध होगा, उसमें संप्रवृत्त होने की अभिलाषा जागरित होगी, संप्राप्त योगबीज परिपुष्ट होंगे, उनमें से प्रकृष्ट योगसाधना के अंकुर

प्रस्फुटित होंगे, योगरूप कल्पवृक्ष फलेगा, फूलेगा, मोक्षरूप दिव्य अमृतफल प्रदान करेगा ।

दिग्गज विद्वान्, महान् योगी आचार्य हरिभद्र ने, जो निःसन्देह अपने युग के श्रुतचक्रवर्ती थे, प्रस्तुत प्रसंग में अपने को जड़बुद्धि के रूप में उपस्थित कर जो अपरिसीम ऋजुता—सरलता अभिव्यक्त की है वह निश्चय ही उनकी आध्यात्मिक महत्ता तथा तत्त्वतः आत्मसात्कृत उत्कृष्ट योगसाधना का परिचय है ।

[ २२३ ]

तात्त्विकः पक्षपातश्च भावशून्या च या क्रिया ।  
अनयोरन्तरं ज्ञेयं भानुखद्योतयोरिव ॥

शंका उठाई जा सकती है—केवल तात्त्विक पक्षपात से क्या बनेगा, यह तो भावना-मूलक है, धर्मासाधना के लिए तो क्रिया चाहिए । इस पर आचार्य समाधान देते हैं—तात्त्विक पक्षपात तथा भावशून्य क्रिया में इतना अन्तर मानना चाहिए, जितना सूर्य तथा जुगनू के प्रकाश में है ।

सत्तत्त्व में पक्षपात—अभिरुचि, स्पृहा, आग्रह का बहुत बड़ा फल है । क्योंकि इससे जीवन सत्यपरक बनता है, जिसकी उत्तरवर्ती फल-निष्पत्ति सच्चारित्र के उन्नयन और आत्मस्वरूप के अधिगम में होती है । भावशून्य या अज्ञानपूर्ण क्रिया चिरकाल तक की जाती रहे तो भी उससे आत्मा का कार्य नहीं सधता क्योंकि वह यथार्थलक्ष्यगामी नहीं होती । ठीक मार्ग ग्रहण किये बिना यदि कोई अनन्तकाल तक (स्वर्गादि विभिन्न दशाओं में से गुजरता हुआ) क्रियाशील, गतिशील रहे तो भी जीवन का साध्य—आत्म-कल्याण उसे प्राप्त नहीं होता । इसलिए यदि कोई माने कि क्रिया करते जाएँ, अन्ततः स्वयं उससे कल्याण सधेगा ही तो यह सर्वथा अयुक्त है । सत्तत्त्वाभिरुचि एवं सदास्था के बिना वह आत्माभ्युदय की दृष्टि से निरर्थक है ।

[ २२४ ]

खद्योतकस्य यत्तेजस्तदल्पं च विनाशि च ।  
विपरीतमिदं भानोरिति भाव्यमिदं बुधैः ॥

जुगन् का तेज—प्रकाश अल्प—बहुत थोड़ा तथा विनश्वर है। सूर्य का तेज उसके विपरीत—बहुत अधिक—विराट्—अपरिसीम तथा अविनश्वर है।

फलित यह हुआ—तात्त्विक पक्षपात का स्वरूप पूर्य के तेज की तरह अत्यन्त विशाल तथा नाशरहित है। भावशून्य क्रिया जुगन् के तेज की तरह अत्यन्त अल्प तुच्छ और नाशयुक्त है।

[ २२५ ]

श्रवणे प्रार्थनीया स्युर्न हि योग्याः कदाचन ।

यत्नः कल्याणसत्त्वानां महारत्ने स्थितो यतः ॥

योग्य पुरुषों को—ऊपर वर्णित कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्रयोगियों को शास्त्र-श्रवण की प्रार्थना—अनुरोध करना कदापि योग्य नहीं है। कल्याणसत्त्व—अवश्य कल्याण प्राप्त करने वाले महान् पुण्यशाली उन योगी पुरुषों का शुश्रूषा आदि गुणों की स्वायत्तता के कारण अध्यात्मयोग के श्रवण में तथा तत्प्रसूत साधना रूप महारत्न—परम मूल्यवान्, रत्न को अधिगत करने में स्वतः यत्न करता ही है। क्योंकि उन्हें यह संस्कार प्राप्त हैं। वे इस ग्रन्थ के श्रवण में सहज ही प्रवृत्त होंगे।

[ २२६ ]

नैतद्विदस्त्वयोऽप्येभ्यो ददत्येनं तथापि तु ।

हरिभद्र इदं प्राह नन्तेभ्यो देय आदरात् ॥

योग-मार्ग के वेत्ता आचार्य अयोग्य पुरुषों को यह ग्रन्थ नहीं देते—नहीं पढ़ाते, नहीं सुनाते। ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्र आदरपूर्वक कहते हैं कि अयोग्य जनों को यह ग्रन्थ देना योग्य नहीं है।

अयोग्य पुरुष इस महान् योग ग्रन्थ के पात्र नहीं हैं अतः योगाचार्य उन्हें यह ग्रन्थ देने का स्पष्ट निषेध करते हैं। आचार्य हरिभद्र इसी तथ्य को कोमल, मृदुल शब्दों में कहते हैं, जो उन द्वारा प्रयुक्त 'आदरात्' शब्द से स्पष्ट है।

वस्तुतः बात यह है, योग्य अधिकारी के पास योग्य वस्तु पहुँचती है, तो उसका सदुपयोग होता है, अयोग्य के पास पहुँचने से दुरुपयोग ही होता

है। जो मनुष्य गरिष्ठ, पौष्टिक भोजन पचाने में सक्षम नहीं है, जिसका आमाशय कमजोर है, वह यदि वैसा भोजन कर लेता है तो उसे अजीर्ण हो जाता है। यही बात ज्ञान के साथ है, जो विशिष्ट ज्ञान को जीर्ण नहीं कर सकते, पचा नहीं सकते, उससे उनका लाभान्वित होना तो दूर, उलटा नुकसान होता है।

यह आशंकित है—वे ग्रन्थ पढ़कर ज्ञान का अभिमान करने लगते हैं क्योंकि उनके जीवन में वह उतरता नहीं। वे केवल पाण्डित्य-प्रदर्शन के लिए चर्चा और भाषण करते हैं, ज्ञानी पुरुषों की अवहेलना करते हैं, अज्ञानों को ठगते हैं। जिस ज्ञान द्वारा अपना तथा औरों का श्रेयस् सधना चाहिए, उसका वे अश्रेयस्कर रूप में उपयोग करते हैं। अतएव आचार्य ने बहुत आदर के साथ कहा कि वैसे अयोग्य जनों को ग्रन्थ देना उपयुक्त नहीं है।

[ २२७ ]

अवज्ञेह कृताऽल्पादि यदनर्थाय जायते ।  
अतस्तत्परिहारार्थं न पुनर्भावदोषतः ॥

इस महान् योग-ग्रन्थ के प्रति की गई जरा भी अवज्ञा—अवहेलना अनर्थकर है।

आचार्य कहते हैं—अवज्ञा-परिहारहेतु—कोई इस ग्रन्थ के प्रति अवज्ञापूर्ण आचरण न करे, इस भाव से उनका यह कथन है, भावदोष—मन की क्षुद्रता से नहीं।

अत्यन्त महान् योग-विषय ग्रथित होने के कारण यह ग्रन्थ वस्तुतः महान् है। ऐसे महान्, पवित्र योगशास्त्र की जाने-अनजाने अवज्ञा करना अवज्ञाकारी के लिए वास्तव में अति हानिकर है। महान् पुरुष का, महत् वस्तु का जरा भी अनादर, अभक्ति, आशातना, अविनय घोर कर्मबन्ध का कारण होता है। अतः कोई वैसा कभी न करे।

[ २२८ ]

योग्येभ्यस्तु प्रयत्नेन देयोऽयं विघिनान्वितैः ।  
मात्सर्यद्विरहेणोच्चैः श्रेयोविघ्नप्रशान्तये ॥

जो श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ईहा, अपोह, तत्त्वाभिनिवेश

आदि गुणों से युक्त हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ का श्रवण किया है, इसे हृदयंगम किया है, ऐसे सुयोग्य, विधिसम्पन्न अधीत वक्ताओं को यह शास्त्र अपने श्रेयस्—आत्मकल्याण के पथ में आने वाले विघ्नों की अत्यन्त शान्ति हेतु सुयोग्य—योग के जिज्ञासु—योगशास्त्र को जानने तथा सुनने की तीव्र उत्कण्ठायुक्त विनीत पुरुषों को मात्सर्य - ईर्ष्या भाव विना देना चाहिए।

उपदेष्टाओं के मन में ऐसा भाव आना भी संभव है कि जिनको शास्त्र-ज्ञान दे रहे हैं, वे विद्वत्ता में उनसे कहीं बढ़ न जाएँ। इसे मात्सर्य कहा जाता है। ऐसा भाव आने पर उपदेष्टा—शिक्षक उन्मुक्त मन से ज्ञान-दान नहीं कर सकते। आचार्य का आशय यह है कि उपदेष्टाओं के मन में ऐसा भाव नहीं आना चाहिए। उनके मन में तो यही पवित्र भावना रहे कि आत्मकल्याण हेतु वे ऐसा कर रहे हैं।

ज्ञानी उपदेष्टा ऐसा भाव भी मन में नहीं लाते कि श्रोताओं या अध्येताओं का वे उपकार कर रहे हैं। श्रोताओं या अध्येताओं का उपकार तो होता ही है पर उस ओर भी महान् उपदेष्टाओं का चिन्तन नहीं जाता। ऐसा सोचना भी उन्हें अहंकार लगता है।

आचार्य ने २२५वें श्लोक में योग्यजनों को यह शास्त्र सुनने का अनुरोध करने का निषेध किया है, यहाँ योग्यजनों को शास्त्र देने की बात कही है। ऊपर से देखो पर यह परस्पर विरोध जैसा प्रतीत होता है पर वस्तुतः वैसी बात नहीं है। दोनों स्थानों पर आये योग्य शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों के द्योतक हैं। २२५वें श्लोक में, जैसा वहाँ व्याख्यात हुआ है, योग्य शब्द कुलयोगियों तथा प्रवृत्तचक्रयोगियों के लिए, जो योग की उत्तम अवस्था प्राप्त किये होते हैं, जिनकी संस्कारवत्ता तथा साधनास्तर ऊँचा होता है, आया है। प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त योग्य शब्द उन साधनोद्यत पुरुषों के लिए जो योग्यता में उस कोटि में नहीं आते, सामान्य होते हैं, पर योग के सन्दर्भ में तीव्र जिज्ञासा तथा उत्कट शुश्रूषा लिये होते हैं, आया है। वे इसके श्रवण, अध्ययन के अधिकारी हैं।

प्रस्तुत श्लोक के तृतीय चरण के 'मात्सर्य-विरहेणोच्चैः' पद में जो विरह शब्द आया है, उसके सम्बन्ध में कुछ ज्ञाप्य है:—

आचार्य हरिभद्र अपने नाम के साथ 'भवविरह' या 'विरह' विशेषण का प्रयोग करते हैं। उन्होंने अपनी अनेक कृतियों में अपने आपको भव-

विरह की इच्छा करने वाले के रूप में ख्यापित किया है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् एवं लेखक मुनि श्रीकल्याणविजयजी ने धर्मसंग्रहणी की प्रस्तावना में आचार्य हरिभद्र रचित उन-उन ग्रन्थों की प्रशस्तियों को उद्धृत किया है; जिनमें उनके नाम के साथ 'भवविरह' या 'विरह' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे ग्रन्थ इस इस प्रकार हैं:—

अष्टक, धर्मबिन्दु, ललितविस्तरा, पंचवस्तुटीका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, योगदृष्टि समुच्चय, षोडशक, अनेकान्तजयपताका, योगबिन्दु, संसारदावानलस्तुति, धर्मसंग्रहणी, उपदेशपद, पंचाशक तथा सम्बोध-प्रकरण ।

आचार्य हरिभद्र का यह नाम इतना प्रसिद्ध होगया कि उनके सम-कालीन व पश्चाद्द्वर्ती अनेक लेखकों ने जहाँ उनकी चर्चा की है; उनके नाम के साथ 'भवविरह' या 'विरह' शब्द का भी प्रयोग किया है। कहावलीकार भद्रेश्वर ने अपनी कृति में उनकी 'भवविरह सूरि' के नाम से बार-बार चर्चा की है। कुवलयमाला में उद्योतन सूरि ने 'भवविरह' विशेषण के साथ आचार्य हरिभद्र को सादर स्मरण किया है।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' उपनाम क्यों पड़ा, इस सम्बन्ध में कई प्रकार के कथानक प्रचलित हैं।

कहावली में उल्लेख है कि जब याकिनी महत्तरा हरिभद्र को अपने गुरु जिनदत्तसूरि के पास ले गई, तब वहाँ वार्तालाप के मध्य एक ऐसा प्रसंग बना कि हरिभद्र ने 'भवविरह' शब्द को स्वायत्त कर लिया। बात यों हुई—आचार्य जिनदत्तसूरि ने उन्हें 'चक्किदुगं'..... आदि गाथा का अर्थ बता दिया और साथ ही साथ उन्हें कहा कि तुम याकिनी के धर्म-पुत्र हो। इस पर हरिभद्र ने आचार्य से धर्म की जिज्ञासा की, उसका फल पूछा। श्री जिनदत्तसूरि ने बताया कि धर्म की आराधना सकाम और निष्काम दोनों प्रकार से की जाती है। सकाम धर्म से स्वर्ग, लौकिक ऐश्वर्य, प्रभुता आदि प्राप्त होते हैं तथा निष्काम धर्म से भव-विरह, संसार से विरह,

१. चक्किदुगं हरिपणगं पणगं चक्कीण केसवो चक्की ।

केसव-चक्की केसव दुचक्की केसी अ चक्की अ ॥

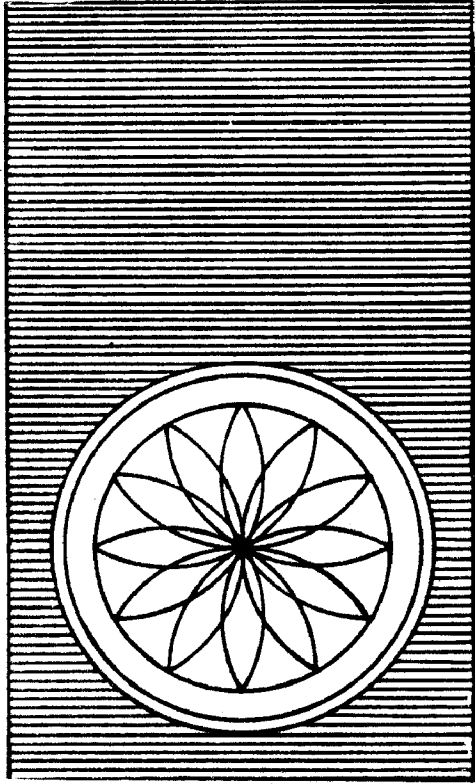
— आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ४२१

जन्म-मरण से छुटकारा, मोक्ष प्राप्त होता है। इस पर हरिभद्र ने कहा कि मुझे तो भगवन् ! भवविरह ही प्रिय लगता है अर्थात् मैं तो मोक्ष ही पसन्द करता हूँ। अस्तु हरिभद्र ने वैराग्यपूर्वक जिनदत्तसूरि के पास जैन दीक्षा स्वीकार करली। उनके दीक्षा-ग्रहण करने का उद्देश्य भव-विरह, सांसारिक आवागमन से छूटना या मुक्त होना था। अतः उन्होंने अपने लिए यह (भवविरह) उपनाम उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' नाम पढ़ने के सम्बन्ध में एक घटना यह भी मानी जाती है कि कोई भक्त श्रावक जब आचार्य हरिभद्र के पास आकर उन्हें वन्दन-प्रणमन करता तो वे उसके लिए श्वेताम्बर समाज में प्रचलित आशीर्वाद-पद्धति के स्थान पर 'भवविरह' का प्रयोग किया करते थे। इसका आशय यह था कि हे भव्य मुमुक्षु ! तुम्हारा भवभ्रमण रूप संसार से विरह-छुटकारा हो। आशीर्वाद पाने वाला व्यक्ति उन्हें भवविरहसूरि ! आप दीर्घायु हों, ऐसा उत्तर में कहता।

कहावली में इसका और अधिक विस्तार करते हुए लिखा गया है। उसके अनुसार लल्लिग नामक एक व्यापारी गृहस्थ था, जो आचार्य हरिभद्र के प्रति बहुत आदर एवं श्रद्धा रखता था। मूलतः वह निर्धन था पर क्रमशः उसका धन बढ़ता गया। वह सम्पत्तिशाली हो गया। तब वह खुले हाथों दान देने लगा। वह साधुओं की भिक्षा के समय हमेशा शंख बजाता ताकि जो भी भूखे-प्यासे होते, वहाँ आ जाते। शंख इसी का सूचक था। वह उन्हें भोजन कराता। इसका अभिप्राय यह है कि लल्लिग के मन में आतिथ्य एवं करुणा का विशेष भाव था, इसलिए वह सोचता कि साधुओं को वह भिक्षा देता है, यह तो उसका विशेष कर्त्तव्य है ही पर गाँव के पास से भी कोई भूखा-प्यासा न गुजर जाए, एक गृहस्थ के नाते यह भी उसका धर्म है। भोजनशाला में भोजन करने के पश्चात् वे लोग आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करने आते। आचार्य उन्हें "तुम भव-विरह प्राप्त करो" अर्थात् तुम मोक्षोन्मुख बनो, ऐसा आशीर्वाद देते। समागत जन आचार्य को "भवविरह सूरि ! आप दीर्घ काल तक जीवित रहें" यों कहकर चले जाते। इस प्रकार उनका 'भवविरह सूरि' नाम विख्यात हो गया।

□



योगबिन्दु





## योगबिन्दु

मंगलाचरण

[ १-२ ]

नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं शिवं योगीन्द्रवन्दितम् ।  
योगबिन्दुं प्रवक्ष्यामि तत्त्वसिद्धयै महोदयम् ॥

सर्वेषां योगशास्त्राणामविरोधेन तत्त्वतः ।  
सन्नोत्था स्थापकं चैव मध्यस्थास्तद्विदः प्रति ॥

अनादि-अनन्त, उत्तम योगिजन द्वारा वन्दित-पूजित, शिव—कल्याण-रूप परमात्मा को नमस्कार कर माध्यस्थ्य-वृत्ति युक्त—संकीर्ण पक्षपात रहित योग-वेत्ताओं, योग-जिज्ञासुओं के लिए सभी योगशास्त्रों से अविरुद्ध—सभी परंपराओं के योग-ग्रन्थों के साथ समन्वित, उत्तम योग-मार्ग के उन्नायक योगबिन्दु नामक ग्रन्थ का तत्त्व-प्रकाशन हेतु प्रणयन करूंगा ।

योग : असंकीर्ण साधना-पथ—

[ ३ ]

मोक्षहेतुर्यतो योगो भिद्यते न ततः क्वचित् ।  
साध्याभेदात् तथाभावे तूक्तिभेदो न कारणम् ॥

योग मोक्ष का हेतु है । परम्पराओं की भिन्नता के बावजूद मूलतः उसमें कोई भेद नहीं है । जब सभी के साध्य या लक्ष्य में कोई भेद नहीं है, वह एक समान है, तब उक्ति-भेद—कथन-भेद या विवेचन की भिन्नता वस्तुतः उसमें भेद नहीं ला पाती ।

[ ४ ]

मोक्षहेतुत्वमेवास्य किंतु यत्नेन धीधनैः ।  
सद्गोचरादिसंशुद्धं मृग्यं स्वहितकारिभिः ॥

योग मोक्ष का हेतु है । वह शुद्ध ज्ञान तथा अनुभव पर आधृत है

अथवा शुद्ध लक्ष्य लिये हुए हैं। आत्मकल्याणच्छु प्रज्ञाशील पुरुषों को चाहिए कि वे इसका मार्गण—गत्रेवणा या अनुसन्धान करें।

[ ५ ]

गोचरश्च स्वरूपं च फलं च यदि युज्यते ।  
अस्य योगस्ततोऽयं यन्मुख्यशब्दार्थयोगतः ॥

यदि इसका लक्ष्य, स्वरूप तथा फल उपयुक्त—संगत है तो वस्तुतः इसकी योग संज्ञा सार्थक है क्योंकि यह अपने मुख्य शाब्दिक अर्थ—योग :-> योजन :-> मोक्ष से योजन या जोड़ना—में संवलित है।

[ ६ ]

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारी तद्वियोगतः ।  
स एव मुक्त एतो च तत्स्वाभाव्यात् तयोस्तथा ॥

जीव तदन्य—अपने से अन्य—कर्म-पुद्गलों के संयोग से संसारी—संसारावस्थापन्न है तथा उनके वियोग से—अपगत हो जाने से मुक्त हो जाता है। संसारावस्था एवं मुक्तावस्था आत्मा और कर्म-पुद्गलों के स्वभाव पर आश्रित है। पुद्गल-सम्बद्धता के कारण संसारावस्था है तथा अपने शुद्ध स्वभाव में आने के कारण मुक्तावस्था है, जिसका शाब्दिक अर्थ कर्म-पुद्गलों से छुटकारा है।

[ ७ ]

अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्यनिबन्धनः ।  
अतोऽन्यथा त्वदः सर्वं न मुख्यमुपपद्यते ॥

दूसरे का—देव आदि का अनुग्रह प्राप्त करना भी आत्मा के लिए घटित होता है क्योंकि उसकी वैसी प्रकृति है। यदि ऐसा न माना जाए तो वह सब, जो इस सन्दर्भ में निरूपित तथा अभिमत है, महत्त्वहीन हो जायेगा।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे, चौथे चरण का एक और प्रकार से भी अर्थ किया जा सकता है, जैसे—यदि दूसरी तरह से सोचें तो निश्चय-दृष्टि से यह अनुग्राहक-अनुग्राह्य-भाव मुख्य नहीं है, मात्र व्यवहार है।

[ ८ ]

केवलस्यात्मनो न्यायात् सदाऽऽत्मत्वाविशेषतः ।  
संसारो मुक्त इत्यतेद् द्वितयं कल्पनैव हि ॥

यदि एक मात्र आत्मा का ही अस्तित्व स्वीकार किया जाए, पुद्गल आदि अन्य पदार्थों का नहीं तो वह (आत्मा) सदा एकान्ततः अपने आत्मत्व-रूप गुण में संप्रतिष्ठ रहेगी। वैसी स्थिति में आत्मा के संसारी तथा मुक्त—यों भेद करना कल्पना मात्र है। वस्तुतः यह घटित नहीं होता।

[ ९ ]

काञ्चनत्वाविशेषेऽपि यथा सत्काञ्चनस्य न ।  
शुद्ध्यशुद्धी ऋते शब्दात् तद्वदत्राप्यसंशयम् ॥

सर्वथा शुद्ध—अन्य धातुओं से अमिश्रित स्वर्ण के सम्बन्ध में शुद्धता अशुद्धता का कथन घटित नहीं होता। पर सामान्य—अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण के प्रसंग में शुद्धि, अशुद्धि की जो बात कही जाती है, वह निरर्थक नहीं होती। यही तथ्य आत्मा के साथ है। आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था शुद्ध स्वर्ण जैसी है और संसारावस्था अन्य धातु-मिश्रित स्वर्ण जैसी। वहाँ (संसारावस्था में) शुद्धि, अशुद्धिमूलक कथन निःसन्देह संगत है।

[ १०-११ ]

योग्यतामन्तरेणास्य संयोगोऽपि न युज्यते ।  
सा च तत्तत्त्वमित्येवं तत्संयोगोऽप्यनादिमान् ॥  
योग्यतायास्तथात्वेन विरोधोऽस्यान्यथा पुनः ।  
अतीतकालसाधर्म्यात् किं त्वाज्ञातोऽयमीदृशः ॥

पुद्गलों को आकृष्ट करना, उनसे सम्बद्ध होना आत्मा की योग्यता है। ऐसा न हो तो आत्मा और पुद्गल का संयोग घटित नहीं होता। आत्मा अनादि है अतः यह योग्यता तथा संयोग भी अनादि हैं।

आत्मा द्वारा प्रति समय कर्म ग्रहण—कर्म-पुद्गल-संयोग की प्रक्रिया देखते इसे अनादि कैसे मानें, इसका समाधान भूतकाल के उदाहरण से लेना चाहिए। वर्तमान, भूत, भविष्य—ये तीन काल हैं। अनागत—भविष्य जब

अस्तित्व में आता है तो वह वर्तमान बन जाता है। वर्तित होकर वह (वर्तमान) भूत में परिणत हो जाता है। यों परिणत होने की परम्परा सादि है पर भूत के रूप में समाहृत होते रहना—यह प्रवाहरूप से अनादि है। क्योंकि यह क्रम कब से प्रारंभ हुआ, कुछ कहा नहीं जा सकता। इसी प्रकार क्षण-क्षण कर्म-पुद्गलों के आत्मसंपृक्त होने को प्रक्रिया तत्तत्क्षण की दृष्टि से सादि है पर आत्मा और कर्म-पुद्गल संयोग की परंपरा प्रवाह रूप से अनादि है। संयोग की अनादिमत्ता न मानने से तत्त्व-निरूपण-व्यवस्था में विरोध आता है।

[ १२ ]

अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्ययोग्यतापेक्ष एव तु ।  
नाणुः कदाचिदात्मा स्याद् देवतानुग्रहादपि ॥

अनुग्रह—देव आदि की कृपा अनुग्राह्य—अनुग्रह करने योग्य—जिस पर अनुग्रह किया जाए, उसकी योग्यता पर निर्भर है। देवता के अनुग्रह से भी परमाणु कभी आत्मा नहीं बन सकता; क्योंकि उस (परमाणु) में वैसी योग्यता नहीं होती।

[ १३-१४ ]

कर्मणो योग्यतायां हि कर्ता तद्व्यपदेशभाक् ।  
नान्यथाऽतिप्रसङ्गेन लोकसिद्धमिदं ननु ॥  
अन्यथा सर्वमेवैतदौपचारिकमेव हि ।  
प्राप्तोत्पशोभनं चैतत् तत्त्वतरतबभावतः ॥

कर्म में आत्मा के परिणामों के अनुरूप परिणत होने की योग्यता है, इसी कारण आत्मा का कर्मों पर कर्तृत्व घटित होता है। यदि ऐसा न मानें तो अतिप्रसंग दोष आता है। यह लोक में प्रसिद्ध ही है।

यदि इसे अन्यथा—अन्य प्रकार से माना जाए तो वह सब, जो हमारे दैनन्दिन जीवन में घटित होता है, औपचारिक मात्र होगा। वास्तविकता न होने से वह अशोभन—अनिष्ट या अवाञ्छित होगा।

[ १५ ]

उपचारोऽपि च प्रायो लोके यन्मुख्यपूर्वकः ।  
दृष्टस्ततोऽप्यदः सर्वमित्थमेव व्यवस्थितम् ॥

लोक में उपचार मुख्यपूर्वक होता है—मुख्य को लक्ष्य में रखकर निरूपण में उपचार का व्यवहार होता है। अतएव जगत् का सारा व्यवस्था क्रम समीचीन रूप में चल रहा है।

[ १६ ]

ऐदम्पर्यं तु विज्ञेयं सर्वस्यैवास्य भावतः ।  
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे योगमार्गस्य संभवः ॥

जीव, कर्म, योग्यता, संयोग आदि भावों की जो यथार्थ स्थिति ऊपर प्रतिपादित की गई है, उसे विशेष रूप से जानना, समझना चाहिए। यों होने पर ही योग-मार्ग पर आने की संभावना घटित होती है—वैसे ज्ञान और विश्वास से युक्त साधक का योग-साधना में अग्रसर होना संभव है।

[ १७-१८ ]

पुरुषः क्षेत्रविज्ञानमिति नाम यदात्मनः ।  
अविद्या प्रकृतिः कर्म तदन्यस्य तू भेदतः ॥  
भ्रान्ति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु संयोगस्येति कीर्तितम् ।  
शास्ता वन्द्योऽविकारी च तथाऽनुग्राहकस्य तु ॥

नाम-भेद से विभिन्न दार्शनिक आम्नायों में मूल तत्त्वों की प्रायः समानता है। जैसे आत्मा को वेदान्त तथा जैनदर्शन में पुरुष, सांख्यदर्शन में क्षेत्रवित् या क्षेत्रज्ञ तथा बौद्धदर्शन में ज्ञान कहा गया है। आत्मेतर तत्सहवर्ती विजातीय तत्त्व वेदान्त और बौद्ध दर्शन में अविद्या, सांख्यदर्शन में प्रकृति तथा जैनदर्शन में कर्म के नाम से अभिहित हुआ है। आत्मा का विजातीय द्रव्य से सम्बन्ध वेदान्त एवं बौद्धदर्शन में भ्रान्ति, सांख्यदर्शन में प्रवृत्ति तथा जैनदर्शन में बन्ध कहा गया है। उसी प्रकार अनुग्राहक—आत्मा पर अनुग्रह या उपकार करने वाला जैनदर्शन में शास्ता, बौद्ध दर्शन में वन्द्य तथा शैव व भागवत परंपरा में अविकारी नाम से सम्बोधित किया गया है।

[ १९ ]

साकल्यस्यास्य विज्ञेया परिपाकादिभावतः ।  
औचित्याबाधया सम्यग्योगसिद्धिस्तथा तथा ॥

जब साधक उपर्युक्त तथ्यों को आत्मसात् कर पाता है; जीव तथा कर्म-पुद्गलों के संयोग की एक मोक्षानुकूल परिपक्व स्थिति आती है, जहाँ समुचित धर्म-प्रवृत्ति में बाधा नहीं रहती, तब वह भव्यता—मोक्ष-गमन-योग्य बीज रूप क्षमता द्वारा योगानुभूति प्राप्त करता है, योग-साधना के पथ पर गतिमान् होता हुआ उत्तरोत्तर विकास करता जाता है, सम्यक् योग-सिद्धि प्राप्त करता है ।

[ २० ]

एकान्ते सति तद्यत्नस्तथाऽसति च यद् वृथा ।  
तत्तथायोग्यतायां तु तद्भावेनैष सार्थकः ॥

यदि आत्मा को एकान्त-नित्य या एकान्त अनित्य माना जाए तो उस हेतु किये गये प्रयत्न की कोई सार्थकता सिद्ध नहीं होती । क्योंकि जो एकान्ततः नित्य है, उसमें प्रयत्न द्वारा कोई परिवर्तन आ नहीं सकता । जो एकान्त रूप में अनित्य है, उसके लिए प्रयत्न की कोई अपेक्षा नहीं होती । अतः आत्मा को पूर्वोक्त रूप में योग्यता सहित—कर्म-बन्ध, कर्म-निर्जरण आदि की क्षमता से युक्त (परिणामि-नित्य) मानने पर ही प्रयत्न की सार्थकता या प्रयोजनीयता है ।

[ २१ ]

दैवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।  
युज्यते एवमेवेति वक्ष्याम्यूर्ध्वमदोऽपि हि ॥

व्यक्ति की जीवन-निर्मिति में भाग्य तथा पुरुषार्थ—दोनों स्पष्टतः समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं, यह मानना वास्तव में युक्तियुक्त है । आगे इस सन्दर्भ में विशेष चर्चा होगी ।

[ २२ ]

लोकशास्त्राविरोधेन यद्योगो योग्यतां ब्रजेत् ।  
श्रद्धामात्रैकगम्यस्तु हन्त ! नेष्टो विपश्चिताम् ॥

लोक तथा शास्त्र से जिसका अविरोध हो—जो अनुभव-संगत तथा शास्त्रानुगत हो, वही योग योग्य—आदेय या अनुसरणीय है। मात्र जो जड़ श्रद्धा पर आधृत है, विवेकशील पुरुषों के लिए वह अभीप्सित नहीं होता—विज्ञान उसे उपादेय नहीं मानते, नहीं चाहते।

[ २३ ]

वचनादस्य संसिद्धेरेतदप्येवमेव हि ।  
दृष्टेष्टाबाधितं तस्मादेतन्मृग्यं हितैषिणा ॥

आगम—शास्त्र-वचन अथवा योगसिद्ध पुरुषों की वाणी द्वारा योग सम्यक् सिद्ध है। वह तत्त्वतः वैसा ही है, जैसा इन द्वारा आख्यात हुआ है। दृष्ट या अनुभूत रूप में स्वरूप, परिणाम आदि की दृष्टि से वह उसी रूप में उपलब्ध है अर्थात् वह दृष्ट द्वारा बाधित नहीं है और न उससे अभीष्ट ही बाधित होता है। दूसरे शब्दों में, क्योंकि वह यथार्थ की पृष्ठभूमि पर टिका है, अतः उससे अभीप्सित फल की सिद्धि होती है। आत्मकल्याण के अभिलाषी साधक को चाहिए कि वह उसका मार्गण—गवेषण करे; उसे यथावत् रूप में समझ कर अपनाए।

[ २४ ]

दृष्टबाधैव यत्रास्ति ततोऽदृष्टप्रवर्तनम् । ✓  
असच्छ्रद्धाभिभूतानां केवलं बाध्यसूचकम् ॥

दृष्ट—प्रत्यक्ष, अनुमान आदि द्वारा प्रतीतियोग्य तत्त्व भी जिन शास्त्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता—जिनका तद्विषयक प्रतिपादन प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के भी विरुद्ध होता है, उनके आधार पर अदृष्ट में प्रवृत्त होना, प्रवृत्त व्यक्तियों की अन्धश्रद्धा की दासता का परिचायक है। उससे क्या सधे ?

[ २५ ]

प्रत्यक्षेणानुमानेन यदुक्तोऽर्थो न बाध्यते । ✓  
दृष्टेऽदृष्टेऽपि युक्ता स्यात् प्रवृत्तिस्तत एव तु ॥

जिन शास्त्रों के अनुसार यथार्थ-निर्णय के सन्दर्भ में प्रत्यक्ष, अनुमान



आदि तत्त्व-सिद्धि में बाधक नहीं होते—जो प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से अनुगत या संगत हैं, उन्हीं के आधार पर दृष्ट तथा अदृष्ट में प्रवृत्त होना उप-युक्त है ।

[ २६ ]

अतोऽन्यथा प्रवृत्तौ तु स्यात् साधुत्वाद्यनिश्चितम् ।

वस्तुतत्त्वस्य हन्तैवं सर्वमेवासमंजसम् ॥

जो इन (पूर्व विविक्त) तथ्यों के प्रतिकूल प्रवृत्तिशील होता है, वह वस्तुतत्त्व की सत्यता, असत्यता का निश्चय नहीं कर पाता । अतः उस द्वारा साधनाक्रम में क्रियमाण—उसका समग्र प्रयत्न निरर्थक सिद्ध होता है ।

[ २७ ]

तद्दृष्टाद्यनुसारेण वस्तुतत्त्वव्यपेक्षया ।

तथा तथोक्तभेदेऽपि साध्वी तत्त्वव्यवस्थितिः ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम आदि के आधार पर वस्तु-तत्त्व के परीक्षण से भिन्न-भिन्न दार्शनिक परंपराओं में प्रवृत्त कथन-भेद के बावजूद यथार्थ तत्त्व का अवबोध होता है ।

[ २८ ]

अमुख्यविषयो यः स्यादुक्तिभेदः स बाधकः ।

हिंसाऽहिंसादिवद् यद्वा तत्त्वभेदव्यपाश्रयः ॥

गौण विषयों में जो कथन-भेद (साथ ही साथ विचार-भेद) है, वह, हिंसा और अहिंसा जैसे परस्पर भिन्न हैं, उसी प्रकार भिन्नता युक्त है । वास्तव में वहाँ तत्त्व-स्वीकार में ही भेद है ।

[ २९ ]

मुख्ये तु तत्र नैवासौ बाधकः स्याद् विपश्चिताम् ।

हिंसादिविरतावर्थे यमव्रतगतौ यथा ॥

मुख्य विषय में—मौलिक तत्त्वों में शब्द-भेद विज्ञानों के लिए बाधक नहीं होता । जैसे हिंसा-विरति को पातंजलयोग में यम कहा है और जैन दर्शन में व्रत, यहाँ शब्द दो हैं पर तथ्य एक ही है ।

योग के भेद—

[ ३० ]

मुख्यतत्त्वानुबेधेन स्पष्टलिङ्गान्वितस्ततः ।  
युक्त्यागमानुसारेण योगमार्गोऽभिधीयते ॥

मुख्य तत्त्वों को ध्यान में रखते हुए, लक्षणों का स्पष्टतया विश्लेषण करते हुए शास्त्रानुसार तथा युक्ति-पूर्वक योगमार्ग आख्यात किया जा रहा है ।

[ ३१ ] ०

अध्यात्मं भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।  
मोक्षेण योजनाद् योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय—ये योग हैं । क्योंकि ये आत्मा को मोक्ष के साथ जोड़ते हैं । ये पाँचों उत्तरोत्तर श्रेष्ठ—उत्कृष्ट हैं । अर्थात् अध्यात्म से भावना, भावना से ध्यान, ध्यान से समता तथा समता से वृत्तिसंक्षय—क्रमशः एक-एक से उच्चतर यौगिक विकास के सूचक हैं ।

[ ३२ ]

तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चायं सानुबन्धस्तथाऽपरः ।  
सास्त्रवोऽनास्त्रवश्चेति संज्ञाभेदेन कीर्तितः ॥

एक अन्य प्रकार से तात्त्विक, अतात्त्विक, सानुबन्ध, निरनुबन्ध, सास्त्रव तथा अनास्त्रव—योग के ये छः भेद हैं ।

[ ३३-३४ ]

तात्त्विको भूत एव स्यादन्यो लोकव्यपेक्षया ।  
अच्छिन्नः सानुबन्धस्तु छेदवानपरो मतः ॥  
सास्त्रवो दीर्घसंसारस्ततोऽन्योऽनास्त्रवः परः ।  
अवस्थाभेदविषयाः संज्ञा एता यथोदिताः ॥

यथाविधि तत्त्वतः—वास्तव में योग का अनसरण तात्त्विक योग है ।

केवल लोकरंजनार्थ योग का प्रदर्शन अतात्त्विक योग है। वह सानु-  
बन्ध योग है, जो लक्ष्य स्वायत्त करने तक अविच्छिन्न—बिना रुकावट  
गतिमान रहता है। जिसमें बीच-बीच में विच्छेद या गतिरोध आता रहता  
है, वह निरनुबन्ध योग है। जो संसार को दीर्घ—लम्बा बनाता है—जन्म-  
मरण के चक्र को बढ़ाता है, वह सास्रव योग है। जो इस चक्र को रोकता  
है, मिटाता है, वह अनास्रव योग है।

ये नाम योग की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक हैं।

[ ३५ ]

स्वरूपं संभवं चैव वक्ष्याम्यूर्ध्वमनुक्रमात् ।  
अमीषां योगभेदानां सम्यक् शास्त्रानुसारतः ॥

आगे शास्त्रानुसार क्रमशः योग के इन भेदों के स्वरूप, उत्पत्ति  
आदि का भली भाँति विवेचन करूँगा।

योग का माहात्म्य—

[ ३६ ]

इदानीं तु समासेन योगमाहात्म्यमुच्यते ।  
पूर्वसेवाक्रमश्चैव प्रवृत्त्यङ्गतया सताम् ॥

अब संक्षेप में योग के महत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। साथ ही  
साथ पूर्व सेवा—योग-साधना में आने से पूर्व सेवनीय—आचरणीय कार्य-  
विधि का भी विवेचन किया जा रहा है, जिससे सत्पुरुष योग में प्रवृत्त होने  
की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

[ ३७ ]

योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो योगश्चिन्तामणिः परः ।  
योगः प्रधानं धर्माणां योगः सिद्धेः स्वयंग्रह ॥

योग उत्तम कल्पवृक्ष है, उत्कृष्ट चिन्तामणि रत्न है—कल्पवृक्ष तथा  
चिन्तामणि रत्न की तरह साधक की इच्छाओं को पूर्ण करता है। वह (योग)  
सब धर्मों में मुख्य है तथा सिद्धि—जीवन की चरम सफलता—मुक्ति का  
अनन्य हेतु है।

[ ३८ ]

तथा च जन्मबीजाग्निर्जरसोऽपि जरा परा ।

दुःखानां राजयक्ष्माऽयं मृत्योर्मृत्युरुदाहृतः ॥

जन्म रूपी बीज के लिए योग अग्नि है—संसार में बार-बार जन्म-मरण में आने की परंपरा को योग नष्ट करता है। वह बुढ़ापे का भी बुढ़ापा है। योगी कभी वृद्ध नहीं होता—वृद्धत्व-जनित अनुत्साह, मान्द्य, निराशा योगी में व्याप्त नहीं होती। योग दुःखों के लिए राजयक्ष्मा है। राजयक्ष्मा—क्षय रोग जैसे शरीर को नष्ट कर देता है, उसी प्रकार योग दुःखों का विध्वंस कर डालता है। योग मृत्यु की भी मृत्यु है। अर्थात् योगी कभी मरता नहीं। क्योंकि योग आत्मा को मोक्ष से योजित करता है। मुक्त हो जाने पर आत्मा का सदा के लिए जन्म, मरण से छुटकारा हो जाता है।

[ ३९ ]

कुण्ठीभवन्ति तीक्ष्णानि मन्मथास्त्राणि सर्वथा ।

योगवमवृते चित्ते तपश्छिद्रकराण्यपि ॥

योग रूपी कवच से जब चित्त ढका होता है तो काम के तीक्ष्ण अस्त्र, जो तप को भी छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, कुण्ठित हो जाते हैं—योग-रूपी कवच से टकराकर वे शक्तिशून्य तथा निष्प्रभाव हो जाते हैं।

[ ४० ]

अक्षरद्वयमप्येतत् श्रूयमाणं विधानतः ।

गीतं पापक्षयायोच्चैर्योगसिद्धं महात्मभिः ॥

योगसिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यथाविधि सुने हुए—आत्मसात् किये हुए 'योग' रूप दो अक्षर सुनने वाले के पापों का क्षय—विध्वंस कर डालते हैं।

[ ४१ ]

मलिनस्य यथा हेम्नो वह्नेः शुद्धिनियोगतः ।

योगाग्नेश्चेतसस्तद्वद्विद्यामलिनात्मनः ॥

अशुद्ध—खादमिश्रित स्वर्ण अग्नि के योग से—आग में गलाने से जैसे शुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या—अज्ञान द्वारा मलिन—दूषित या कलुषित आत्मा योग रूपी अग्नि से शुद्ध हो जाती है ।

[ ४२ ]

अमुत्र संशयापन्नचेतसोऽपि ह्यतो ध्रुवम् ।  
सत्स्वप्नप्रत्ययादिभ्यः संशयो विनिवर्तते ॥

परभव या परलोक के सम्बन्ध में जिनका चित्त संशयपूर्ण होता है, शुभ स्वप्न आदि द्वारा उन्हें यथार्थ प्रतीति—अनुभूति होती है, जिससे वह संशय विनिवृत्त हो जाता है—मिट जाता है । अर्थात् योगाभ्यासी को योग के प्रभाव से ऐसे उत्तम सपने आते हैं, जो उसका सन्देह दूर कर देते हैं ।

[ ४३ ]

श्रद्धालेशान्नियोगेन बाह्ययोगवतोऽपि हि ।  
शुक्लस्वप्ना भवन्तीष्टदेवतादर्शनादयः ॥

जो योग के केवल बाह्य रूप का पालन करता है, बहुत सामान्य श्रद्धा लिए रहता है, उसे भी निश्चित रूप में—अवश्य शुभ स्वप्न आते हैं, इष्ट देव के दर्शन आदि होते हैं ।

[ ४४ ]

देवान् गुरुन् द्विजान् साधून् सत्कर्मस्था हि योगिनः ।  
प्रायः स्वप्ने प्रपश्यन्ति हृष्टान् सन्नोदनापरान् ॥

उत्तम साधनाशील योगी स्वप्न में प्रायः देवताओं, गुरुजनों, ब्राह्मणों तथा साधुओं को प्रसन्न मुद्रा में सत्प्रेरणा प्रदान करते हुए देखते हैं ।

[ ४५ ]

नोदनाऽपि च सा यतो यथार्थैवोपजायते ।  
तथा कालादिभेदेन हन्त नोपप्लवस्ततः ॥

वह प्रेरणा समय पाकर सत्य सिद्ध होती है । ऐसे स्वप्न कोई मानसिक अनवस्थता या मनोविकार नहीं हैं ।

[ ४६ ]

स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च सत्यस्वप्नोऽभिजायते ।  
बिद्वज्जनेऽविगानेन सुप्रसिद्धमिदं तथा ॥

स्वप्नोपयोगी मन्त्रों के द्वारा सत्य—यथार्थ स्थिति का सूचक स्वप्न आता है। विद्वानों में निर्विवाद रूप में यह सुप्रसिद्ध है—विद्वान सर्वसम्मत रूप में ऐसा मानते हैं।

[ ४७ ]

न ह्येतद् भूतमात्रत्वनिमित्तं संगतं वचः ।  
अयोगिनः समध्यक्षं यन्न बंधिधगोचरं ॥

यदि कहा जाए, ऊपर वर्णित सब मात्र भौतिक कारणों पर आश्रित है तो यह संगत—युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि अयोगी—जो योगाभ्यासी नहीं हैं, उन्हें वैसे स्वप्न आदि नहीं दिखाई देते।

[ ४८ ]

प्रलापमात्रं च वचो यदप्रत्यक्षपूर्वकम् ।  
यथेहाप्सरसः स्वर्गे मोक्षे चानन्द उत्तमः ॥

प्रत्यक्ष रूप में देखे, जाने बिना किसी के सम्बन्ध में कुछ कहना प्रलाप मात्र है—केवल बकवास है। यदि यों कहते हैं तो वे जरा बतलाएँ—स्वर्ग में अप्सराएँ हैं, मोक्ष में परम आनन्द है, यह सब प्रत्यक्षतः किसने देखा।

मीमांसकों को उद्दिष्ट कर ग्रन्थकार ने यह कहा है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि मीमांसक अप्रत्यक्ष या अतीन्द्रिय दर्शन को अस्वीकार करते हैं।

[ ४९ ]

योगिनो यत् समध्यक्षं ततश्चेदुक्तनिश्चयः ।  
आत्मादेरपि युक्तोऽयं तत एवेति चिन्त्यताम् ॥

यदि कोई कहे, योगी की यह विशेषता है, उसकी दृष्टि में वह सब (स्वर्ग में अप्सराएँ हैं, इत्यादि) प्रत्यक्ष है, तदनुसार अप्रत्यक्ष भी दृष्ट है तो

फिर आत्मा, कर्म, उनका पारस्परिक सम्बन्ध आदि के निश्चय में भी योगि-प्रत्यक्ष को मानना उचित है। यह वास्तव में चिन्तन योग्य विषय है।

[ ५० ]

अयोगिनो हि प्रत्यक्षगोचरातीतमप्यलम् ।  
विजानात्येतदेवं च बाधाऽत्रापि न विद्यते ॥

अयोगी जिसे प्रत्यक्ष रूप में नहीं देख पाता, योगी उसे अतीन्द्रिय ज्ञान (योगि-प्रत्यक्ष) द्वारा अच्छी तरह देख सकता है। ऐसे विशिष्ट ज्ञान द्वारा आत्मा, कर्म आदि को जानने में भी वास्तव में कोई बाधा नहीं आती।

ग्रन्थकार ने इन दो श्लोकों में आत्मा, कर्म आदि की चर्चा इसलिए की है कि मीमांसक योगि-प्रत्यक्ष को आत्मा आदि के अवबोध में यथाव-त्तया लागू नहीं करते।

[ ५१ ]

आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु योगिप्रत्यक्षभावतः ।  
परोक्षमपि चान्येषां न हि युक्त्या न युज्यते ॥

आत्मा आदि अतीन्द्रिय पदार्थ योगियों को साक्षात् दृष्ट या अनुभूत हैं। अतः अन्य जनों—अयोगियों के लिए परोक्ष—अप्रत्यक्ष होते हुए भी 'वे नहीं हैं' ऐसा कहना अयुक्तियुक्त है। क्योंकि योगि-प्रत्यक्ष के आधार पर उनका अस्तित्व न्यायतः उन सबके लिए भी स्वीकार्य है, जो वैसे उत्तम अतीन्द्रिय ज्ञान के अभाव में उन्हें साक्षात् देख पाने में समर्थ नहीं हैं।

[ ५२-५३-५४ ]

किचान्यद् योगतः स्थैर्यं धैर्यं श्रद्धा च जायते ।  
मैत्री जनप्रियत्वं च प्रातिभं तत्त्वभासनम् ॥  
विनिवृत्ताग्रहत्वं च तथा द्वन्द्वसहिष्णुता ।  
तदभावश्च लाभश्च बाह्यानां कालसंगतः ॥  
धृतिः क्षमा सदाचारो योगवृद्धिः शुभोदया ।  
आदेयता गुरुत्वं च शमसौह्यमनुत्तमम् ॥

अधिक क्या कहा जाए, योग से स्थिरता, धीरज, श्रद्धा, मैत्री, लोकप्रियता, प्रतिभा—अन्तःस्फुरणा—अन्तःज्ञान द्वारा तत्त्व-प्रकाशन, आग्रहहीनता, अनुकूल से वियोग, प्रतिकूल का संयोग जैसे विषम द्वन्द्वों को सहनशीलता के साथ झेलना, वैसे कष्टों का अभाव—न आना, यथासमय अनुकूल बाह्य स्थितियाँ प्राप्त होना, सन्तोष, क्षमाशीलता, सदाचार, उत्तम फलमय योगवृद्धि, औरों की दृष्टि में आदेय भाव—आदर्श पुरुष के रूप में समादर, गुरुत्व—गौरव—प्रतिष्ठा तथा सर्वोत्तम प्रशम-सुख—अनुपम शान्ति की अनुभूति—ये सब प्राप्त होते हैं ।

[ ५५ ]

आविद्धदङ्गनासिद्धमिदानीमपि दृश्यते ।  
एतत् प्रायस्तदन्यत् तु सुबह्वागमभाषितम् ॥

विद्वानों से लेकर महिलाओं तक आज भी यह अनुभवसिद्ध है, ऐसा देखने में आता है । इस प्रकार की और भी अनेक बातें हैं, जो आगमों में विस्तार से वर्णित हैं ।

[ ५६ ]

न चैतद् भूतसंघातमात्रादेवोपपद्यते ।  
तदन्यभेदकाभावे तद्वैचित्र्याप्रसिद्धितः ॥

जगत् में केवल भूत-संघात—भूत-समुदाय को ही वास्तविकता माना जाए तो योग का यह माहात्म्य घटित नहीं होता । भौतिक, अभौतिक का भेद करने वाले, भौतिक से इतर आत्मरूप स्वतन्त्र तत्त्व के न होने से अयोगी से योगी के ज्ञान की विचित्रता—सातिशय विभिन्नता अप्रसिद्ध-अप्रकट ही रहेगी । अतः भूतसंघात से अन्य—आत्मा के रूप में निश्चय ही एक और तत्त्व है, जिसके कारण योग, अध्यात्म-साधना आदि की प्रयोजनीयता तथा फलवत्ता सिद्ध होती है ।

[ ५७-५८ ]

ब्रह्मचर्येण तपसा सद्देवाध्ययनेन च ।  
विद्वामन्त्रविशेषेण सत्तीर्थसिबनेन च ॥



पित्रोः सम्यगुपस्थानाद् ग्लानभैषज्यदानतः ।  
देवादिशोधनाच्चैव भवेज्जातिस्मरः पुमान् ॥

ब्रह्मचर्यं, तपश्चरण, वेदादि सत् शास्त्रों का अध्ययन, विद्या व मन्त्र की आराधना, उत्तम तीर्थों का आसेवन, माता-पिता की सम्यक् सेवा-शुश्रूषा, रोगियों को औषध-दान, देवस्थान—पूजास्थान आदि का सम्मार्जन, सफाई—इन शुभ कर्मों के आचरण से मनुष्य में पूर्व जन्म का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

[ ५६ ]

अतएव न सर्वेषामेतदागमतेऽपि हि ।  
परलोकाद् यथैकस्माद् स्थानात् तनुभूतामिति ॥

जैसे किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में गये लोगों में सबको पिछले स्थान से सम्बद्ध घटनाएँ स्मरण नहीं रहतीं, उसी प्रकार परलोक से नये जन्म में आये सभी प्राणियों को अपना पूर्वभव—पिछला जन्म, कार्य, घटनाक्रम आदि स्मरण नहीं रहते ।

[ ६० ]

न चैतेषामपि ह्येतदुन्मादग्रहयोगतः ।  
सर्वेषामनुभूतार्थस्मरणं स्याद् विशेषतः ॥

जो उन्माद—मानसिक विकृति या पागलपन से पीड़ित होते हैं, प्रेत-बाधा से ग्रस्त होते हैं, उन्हें भी अपने द्वारा पहले दृष्ट, अनुभूत वस्तुएँ, जीवन में घटित घटनाएँ विशेषतः स्मरण नहीं रहतीं ।

[ ६१ ]

सामान्येन तु सर्वेषां स्तनवृत्त्यादिचिन्हितम् ।  
अभ्यासातिशयात् स्वप्नवृत्तितुल्यं व्यवस्थितम् ॥

सामान्यतः सभी प्राणियों में यह दृष्टिगोचर होता है, ज्यों ही वे जन्म लेते हैं, दूध के लिए मां के स्तनों की ओर स्वयं प्रवृत्त होते हैं । जिन कार्यों का जीवन में सतत अभ्यास होता है, जिन पर बार-बार चिन्तन-विमर्श चलता रहता है, स्वप्न में प्रायः वे ही दीखते हैं । उसी प्रकार अभ्यासा-

तिशय—अनेक जन्मों के अत्यधिक अभ्यास के कारण नवजात शिशु में यह प्रवृत्ति होती है। मां के स्तनों से दूध पीते रहने के प्रसंग जन्म-जन्मान्तर में न जाने कितनी बार उसके घटित हुए हैं। उसी चिर अभ्यास-जनित संसार-स्मृति का परिणाम माँ के स्तनों का दूध पीने के उपक्रम के रूप में परिलक्षित होता है।

[ ६२ ]

। स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासाद् विशिष्टस्मृतिर्वाजिता ।  
जाग्रतोऽपि क्वचित् सिद्धा सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

पूर्वतन अभ्यासवश स्वप्न में जो अनुभव किया जाता है, कई बार ऐसा होता है, कुछ समय बाद स्मरण नहीं रहता। इतना ही नहीं, कभी-कभी जागरित अवस्था में भी मन में उठे विचार बाद में याद नहीं रह पाते। यह सब स्मृति-दौर्बल्य के परिणाम हैं। इस सम्बन्ध में सूक्ष्म बुद्धि से विचार करें।

[ ६३ ]

श्रूयन्ते च महात्मान एत दृश्यन्त इत्यपि ।  
क्वचित् संवादिनस्तस्मादात्मादेर्हन्त ! निश्चयः ॥

ऐसे महापुरुष सुने जाते हैं, कहीं-कहीं देखे भी जाते हैं, जिनसे जाति-स्मरण ज्ञान की प्रामाणिकता सिद्ध होती है। अर्थात् ऐसे योगसिद्ध महा-पुरुष भी यहाँ हैं, जिन्हें जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त होता है। इस आधार पर निश्चित रूप से आत्मा आदि का अस्तित्व सिद्ध होता है।

[ ६४ ]

एवं च तत्त्वसंसिद्धेर्योग एव निबन्धनम् ।  
अहो यन्निश्चितवेयं नान्यतस्त्वौदृशी क्वचित् ॥

इस प्रकार योग ही आत्मा आदि तत्त्वों की सिद्धि का कारण है। पदार्थों के स्वरूप आदि की निश्चित प्रतीति या अनुभूति योग से ही साध्य है, अन्य से कहीं नहीं।

[ ६५ ]

अतोऽत्रैव महान् यत्नस्तत्तत्त्वप्रसिद्धये ।  
प्रेक्षावता सदा कार्यो वादग्रन्यास्त्वकारणम् ॥

विवेकशील पुरुष को तत्त्व-प्रसिद्धि—तत्त्वों को प्रतीति, अभिव्यक्ति हेतु योग में महान्—विपुल प्रयत्न करना चाहिए—योग-साधना में विशेष रूप से समुद्यत रहना चाहिए ।

[ ६६-६७ ]

उक्तं च योगमार्गज्ञैस्तपोनिर्धूतकलमषैः ।  
भावियोगहितायोच्चैर्मोहदीपसमं वचः ॥  
वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितास्तथा ।  
तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद् गतौ ॥

तपश्चरण द्वारा जिन्होंने अपना मनोमल मिटा डाला, ऐसे योग-वेत्ता सत्पुरुषों का भावी योगियों—योग-साधना में प्रविष्ट होने के इच्छुक पुरुषों के हित के लिए मोह के अंधेरे को मिटाने हेतु दीपक के सदृश वचन है—“जो निश्चित रीति से—नैयायिक या तार्किक शैली से पक्ष-विपक्ष में अपनी-अपनी दलीलें उपस्थित करते हुए वाद-प्रतिवाद—खण्डन-मण्डन में लगे रहते हैं, वे तत्त्वान्त—तत्त्व-निर्णय तक नहीं पहुँच पाते । उनकी स्थिति कोलहू के बैल जैसी होती है, जो कोलहू के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है पर कभी किसी निश्चित छोर पर नहीं पहुँचता ।”

अध्यात्म—

[ ६८ ]

अध्यात्ममत्र परम उपायः परिकीर्तितः ।  
गतौ सन्मार्गगमनं यथैव ह्यप्रमादिनः ॥

पदार्थों के सत्य स्वरूप के अवबोध तथा साधना की यात्रा में प्रमाद-रहित होकर चलते रहने में अध्यात्म परम उपाय है—महान् अमोघ साधन है ।

[ ६९ ]

मुक्त्वाऽतो वादसंघट्टमध्यात्ममनुचिन्त्यताम् ।  
नाविधूते तमःस्कन्धे ज्ञेये ज्ञानं प्रवर्तते ॥

अतः वाद-विवादमय संघर्ष का परित्याग कर अध्यात्म का चिन्तन करें। अज्ञानरूप सघन अन्धकार को दूर किये बिना ज्ञेय—जानने योग्य तत्त्व में ज्ञान प्रवृत्त नहीं होता। अर्थात् वाद-विवादमय संघर्ष अज्ञान-प्रसूत अन्धकार की तरह है, जो अध्यात्म-साधना में नितान्त बाधक है।

[ ७० ]

सदुपायाद यथैवाप्तिरूपेयस्य तथैव हि ।  
नेतरस्मादिति प्राज्ञः सदुपायपरो भवेत् ॥

प्राप्त करने योग्य लक्ष्य या वस्तु की प्राप्ति सदुपाय—समुचित, समीचीन उपाय से ही संभव है, अनुचित, अनुपयुक्त उपाय से नहीं। अतः प्रज्ञाशील पुरुष को चाहिए, वह अपना ध्येय प्राप्त करने हेतु उत्तम, उचित उपाय का अवलम्बन करे।

[ ७१ ]

सदुपायश्च नाध्यात्मादन्यः संदर्शितो बुधैः ।  
दुरापं कित्त्वदोपीह भवाब्धौ सुष्ठु देहिनाम् ॥

ज्ञानी जनों ने वस्तु-स्वरूप के यथार्थ बोध तथा साधना में अग्र गति हेतु अध्यात्म के अतिरिक्त कोई और सदुपाय नहीं बताया है। अर्थात् अध्यात्म ही इनका एकमात्र सुन्दर उपाय है किन्तु संसार-सागर में निमग्न देहधारियों—प्राणियों के लिए अध्यात्म को उपलब्ध कर पाना कुछ कठिन है।

[ ७२ ]

चरमे पुद्गलावर्ते यतो यः शुक्लपाक्षिकः ।  
भिन्नग्रन्थिश्चरित्री च तस्यैवैतदुदहातम् ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित, शुक्लपाक्षिक—मोहनीय कर्म के तोत्र भाव के अन्धकार से रहित, भिन्नग्रन्थि—जिसकी मोह प्रसूत कर्मग्रन्थि टूट गई है, चरित्री—जो चारित्र-परिपालन के पथ पर समारूढ़ है, (वह) अध्यात्म का अधिकारी कहा गया है।

[ ७३ ]

प्रदीर्घभवसद्भावान्मालिन्यातिशयात् तथा ।  
अतस्त्वाभिनिवेशाच्च नान्येष्वन्यस्य जातुचित् ॥

इन तीनों श्रेणियों से बहिर्भूत—इतर प्राणी अति दीर्घ भव-भ्रमण—संसार के जन्ममरणमय चक्र में पुनः पुनः परिभ्रमण, आवागमन, आत्मपरिणामों की अत्यधिक मलिनता, मिथ्या तत्त्व में अभिनिवेश—दुराग्रह के कारण अध्यात्म को नहीं पा सकते ।

[ ७४-७५ ]

अनादिरेष संसारो नानागतिसमाश्रयः ।  
पुद्गलानां परावर्ता अत्रानन्तास्तथा गताः ॥  
सर्वेषामेव सत्त्वानां तत्स्वाभाव्यनियोगतः ।  
नान्यथा संविदेतेषां सूक्ष्मबुद्ध्या विभाव्यताम् ॥

यह संसार अनादि है । इसमें मनुष्य-गति, देव-गति, नरक-गति तथा तिर्यञ्च-गति के अन्तर्गत अनेक योनियाँ हैं । जीव अनन्त पुद्गल-परावर्तों में से गुजरता है । ऐसे अनन्त पुद्गल-परावर्त व्यतीत हो चुके हैं । यह भव-भ्रमण का चक्र सभी प्राणियों के अपने अपने स्वभाव के कारण है । यदि ऐसा नहीं होता तो पुद्गल-परावर्त की कभी परिमितता नहीं होती । इस पर सूक्ष्म बुद्धि से चिन्तन करें ।

[ ७६ ]

यादृच्छिकं न यत्कार्यं कदाचिज्जायते ष्वचित् ।  
सत्त्वपुद्गलयोगश्च तथा कार्यमिति स्थितम् ॥

इस जगत् में जो भी कार्य है, वह यदृच्छा—अकस्मात्—कार्य-कारण-परंपरा के बिना कहीं भी नहीं होता । वह आत्मा तथा पुद्गल के संयोग से होता है । यही जगत् का स्वभाव है ।

[ ७७ ]

चित्रस्यास्य तथाभावे तत्स्वाभाव्यदूते परः ।  
न कश्चिद्धेतुरेवं च तदेव हि तथेष्यताम् ॥

आत्मा का कर्म के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार से संयोग होता है। अतएव उसके भिन्न-रूप देखने में आते हैं। इस भिन्नता का कारण जीव के अपने स्वभाव या प्रकृति को छोड़कर और दूसरा नहीं है। वास्तव में यही यथार्थ कारण है, ऐसा मानना चाहिए।

[ ७८ ]

स्वभाववादापत्तिश्चेदत्र को दोष उच्यताम् ।

तदन्यवादाभावश्चेन्न तदन्यानपोहनात् ॥

स्वभाव से कार्य होता है, ऐसा मानने से स्वभाववाद का दोष आता है, यों आरोप किया जा सकता है। पर जरा बतलाएँ, इसमें क्या हानि है। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि इस वाद के स्वीकार का अभिप्राय वस्तु-स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे तत्त्व की कारण रूप में अस्वीकृति है। वास्तव में यहाँ ऐसा आशय नहीं है।

[ ७९ ]

कालादिसच्चिवश्चायमिष्ट एव महात्मभिः ।

सर्वत्र व्यापकत्वेन न च युक्त्या न युज्यते ॥

काल आदि के सहयोग से कार्य की सिद्धि होती है, ऐसा महापुरुषों ने स्वीकार किया है। काल, स्वभाव, नियति, पुरुषार्थ तथा कर्म—ये पाँचों निमित्त कारण सर्वत्र—उपादान कारण में एवं उपादेय कार्यों में परिव्याप्त रहते हैं। युक्ति से यह सिद्ध नहीं होता हो ऐसा नहीं है, यह सिद्ध होता है।

[ ८० ]

तथात्मपरिणामात् तु कर्मबंधस्ततोऽपि च ।

तथा दुःखादि कालेन तत्स्वभावादृते कथम् ॥

आत्मा के परिणाम से कर्म-बन्ध होता है। बन्धावस्था के अनुरूप विपाकोदय होने पर कर्म यथासमय दुःख, सुख आदि के रूप में फल देता है। आत्मा के स्वभाव के बिना यह सब कैसे संभव हो ?

[ ८१ ]

वृथा कालादिवाद्दशचेन्न तद्बीजस्य भावतः ।  
अकिञ्चित्करमेतच्चेन्न स्वभावोपयोगतः ॥

स्वभाव मानने से काल आदि वृथा सिद्ध होंगे, ऐसा नहीं है । क्योंकि काल, नियति, कर्म तथा पुरुषार्थ के बीज स्वभाव में सन्निहित हैं । यदि यों कहा जाये कि बीज तो अकिञ्चित्कर हैं—वे स्वयं कुछ कर नहीं सकते—यह कथन ठीक नहीं है । क्योंकि स्वभाव में उनका उपयोग है—स्वभाव में वे सहायक हैं, जिससे फल-निष्पत्ति सधती है ।

[ ८२ ]

सामग्रयाः कार्यहेतुत्वं तदन्याभावतोऽपि हि ।  
तदभावादिति ज्ञेयं कालादीनां वियोगतः ॥

समग्र कारण-सामग्री का सहयोग कार्य की निष्पन्नता में हेतु होता है । यदि उपादान के अतिरिक्त दूसरे किसी निमित्त का अभाव हो, कारण-सामग्री में उसका संयोग न रहे तो कार्य नहीं होता । इसलिए समय आदि का संयोग भी कार्य-निष्पत्ति में कारणभूत है, ऐसा मानना चाहिए ।

[ ८३ ]

एतच्चान्यत्र महता प्रपञ्चेन निरूपितम् ।  
नेह प्रतन्यतेऽत्यन्तं लेशतस्तूक्तमेव हि ॥

प्रस्तुत विषय में अन्यत्र विस्तार से निरूपण किया गया है अतः यहाँ इसकी विशेष चर्चा नहीं की गई है, संक्षेप में कहा गया है ।

लोकपक्ति—

[ ८४-८५ ]

कृतमत्र प्रसंगेन प्रकृतं प्रस्तुमोऽधुना ।  
नाध्यात्मयोगभेदत्वादावर्तेश्वपरेष्वपि ॥  
तोष्रपापाभिभूतत्वाज्ज्ञानालोचनवजिताः ।  
सद्वर्त्मावतरन्त्येषु न सत्त्वा गहनान्धवत ॥

उक्त विषय में और विवेचन न कर हम प्रस्तुत विषय—अध्यात्म-योग पर आ रहे हैं, जो चरम पुद्गलावर्त में प्रविष्ट व्यक्तियों को ही प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं। क्योंकि वे (दूसरे) तीव्र पापाचरण में ग्रस्त होते हैं, वे ज्ञान रूपी नेत्र से रहित होते हैं। गहन वन में खोये हुए अन्धे की तरह वे सन्मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[ ८६ ]

भवाभिनन्दिनः प्रायस्त्रिसंज्ञा एव दुःखिताः ।

केचिद्धर्मकृतोऽपि स्युर्लोकपक्तिकृतादराः ॥

चरमपुद्गलावर्ती प्राणियों के अतिरिक्त अन्य लोग संसार में रचे-पचे रहते हैं—वे सांसारिक भोगोपभोग में आनन्द लेते हैं। वे प्रायः आहार-संज्ञा, भय-संज्ञा तथा मैथुन-संज्ञा—इन तीन अन्तर्बुभुक्षाओं में लिप्त रहते हैं, दुःखी होते हैं। उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं, जो धर्म-क्रिया भी करते हैं किन्तु केवल लोक-व्यहार साधने के लिए। वे भवाभिनन्दी कहे जाते हैं।

[ ८७ ]

क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो मत्सरी भयवान् शठः ।

अज्ञो भवाभिनन्दी स्यान्निष्फलारम्भसंगतः ॥

भवाभिनन्दी जीव क्षुद्र—तुच्छ, लाभरति—हर समय अपने स्वार्थ में लीन रहने वाला, मत्सरी—ईर्ष्यालु, भयभीत, शठ—धूर्त, जालसाज, अज्ञ—अज्ञानी होता है तथा वह निरर्थक कार्यों में लगा रहता है।

[ ८८ ]

लोकाराधनहेतोर्य मलिनेनान्तरात्मना ।

क्रियते सत्क्रिया साऽत्र लोकपक्तिरुदाहृता ॥

लोकाराधन—लोगों को प्रसन्न करने हेतु मलिन भावना द्वारा जो सत्क्रिया की जाती है, उसे लोकपक्ति कहा गया है।



[ ८६ ]

भवाभिनन्दिनो लोकपक्त्या धर्मक्रियामपि ।  
महतो हीनदृष्ट्योच्चैर्दुरन्तां तद्विदो विदुः ॥

भवाभिनन्दी जीव धर्म-क्रिया भी लोकानुरंजन के लिए करते हैं। यों वे महान् धर्म को हीन दृष्टि से प्रयोग में लेते हैं, जिससे उनकी वह क्रिया अत्यन्त दुःखरूप फलप्रद पापमय क्रिया है। योगवेत्ता ऐसा मानते हैं।

[ ६० ]

धर्मार्थं लोकपक्तिः स्यात् कल्याणगं महामतेः ।  
तदर्थं तु पुनर्धर्मः पापायाऽपधियामलम् ॥

अत्यन्त बुद्धिशाली पुरुष लोकपक्ति—जनानुरंजन के कार्य धर्म के निमित्त करते हैं, जिससे उनका कल्याण सिद्ध होता है। किन्तु लोकरंजन हेतु किया गया धर्म का आचरण अल्पबुद्धि मनुष्यों के पाप के लिए ही होता है।

[ ६१ ]

लोकपक्तिमतः प्राहुरनाभोगवतो वरम् ।  
धर्मक्रियां न महतो हीनताऽत्र यतस्तथा ॥

लोकपक्ति में ग्रस्त होते हुए भी अनाभोगिक मिथ्यात्वी की धर्म-क्रिया विशेष अनर्थकर नहीं होती। अभिगृहीत-मिथ्यात्वी की धर्मक्रिया क्योंकि वह हीन बुद्धि द्वारा की जाती है, अनर्थकर होती है।

[ ६२ ]

तत्त्वेन तु पुनर्नैकाऽप्यत्र धर्मक्रिया मता ।  
तत्प्रवृत्त्यादिवैगुण्याल्लोभक्रोधक्रिया यथा ॥

तात्त्विक दृष्टि से तो उक्त रूप में दोनों ही प्रकार से की गई धर्म-क्रिया याथार्थ्य की सीमा में नहीं आतीं, क्योंकि दोनों में ही सत्तथ्यमूलक प्रवृत्ति, विघ्न-जय, सिद्धि, विनयोग तथा प्रणिधान का असद्भाव होता है। साथ ही साथ वहाँ लोभ एवं क्रोध जैसी वृत्तियाँ भी अन्तर्निहित होती हैं।

[ ६३ ]

तस्मादचरमावर्तेष्वध्यात्मं नैव युज्यते ।  
कायस्थिततरोर्यद्वत् तज्जन्मस्वामरं सुखम् ॥

इस कारण चरम पुद्गलावर्त को छोड़कर अन्यत्र आत्मा अध्यात्म योग को प्राप्त नहीं कर सकती, जैसे वनस्पति-काय में स्थित जीव अनेक जन्म-जन्मान्तर तक उसी कोटि (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय) में भटकता रहता है, स्वर्ग-सुख नहीं पा सकता ।

[ ६४ ]

तैजसानां च जीवानां भव्यानामपि नो तदा ।  
यथा चारित्रमित्थेवं नान्यदा योगसंभवः ॥

वे भव्य—अन्ततः मोक्ष पाने की योग्यता रखनेवाले जीव, जो तैजस्-काय में स्थित हैं, चारित्र प्राप्त नहीं कर सकते, वैसे ही वे जीव, जो चरम-पुद्गलपरावर्त से पूर्वतन पुद्गल परावर्तों की शृंखला में विद्यमान हैं, योग नहीं साध सकते ।

[ ६५ ]

तृणादीनां च भावानां योग्यानामपि नो यथा ।  
तदा घृतादिभावः स्यात् तद्वद्योगोऽपि नान्यदा ॥

यद्यपि तृण—घास आदि में घृत, दूध, दही आदि बनने की योग्यता है पर जब तक वे अपनी तृणादिरूप अवस्था में विद्यमान हैं, तब तक घृता-दिभाव प्राप्त नहीं कर सकते, वैसे ही वे जीव, जो अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्वतन परावर्तों में हैं, योग प्राप्त नहीं कर सकते ।

[ ६६ ]

नवनीतादिकल्पस्तत्तद्भावेऽत्र निबन्धनम् ।  
पुद्गलानां परावर्तश्चरमो न्यायसंगतम् ॥

जैसे अनुकूल संयोग मिलने पर घास आदि मक्खन आदि के रूप में

परिणत हो जाते हैं, उसी प्रकार अन्तिम पुद्गल परावर्त में आत्मा योग को प्राप्त कर लेती है ।

[ ६७ ] ✓

अत एवेह निर्दिष्टा पूर्वसेवाऽपि या परैः ।  
साऽऽसन्नान्यगता मन्थे भवाभिष्वङ्गभावतः ॥

अन्य योगवेत्ताओं ने पूर्वसेवा को योग के अंगरूप में आख्यात किया है । पर वह अन्तिम पुद्गल परावर्त से पूर्ववर्ती परावर्तों में होती है, तब उसमें सांसारिक आसक्ति बनी रहती है ।

[ ६८ ]

अपुनर्बन्धकादीनां भवाब्धौ चलितात्मनाम् ।  
नासौ तथाविधा युक्ता वक्ष्यामो मुक्तिमत्र तु ॥

जो अपुनर्बन्धक आदि अवस्थाओं हैं, जिनकी अन्तरात्मा संसार-सागर से निकल जाने के लिए तिलमिलाती है—सांसारिक भोगोपभोगमय प्रलोभनों के प्रति जिनके मन में जुगुप्सा का भाव उत्पन्न हो रहा है, उन द्वारा समाचरित होते पूर्वसेवा रूप कार्य इस श्रेणी में नहीं आते । इस सम्बन्ध में आगे चर्चा करेंगे ।

[ ६९ ]

मुक्तिमार्गपरं युक्त्या युज्यते विमलं मनः ।  
सद्बुद्ध्यासन्नभावेन यदमीषां महात्मनाम् ॥

अपुनर्बन्धक आदि सात्त्विकचेता पुरुषों का निर्मल मन सद्बुद्धि—सम्यक्ज्ञान आदि की उत्तरोत्तर विकासोन्मुखता—आगे से आगे समुन्नत होती गुणस्थान-परंपरा के कारण मुक्ति-परायण होता है, यह युक्ति-युक्त है ।

गोपेन्द्र का अभिमत—

[ १००-१०४ ]

तथा चान्यैरपि ह्येतद् योगमार्गकृतश्रमैः ।  
संगीतमुक्तिभेदेन यद् गौपेन्द्रमिदं वचः ॥

अनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ सर्वथैव हि ।  
 न पुंसस्तत्त्वमार्गोऽस्मिञ्जिज्ञासाऽपि प्रवर्तते ॥  
 क्षेत्ररोगाभिभूतस्य यथाऽत्यन्तं विपर्ययः ।  
 तद्वदेवास्य विज्ञेयस्तदावर्तनियोगतः ॥  
 जिज्ञासायामपि ह्यत्र कश्चित् सर्गो निवर्तते ।  
 नाक्षीणपाप एकान्तादाप्नोति कुशलां धियम् ॥  
 ततस्तदात्वे कल्याणमायत्यां तु विशेषतः ।  
 मन्त्राद्यपि सदा चारु सर्वावस्थाहितं मतम् ॥

जिन्होंने योग-मार्ग में श्रम किया है—उच्चयोगाभ्यास किया है, उन इतर परंपराओं के योगवेत्ताओं ने वचन-भेद से इसी बात का निरूपण किया है—इसी तथ्य की पुष्टि की है। उदाहरणार्थ आचार्य गोपेन्द्र ने कहा है—

जब तक प्रकृति अनिवृत्ताधिकारा रहती है—पुरुष पर छाया हुआ उसका अधिकार सिमट नहीं जाता, तत्त्व-ज्ञान द्वारा पुरुष प्रकृति के जंजाल से पृथक हो जाने की स्थिति लाने में तत्पर नहीं होता, तब तक पुरुष (आत्मा) की तत्त्व-मार्ग—योग-मार्ग में जिज्ञासा ही नहीं होती।

जैसे किसी क्षेत्र—स्थान विशेष में व्यक्ति को कोई रोग होजाए, तो वह भ्रमवश वहाँ से सम्बद्ध हवा, पानी आदि पदार्थों के प्रति एक भ्रान्त धारणा बना लेता है अर्थात् वह मान बैठता है, उन्हीं (हवा, पानी आदि) की प्रतिकूलता से उसे रोग हुआ है, वैसे ही प्रकृति-अधिकृत पुरुष को अपने अज्ञानरूप दोष के कारण यथार्थ विपरीत प्रतिभासित होता है।

अधिक क्या, योग की जिज्ञासा तक प्राप्त करने की स्थिति में आने हेतु प्रकृति-अधिकृत पुरुष को दीर्घ काल में से गुजरना पड़ता है। जब तक पाप—शुद्धात्मशक्ति के निरोधक राजस, तामस प्राकृत भाव—कल्मष अधिकांशतः क्षीण नहीं हो जाते, पुण्यमयी बुद्धि प्राप्त नहीं होती।

सद्विवेकपूर्ण बुद्धि प्राप्त होने पर पुरुष (आत्मा) का कल्याण होता

है। भविष्य में यह कल्याण-परंपरा विशेष रूप से बढ़ती जाती है। जैसे मणि, मन्त्र, औषधि आदि के विधि, श्रद्धा तथा आदरपूर्वक सेवन करने से सभी अवस्थाओं में हितावह फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार सद्ज्ञानमय बुद्धि का आसेवन करने से आत्म-श्रेयस् के रूप में उत्तम फल प्राप्त होता है।

आचार्य गोपेन्द्र कब हुए, किस परंपरा से सम्बद्ध थे, उनकी क्या क्या रचनाएँ हैं, इत्यादि विषयों में कोई इतिहास प्राप्त नहीं होता। नामोल्लेख भी जहाँ तक संभव है, केवल यहीं मिलता है। आचार्य गोपेन्द्र के कथन के रूप में जो तत्त्व-निरूपण हुआ है, उसमें प्रतीत होता है, वे सांख्य-योगाचार्य रहे हों। क्योंकि प्रतिपादन-पद्धति सांख्य-योग पर आधृत है।

[ १०५ ]

उभयोस्तत्स्वभावत्वात् तदावर्तनियोगतः ।  
युज्यते सर्वमेवंतन्नान्यथेति मनीषिणः ॥

प्रकृति तथा पुरुष—दोनों अपने-अपने स्वभावानुरूप प्रवृत्त होते हुए अन्तिम पुद्गलावर्त में उक्त स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, यह घटित होता है, इससे अन्यथा—प्रतिकूल या विपरीत नहीं; ऐसा ज्ञानी जन स्वीकार करते हैं।

[ १०६ ]

अत्राप्येतद् विचित्रायाः प्रकृतेर्युज्यते परम् ।  
इत्थमावर्तभेदेन यदि सम्यग् निरूप्यते ॥

यदि सम्यक् निरूपण किया जाए—तत्त्वालोचनपूर्वक प्रतिपादित किया जाए तो विचित्र—विविधरूपा—परिणमनशील स्वभावयुक्त प्रकृति के अन्तिम पुद्गल-परावर्त में ऐसा घटित होता है। तत्त्व-ज्ञान के कारण पुरुष के प्रकृति से पार्थक्यानुभूति की स्थिति आने लगती है, प्रकृति अधिकार-निवृत्ति की दिशा में प्रयाण करने लगती है, जो युक्तिसंगत है।

[ १०७ ]

अन्यथैकस्वभावत्वाद् अधिकारनिवृत्तितः ।  
एतस्य सर्वतद्भावो बलादापद्यते सदा ॥

यदि प्रकृति का एकान्त रूप में एक ही स्वभाव माना जाए तो प्रकृति का यदि एक पुरुष या आत्मा पर से अधिकार—संलग्नता या संयोग हटता है तो वह सहज ही सब आत्माओं पर घटित हो जाता है, ऐसा मानने को बाध्य होना होगा ।

[ १०५ ]

तुल्य एव तथा सर्गः सर्वेषां संप्रसज्यते ।

ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त एवं मुक्तिः ससाधना ॥

ऐसा—प्रकृति की एकस्वभावात्मकता मानने पर ब्रह्मा से लेकर तृण-पुञ्ज तक सबका सर्जन एक ही साथ हो जायेगा—प्रकृति का सम्बन्ध एक से होते ही सबके साथ होगा । सर्जन की यह बात मोक्ष पर भी लागू होगी । सबका मोक्ष भी एक ही साथ हो जायेगा । प्रकृति की एक पर से अधिकार-निवृत्ति—पृथक्ता होगी—सम्बन्ध अपगत होगा तो सब से स्वयमेव वैसा हो जायेगा । पर, वास्तव में वैसा अनुभूत नहीं होता ।

पूर्वसेवा—

[ १०६ ]

पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैर्गुरुदेवादिपूजनम् ।  
○ सदाचारस्तपो मुक्त्यद्वेषश्चेह प्रकीर्तिता ॥

गुरुजनों तथा देवों का पूजन, सदाचार, तप एवं मुक्ति से अद्वेष—मोक्ष का विरोध न करना, बुरा न बताना, उधर अरुचियुक्त न रहना, अभिरुचिशील रहना—इन्हें शास्त्रज्ञों ने पूर्वसेवा कहा है ।

[ ११० ]

माता पिता कलाचार्य एतेषां ज्ञातयस्तथा ।

वृद्धा धर्मोपदेष्टारो गुरुवर्गः सतां मतः ॥

माता, पिता, कलाचार्य—भाषा, लिपि, गणित, काव्य, छन्द आदि विभिन्न विद्याएँ तथा कलाएँ सिखाने वाला अध्यापक, इनके—माता, पिता आदि इन सबके सम्बन्धी, वृद्ध पुरुष. धर्मोपदेष्टा—धर्म का रहस्य समझानेवाले—सत्पुरुषों ने इन्हें गुरुवर्ग में लिया है ।

[ १११-११५ ]

पूजनं चास्य विज्ञेयं त्रिसन्ध्यं नमनक्रिया ।  
 तस्यानवसरेऽप्युच्चैश्चेतस्यारोपितस्य तु ॥  
 अभ्युत्थानादियोगश्च तदन्ते निभृतासनम् ।  
 नामग्रहश्च नास्थाने नावर्णश्रवणं क्वचित् ॥  
 साराणां च यथाशक्ति वस्त्रादीनां निवेदनम् ।  
 परलोकक्रियाणां च कारणं तेन सर्वदा ॥  
 त्यागश्च तदनिष्टानां तदिष्टेषु प्रवर्तनम् ।  
 औचित्येन त्विदं ज्ञेयं प्राहर्धर्माद्यपीडया ॥  
 तदासनाद्यभोगश्च तीर्थे तद्वित्तयोजनम् ।  
 तद्बिम्बन्याससंस्कार ऊर्ध्वदेहक्रिया परा ॥

इन पूज्य गुरुजनों को तीनों सन्ध्या—प्रातः, मध्यान्ह तथा सायंकाल प्रणाम करना, वैसा अवसर न हो—समीप उपस्थित होकर प्रणाम करने का मौका न हो तो चित्त में उन्हें आदर व श्रद्धापूर्वक स्मरण करना—मन से प्रणाम करना, वे (गुरुजन) यदि अपनी ओर आते हों तो उठकर उनके सामने जाना, उनकी सन्निधि में चुपचाप बैठना, अयोग्य स्थान में उनका नाम न लेना—नामोच्चारण न करना, कहीं भी उनका अवर्णवाद निन्दा न सुनना, यथाशक्ति उत्तम वस्त्र आदि भेंट करना, परलोक में श्रेष्ठ फलप्रद धर्म-क्रिया के संपादन में उन्हें सदा सहयोग देना, जो उन्हें इष्ट न हों—जिन्हें वे पसन्द नहीं करते हों, वैसे कार्यों का त्याग करना, जो उन्हें इष्ट हों—जिन्हें वे पसन्द करते हों, वैसे कार्य करना, औचित्यपूर्वक इन दोनों प्रकार के कार्यों का निर्वाह करना, जिससे उनके धर्माराधन आदि में बाधा, असुविधा न हो, उनके आसन आदि उपयोग में न लेना, उनके द्रव्य का धर्मस्थान में विनियोग करना, स-समारोह उनके बिम्ब स्थापित करना, उनकी ऊर्ध्वदेहक्रिया—मरणोपरान्त किये जाने वाले उनके दाह-संस्कार आदि कार्य अत्यन्त सम्मानपूर्वक समायोजित करना—ये सब गुरुजन के पूजन के अन्तर्गत हैं ।

[ ११६-११७ ]

पुष्पेश्च बलिना चैव वस्त्रैः स्तोत्रैश्च शोभनैः ।  
 देवानां पूजनं ज्ञेयं शौचश्रद्धासमन्वितम् ॥  
 अविशेषेण सर्वेषामधिमुक्तिवशेन वा ।  
 गृहिणां माननीया यत् सर्वे देवा महात्मनाम् ॥

पुष्प, नैवेद्य, वस्त्र तथा सुन्दर स्तोत्रों द्वारा सभी देवों का, उनमें परस्पर भेद न करते हुए सामान्यतः अथवा अधिमुक्तिवश—आस्था व विश्वास के साथ पवित्रता एवं श्रद्धापूर्वक पूजन करना चाहिए। उत्तम गृहस्थों के लिए सभी देव माननीय हैं।

यहाँ सभी देवों में भेद न करने की जो बात कही गई है, वह साधनोद्यत पुरुष की प्रारम्भिक विकासापेक्ष भूमिका से सम्बद्ध है, जहाँ उसे अपने मानस में साधनोपयोगी निर्मल, परिपक्व पृष्ठभूमि तैयार करनी होती है।

अधिमुक्ति का सम्बन्ध उन साधकों से है, जो साधना में ऊँचे उठे हुए हैं, जिनका बोध परिपक्व है, जो दृढ़ आस्था या विश्वास की मनःस्थिति में आने में समर्थ हैं।

[ ११८ ]

सर्वान् देवान् नमस्यन्ति नैकं देवं समाश्रिताः ।  
 जितेन्द्रिया जितक्रोधा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥

जो सभी देवों को नमस्कार करते हैं, किसी एक ही देव तक सीमित नहीं रहते, जो इन्द्रियजयो होते हैं, क्रोध को नियन्त्रित रखते हैं, वे साधना-पथ में अवरोध उत्पन्न करने वाले दुर्गों—संकटों, कठिनाइयों या विघ्नों के गढ़ों को लांघ जाते हैं—पार कर जाते हैं।

[ ११९ ]

चारिसंजीवनोचारन्याय एष सतां मतः ।  
 नान्यथाऽत्रेऽसिद्धिः स्याद् विशेषेणादिकर्मणाम् ॥

सौम्यचेता पुरुष इस विषय में 'चारि-संजीवनी-चार-न्याय, को ही



समुचित मानते हैं । अन्यथा विशेषतः नवाभ्यासी प्रारंभिक साधकों का अभीप्सित सिद्ध नहीं होता ।

चारिसंजीवनीचार-न्याय एक कहानी के रूप में है । कहानी यों है:—

एक स्त्री थी । वह चाहती थी, उसका पति उसके वश में हो । उसने कहीं से दो प्रकार की जड़ियों का ज्ञान प्राप्त किया । पहली को खिला देने से मनुष्य बैल बन जाए और दूसरी को खिलाने से वापस मनुष्य बन जाए । वह अपने पति को पहली जड़ी खिलाकर बैल बना देती और दूसरी जड़ी खिलाकर वापस पुरुष बना लेती । संयोग ऐसा बना--एक दिन वन-स्पति के जंगल में, जहाँ से वह जड़ियाँ लाती थीं, दूसरी जड़ी की पहचान भूल गई । वह अत्यन्त विषादग्रस्त हो गई--क्या करे, उसका पति फिर कभी मनुष्य नहीं बन पायेगा ।

उस जंगल में से गुजरते हुए किसी बुद्धिमान् मनुष्य ने उस स्त्री को विलपते--कलपते देखा । सब कुछ जानकर वह बोला--इसमें विषाद कैसा ? वह दूसरी जड़ी इस जंगल में ही तो है । इस बैल को जंगल में खुला छोड़ दो । अन्यान्य वनस्पतियों के साथ वह जड़ी भी संभवतः उसके मुँह में पड़ जाए और वह पुनः मनुष्य बन जाए । यह सुनकर उस स्त्री ने बैल को जंगल में खुला छोड़ दिया । वह वनस्पतियाँ चरने लगा । संयोगवश दूसरी जड़ी उसके मुँह में पड़ गई । वह वापस पुरुष हो गया ।

आचार्य हरिभद्र का कहना है कि इस कथा के माध्यम से जो बताया गया है, वह तथ्य उत्तम जनों द्वारा स्वीकृत है । ऐसी सरिणि के बिना इष्ट-सिद्धि नहीं होगी । क्योंकि साधारण जनों में किसे मालूम, कौन यथार्थतः नमस्कार्य--वन्द्य है ।

[ १२० ]

गुणाधिक्यपरिज्ञानाद् विशेषेऽप्येतदिष्यते ।

अद्वेषेण तदन्येषां वृत्ताधिक्ये तथाऽऽमनः ॥

कोई व्यक्ति किसी देव-विशेष में अधिक गुण माने अथवा अपने द्वारा

स्वीकृत आचार-विधि में, तो इसमें कोई हानि नहीं है। अन्य देवों के साथ द्वेष न रखते हुए वह वैसा भले ही करे।

[ १२१ ]

पात्रे दीनादिवर्गे च दानं विधिवदिष्यते ।  
पोष्यवर्गाविरोधेन न विरुद्धं स्वतश्च यत् ॥

अपने पोष्यवर्ग—अपने ऊपर आश्रित जन के लिए कोई असुविधा पैदा न करते हुए, अपने हित में बाधा न लाते हुए, साधक को चाहिए कि वह दीन आदि वर्ग को विधिवत्—औचित्यपूर्वक दान दे। ऐसा दान समुचित है।

[ १२२ ]

व्रतस्था लिङ्गिनः पात्र-मपचास्तु विशेषतः ।  
स्वसिद्धान्ताविरोधेन वर्तन्ते ये सदैव हि ॥

व्रत-पालक, साधुवेश में स्थित, सदा अपने सिद्धान्त के अविरुद्ध चलने वाले जन दान के पात्र हैं, उनमें भी विशेषतः वे, जो अपने लिए भोजन नहीं पकाते।

[ १२३ ]

दीनान्धकृपणा ये तु ध्याधिग्रस्ता विशेषतः ।  
निःस्वाः क्रियान्तराशक्ता एतद्वर्गो हि मीलकः ॥

जो कार्य करने में अक्षम हैं, अन्धे हैं, दुःखी हैं, विशेषतः रोग-पीड़ित हैं, निर्धन हैं, जिनके जीविका का कोई सहारा नहीं है, ऐसे लोग भी दान के अधिकारी हैं।

[ १२४ ]

दत्तं यदुपकाराय द्वयोरप्युपजायते ।  
नातुरापथ्यतुल्यं तु तदेतद्विधिवन्मतम् ॥

जो दिया हुआ, दाता और गृहीता दोनों के लिए उपकारजनक होता है, वह दान उपयुक्त दान है। दान बीमार को अपथ्य दिये जाने जैसा नहीं चाहिए। अर्थात् किसी रुग्ण व्यक्ति को कोई सुस्वादु और पौष्टिक पदार्थ

दे, जो उसके लिए अहितकर हो, तो वह सर्वथा अनुचित है । इसी प्रकार दिया गया दान लेने वाले के लिए अहितकर न होकर हितप्रद होना चाहिए और उसी तरह देने वाले के लिए भी ।

[ १२५ ]

धर्मस्थादिपदं दानं, [दानं दारिद्र्यनाशनम् ।  
जनप्रियकरं दानं, दानं कीर्त्यादिवर्धनम् ॥

दान धर्म के चार<sup>१</sup> पदों में प्रथम पद है । दान दारिद्र्य—क्लेश का नाशक है । दान लोकप्रियता देता है । दान यश आदि का संवर्धन करता है ।

दान से संबद्ध इस विवेचन की गहराई में जाएँ तो प्रतीत होगा कि आचार्य हरिभद्र जहाँ बहुत बड़े दार्शनिक, तत्त्व-निष्णात मनीषी थे, वहाँ अत्यन्त व्यावहारिक भी थे । उन्होंने दान के प्रसंग में जो यह सूचित किया है कि अपने पोष्यवर्ग—आश्रित जन, पारिवारिक जन एवं भृत्यवृन्द आदि को कष्ट न हो, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है । ऐसे पुण्यलोभी भावुक दानी भी यत्र-तत्र देखे जाते हैं, जिनके घर वाले या उन पर निर्भर लोग कष्ट पाते रहते हैं, असुविधाएँ झेलते रहते हैं और वे पुण्य के लोभ में अन्यो को दान देते जाते हैं । आचार्य ने यहाँ अपने आश्रितों के प्रति हर किसी का जो कर्तव्य है, उसे बड़ी सुन्दरता से सुझाया है ।

[ १२६-१३० ]

लोकापवादभीरुत्वं दीनाभ्युद्धरणादरः ।  
कृतज्ञता सुदाक्षिण्य सदाचारः प्रकीर्तिता ॥  
सर्वत्र निन्दासंत्यागो वर्णवादश्च साधुषु ।  
आपद्यदेन्यमत्यन्तं तद्वत् संपदि नम्रता ॥  
प्रस्तावे मितभाषित्वमविसंवादनं तथा ।  
प्रतिपन्नक्रिया चेति कुलधर्मानुपालनम् ॥

१. धर्म के चार पद — दान, शील, तप, भावना ।

असद्व्ययपरित्यागः स्थाने चैतत्क्रिया सदा ।  
 प्रधानकार्ये निर्बन्धः प्रमादस्य विवर्जनम् ॥  
 लोकाचारानुवृत्तिश्च सर्वत्रोचित्यपालनम् ।  
 प्रवृत्तिर्गाहते नेति प्राणैः कण्ठागतैरपि ॥

लोक-निन्दा से भय, सहायतापेक्षी जनों को सहयोग करने में उत्साह, दूसरों के द्वारा अपने प्रति किये गये उपकार या सहयोग के लिए कृतज्ञ भाव, प्रज्ञापूर्ण शिष्टता, निन्दा का सर्वत्र परित्याग, सत्पुरुषों की गुण-प्रशस्ति, आपत्ति या विपन्नता में अत्यन्त अदीन-भाव, सुदृढ़ सहिष्णुता, संपत्ति या संपन्नता में नम्रता, बोलने के प्रसंग में मितभाषिता एवं अविस्वादिता—अपनी बात अपने ही कथन से न काटना—संगतभाषिता, ग्रहण की हुई प्रतिज्ञाओं का पालन, कुल क्रमागत धर्म-कृत्यों का अनुसरण, असद्व्यय का परित्याग—अयोग्य कार्यों में धन खर्च न करना, योग्य कार्यों में धन खर्च करना, प्रमुख या प्राथमिक कार्यों में अनिवार्य तत्परता, प्रमाद—आलस्य का वर्जन, लोकाभिमत आचार का अनुवर्तन, उचित बात का सर्वत्र परिपालन, निन्दित कार्यों में प्राणपण से अप्रवृत्ति—मरने तक की नीबत आ जाने पर भी निन्दित काम नहीं करना—इन सबका सदाचार में समावेश है ।

[ १३१ ]

तपोऽपि च यथाशक्ति कर्तव्यं पापतापनम् ।  
 तच्च चान्द्रायणं कृच्छ्रं मृत्युघ्नं पापसूदनम् ॥

साधक को यथाशक्ति पापनाशक तप का आचरण करना चाहिए । वह चान्द्रायण, कृच्छ्र, मृत्युघ्न, पापसूदन इत्यादि अनेक रूप में है ।

[ १३२ ]

एकैकं वर्धयेद् ग्रासं शुक्ले कृष्णे च हापयेत् ।  
 भुञ्जीत नामावस्यायामेष चान्द्रायणो विधिः ॥

शुक्ल पक्ष में भोजन में प्रतिदिन एक-एक ग्रास बढ़ाते जाना चाहिए तथा कृष्ण पक्ष में एक-एक ग्रास घटाना चाहिए । अमावस्या को भोजन नहीं करना चाहिए । यह चान्द्रायण व्रत की विधि है ।

इसका अभिप्राय यह है—जिस प्रकार चन्द्रमा की कला शुक्लपक्ष में प्रतिदिन उत्तरोत्तर बढ़ती है, पूर्णिमा को वह परिपूर्णता पाती है, उसी के अनुरूप व्रती प्रतिपदा को एक ग्रास, द्वितीया को दो ग्रास, तृतीया को तीन ग्रास, चतुर्थी को चार ग्रास, यों एक-एक ग्रास बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह ग्रास भोजन करे। फिर कृष्णपक्ष में जैसे चन्द्रमा की कला क्रमशः घटती जाती है, उसी प्रकार प्रतिपदा को चवदह ग्रास, द्वितीया को तेरह ग्रास, तृतीया को बारह ग्रास, चतुर्थी को ग्यारह ग्रास, यों उत्तरोत्तर एक-एक ग्रास घटाते हुए अमावस्या को सर्वथा निराहार रहे। चन्द्रमा के घटने-बढ़ने के आधार पर खाने के क्रम चलने के कारण इसे चान्द्रायण व्रत कहा गया है।

[ १३३ ]

सन्तापनादिभेदेन कृच्छ्रमवतमनेकधा ।

अकृच्छ्रादतिकृच्छ्रेषु हन्त ! सन्तारणं परम् ॥

कृच्छ्र तप संतापन आदि भेद से अनेक प्रकार का है। कष्ट न मानते हुए, कष्टपूर्ण विधियों को सम्पन्न करने, उन द्वारा आत्म-शुद्धि के पथ पर अग्रसर होने का यह उत्तम मार्ग है।

टीका में कृच्छ्र तप के संतापन-कृच्छ्र, पाद-कृच्छ्र तथा संपूर्ण-कृच्छ्र—ये तीन भेद बतलाये गये हैं और तीनों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है।

[ १३४ ]

मासोपवासमित्याहुर्मृत्युधनं तु तपोधनाः ।

मृत्युञ्जयजपोपेतं परिशुद्धं विधानतः ॥

तपस्वीजन उस तप को मृत्युञ्जय तप कहते हैं, जहाँ एक मास तक का उपवास रखा जाता है, साथ ही साथ मृत्युञ्जय मंत्र का जप किया जाता है तथा जो परिशुद्ध विधि-विधानपूर्वक संपादित किया जाता है।

[ १३५ ]

पापसूदनमध्येवं तत्तत्पापाद्यपेक्षया ।

चित्रमन्त्रजपप्रायं प्रत्यापत्तिविशोधितम् ॥

भिन्न-भिन्न पापों की अपेक्षा से अर्थात् भिन्न-भिन्न पापों के प्राय-श्चित्त के दृष्टिकोण से तदनुरूप निर्दिष्ट भिन्न-भिन्न मंत्रों के जप एवं विधिक्रम के साथ, सांसारिक विषयों से, अशुभ कर्मों से विरत रहते हुए जो तप साधा जाता है, वह पापसूदन नामक तप है ।

[ १३६ ]

कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिर्भोगसंवलेशर्वाजिता ।

भवाभिनन्दिनामस्यां द्वेषोऽज्ञाननिबंधनः ॥

समग्र कर्मों का क्षय हो जाने से मोक्ष प्राप्त होता है । मोक्ष भोग—सांसारिक सुख तथा दुःख से रहित है । भवाभिनन्दी (संसार में अत्यन्त आसक्त) प्राणियों को अज्ञान—मिथ्यात्व भाव के कारण मोक्ष के प्रति द्वेष होता है ।

[ १३७ ]

श्रूयन्ते चेतदालापा लोके तावदशोभनाः ।

शास्त्रेष्वपि हि मूढानामश्रोतव्याः सदा सताम् ॥

लोक में तथा लोकपरायण शास्त्रों में ऐसे आलाप—कथन सुने जाते हैं, जो सत्पुरुषों के लिए सुनने योग्य नहीं है—जिन्हें सत्पुरुष सुनना तक नहीं चाहते ।

[ १३८ ]

वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टुत्वमभिवाञ्छितम् ।

न त्वेवाविषयो मोक्षः कदाचिदपि गौतम ! ॥

गौतम ! रमणीय वृन्दावन में गीदड़ की योनि में जन्म लेना भी हमें अभीष्ट है । जो इन्द्रियों का अविषय है—जो इन्द्रियों द्वारा अनुभूत नहीं किया जा सकता, अथवा जो सुन्दर दर्शन, मधुर श्रवण, सुखद संस्पर्श, मनोज्ञ भाषण तथा सुरभित आघ्राण जैसे इन्द्रिय-सुखों से शून्य है, वह मोक्ष हमें नहीं चाहिए ।

किसी वैष्णव विद्वान् का न्याय-दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को या गौतम के अनुयायी किसी अन्य नैयायिक को गौतम के नाम से सम्बोधित कर यह कथन है, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। पर एक बात है, वैष्णव मोक्ष के प्रति ऐसी अरुचि दिखाएं, यह संगत प्रतीत नहीं होता।

टीकाकार ने बतलाया है कि यह श्लोक गालव ऋषि के मत का सूचक है, जो उन्होंने अपने शिष्यों में से किसी गौतम नामक शिष्य को सम्बोधित कर कहा हो।

[ १३६ ]

महामोहाभिभूतानामेवं द्वेषोऽत्र जायते ।  
अकल्याणवतां पुंसां तथा संसारवर्धनः ॥

घोर मोह से दुर्ग्रस्त, अकल्याणमय मनुष्यों में इस प्रकार मोक्ष के प्रति द्वेष होता है, जो उनके संसार बढ़ाने का—जन्म-मरण के चक्र में बार-बार आने का कारण बनता है।

[ १४० ]

नास्ति येषामयं तत्र तेऽपि धन्याः प्रकीर्तिताः ।  
भवबीजपरित्यागात् तथा कल्याणभाजिनः ॥

जिन भव्य पुरुषों का मोक्ष के प्रति द्वेष नहीं होता, वे धन्य हैं। संसार के बीजरूप मोह का परित्याग कर देने के कारण वे कल्याण के भागी बनते हैं।

[ १४१ ]

सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेरुपायः समुदाहृतः ।  
मलनायैव तत्रापि न चेष्टैषां प्रवर्तते ॥

सद्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र को मुक्ति का उपाय कहा गया है। भव्य जनों की इन आत्मगुणों के नाश हेतु चेष्टा—प्रवृत्ति नहीं होती अर्थात् वे ऐसे कार्य नहीं करते, जिनसे सद्ज्ञान आदि दूषित हों।

[ १४२ ]

स्वाराधनाद् यथैतस्य फलमुक्तमनुत्तरम् ।  
मलनायास्त्वनर्थोऽपि महानेव तथैव हि ॥

जैसे स्वाराधना—आत्माराधना—ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य की आराधना का सर्वोत्तम फल मोक्ष कहा गया है, उसी प्रकार उनके ध्वंस या विराधना का फल घोर अनर्थकर है ।

[ १४३ ]

उत्तुङ्गारोहणात् पातो विषान्नात् तृप्तिरेव च ।  
अनर्थाय यथाऽत्यन्तं मलनाऽपि तथेक्ष्यताम् ॥

। अत्यन्त ऊँचे स्थान पर चढ़कर वहाँ से गिरना, विषयुक्त अन्न खाकर सन्तुष्ट होना जैसे अत्यन्त अनर्थ के लिए होता है, वैसे ही ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र्य के नाश से आत्मा का घोर अहित होता है ।

[ १४४ ]

अत एव च शास्त्राग्निव्यालदुर्ग्रहसन्निभः ।  
श्रामण्यदुर्ग्रहोऽस्वन्तः शास्त्र उक्तो महात्मभिः ॥

शास्त्र, अग्नि तथा सर्प को यदि अयथावत् रूप में रखा जाए—उन्हें सहेजकर न रखा जाए तो वे कष्टप्रद सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार श्रामण्य—श्रमण-जीवन का ठीक रूप में निर्वाह न हो—चारित्र्य की विराधना हो तो महापुरुषों ने शास्त्र में उसे असुन्दर—अशोभन, क्लेशकर कहा है ।

[ १४५ ]

ग्रैवेयकाप्तिरप्येवं मातः श्लाघ्या सुनोतितः ।  
यथाऽन्यायार्जिता सम्पद् विपाकविरसत्वतः ॥

अन्तःकरण की शुद्धि के बिना पाला जाता श्रमण-धर्म नवग्रँवेयक देवलोक तक पहुँचा देता है किन्तु वह न्याय-दृष्टि से—वास्तव में प्रशंसनीय नहीं होता । वह तो अन्याय द्वारा अर्जित धन जैसा है, जो परिणाम-विरस होता है—जिसका फल दुःखप्रद होता है ।

[ १४६ ]

अनेनापि प्रकारेण द्वेषाभाषोऽत्र तत्त्वतः ।  
हितस्तु यत् तदेतेऽपि तथा कल्याणभागिनः ॥



इस कारण मोक्ष के प्रति द्वेष का अभाव आत्महित हेतु —मोक्ष-मार्ग प्राप्त करने में सहायक होता है। उसमें आत्मा का कल्याण सधता है।

[ १४७ ]

येषामेव न मुक्त्यादौ द्वेषो गुर्वादिपूजनम् ।  
त एव चारु कुर्वन्ति नान्ये तद्गुरुदोषतः ॥

जिनका मोक्ष-मार्ग में द्वेष नहीं होता, जो गुरु, देव आदि की पूजा—सभक्ति आराधना करते हैं, वे ही लोग अपने जोवन में उत्तम कल्याण-कार्य कर पाते हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे, जिनमें बड़े-बड़े दोष व्याप्त होते हैं, श्रेयस्कर मार्ग प्राप्त नहीं कर सकते।

[ १४८ ]

सच्चेष्टितमपि स्तोकं गुरुदोषवतो न तत् ।  
भौतहन्तुर्यथाऽन्यत्र पादस्पर्शनिषेधनम् ॥

भारी दोषों का सेवन करने वाला यदि थोड़ा-सा अच्छा कार्य भी करे तो उसका कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, वह नगण्य है। वह तो भीलों के राजा की उस आज्ञा जैसा है, जिसमें उसने अपने भौत—भौतिकता प्रधान अथवा शरीर पर भूति—राख मले रहने वाले गुरु को पैर से न छूने की तो हिदायत की थी किन्तु जान से मारने का संकेत किया था।

इस श्लोक के साथ एक दृष्टान्त जड़ा हुआ है, जो इस प्रकार है:—

किसी वन में बहुत से भील रहते थे। उनका अपना नगर था। उन्होंने अपने में से एक प्रमुख भील को राजा के रूप में प्रतिष्ठापित कर रखा था। वे भील राह चलते लोगों को लूट लेते, मदिरा, मांस, व्यभिचार आदि दुष्कृत्यों में सदा दुर्ग्रस्त रहते थे। एक बार संयोगवश कुछ तापस वहाँ आये, जो फल, फूल, कन्द, मूल आदि खाकर अपना जीवन चलाते थे। भीलों ने उनका उपदेश सुना। वे उनसे प्रभावित हुए तथा भजन, पूजन आदि में उनके साथ भाग लेने लगे। तापसों का आचार्य देवी-देवताओं की पूजा करने, यज्ञ करने तथा गुरु, ब्राह्मणों को दान देने आदि का उपदेश करता था। भीलराज अपने साथियों के साथ उनका भक्त हो गया। वह श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उन्हें उत्तम भोजन कराता, आदर देता।

तापसों का आचार्य अपने मस्तक पर एक मुकुट धारण किये रहता था। मुकुट में मोर का पंख लगा था। भीलराज के मन में आया, वह भी वैसा मुकुट पहने किन्तु वन में एक भी मोर नहीं था क्योंकि इन आखेटप्रिय भीलों ने पहले ही उनका शिकार कर डाला था। भीलराज ने यह सोच तापसों के आचार्य से मुकुट देने का अनुरोध किया। आचार्य ने भीलराज की माँग स्वीकार नहीं की। तब भीलराज ने आचार्य की हत्या कर मुकुट प्राप्त करने का भीलों को आदेश दिया। भीलराज ने हत्या के लिए नियुक्त भोलों से कहा—ये तापसराज हमारे गुरु हैं, इसलिए तुम लोग इनके पैर मत लगाना क्योंकि गुरुजनों को पैर से छूने से बड़ा पाप होता है, यों उन्हें पैर से न छूते हुए उन्हें मारकर मुकुट ले आना। भोलों ने वैसा ही किया।

विचारणीय है, यहाँ भीलराज की आज्ञा के दो भाग हैं। एक भाग में गुरु को पैर से न छूने के रूप में आदर-भाव व्यक्त किया गया है तथा दूसरा भाग गुरु के वध से सम्बद्ध है, जो घोर हिंसामय है। अतः यहाँ भीलराज ने जो आदर दिखाने की बात कही है, वह मात्र विडम्बना है, सारहीन है। एक ओर प्राण लेना तथा दूसरी ओर पैर से न छूने की बात कहना सर्वथा अज्ञानमय है। वैसी ही स्थिति उस व्यक्ति के साथ है, जो बड़े-बड़े दोषों का सेवन करता है पर साथ ही थोड़ा-सा सत्कार्य भी कर लेता है। घोर दोषपूर्ण क्रिया के समक्ष ऐसे नगण्य से सत्कार्य की क्या महत्ता है !

[ १४६ ]

गुर्वादिपूजानान्नेह तथा गुण उद्वहृतः ।

मुक्त्यद्वेषाद् यथाऽत्यन्तं महापायनिवृत्तितः ॥

गुरुजनों की पूजा आदि में इतना गुण या लाभ नहीं बताया गया है, जितना घोर अनर्थकर सांसारिक जंजाल से निवृत्त करने वाले—छुड़ाने वाले मोक्ष के प्रति द्वेष न रखने में कहा गया है।

[ १५० ]

भवाभिष्वङ्गभावेन तथाऽनाभोगयोगतः ।  
साध्वनुष्ठानमेवाहुर्नैतान् भेदान् विपश्चितः ॥

भवाभिष्वङ्ग—संसार में अत्यधिक आसक्ति होने से तथा अनाभोग योग से—कर्म-निर्जरा के भाव बिना, मन के उपयोग बिना कर्म होते रहने से विद्वज्जन इन तीन अनुष्ठानों को, जो आगे चर्चित है, सदानुष्ठान नहीं कहते ।

[ १५१ ]

इहामुत्र फलापेक्षा भवाभिष्वङ्ग उच्यते ।  
तथाऽनध्यवसायस्तु स्यादनाभोग इत्यपि ॥

इस लोक तथा परलोक में फल की इच्छा लिए रहना—ऐहिक तथा पारलौकिक फल की कामना से कर्म करना भवाभिष्वङ्ग कहा जाता है । अनध्यवसाय—उचित अध्यवसाय का अभाव—क्रिया में मन का उपयोग न रहना अनाभोग कहा जाता है ।

[ १५२ ]

एतद्युक्तमनुष्ठानमन्यावर्तेषु तद् ध्रुवम् ।  
चरमे त्वन्यथा ज्ञेयं सहजाल्पमलत्वतः ॥

अत्यधिक संसारासक्ति से युक्त अनुष्ठान अन्तिम पुद्गल-परावर्त से पहले के पुद्गल-परावर्तों में होते हैं । अन्तिम पुद्गल-परावर्त में सहजतया अल्प-मलत्व—कर्म-कालिमा की अल्पता होती है अतः वे वहाँ नहीं होते ।

[ १५३ ]

एकमेव ह्यनुष्ठानं कर्तृभेदेन भिद्यते ।  
सहजेतरभेदेन भोजनादिमतं यथा ॥

एक ही अनुष्ठान कर्ता के भेद से भिन्न-भिन्न प्रकार का हो जाता है । जैसे एक ही भोज्य पदार्थ एक रुग्ण व्यक्ति सेवन करे और उसे ही एक

स्वस्थ व्यक्ति सेवन करे तो भोज्य पदार्थ की परिणति एक जैसी नहीं होती, भिन्न-भिन्न होती है।

[ १५४-१५५ ]

इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं सामान्येनैव पञ्चधा ।

विषादिकमनुष्ठानं विचारेऽत्रैव योगिभिः ॥

विषं गरोऽननुष्ठानं तद्धेतुश्मृतं परम् ।

गुर्वादिपूजानुष्ठानमपेक्षादिविधानतः ॥

गुरु, देव आदि की पूजा, व्रत, प्रत्याख्यान, सदाचार-पालन आदि अनुष्ठान अपेक्षा-भेद से विष, गर, अननुष्ठान, तद्धेतु तथा अमृत—यों सामान्यतः पाँच प्रकार के होते हैं। योगियों ने ऐसा बतलाया है।

[ १५६ ]

विषं लब्ध्याद्यपेक्षात् इदं सच्चित्तमारणात् ।

महत्तोऽल्पार्थनाज्ज्ञेयं लघुत्वपादनात्तथा ॥

जिस अनुष्ठान के पीछे लब्धि—यौगिक विभूति—चामत्करिक शक्ति प्राप्त करने का भाव रहता है, वह विष कहा गया है, क्योंकि वह चित्त की पवित्रता को मार डालता है—समाप्त कर देता है। महान् कार्य को अल्प प्रयोजनवश तुच्छ बना देता है तथा साधक में लघुत्व—छोटापन ला देता है।

[ १५७ ]

दिव्यभोगाभिलाषेण गरमाहुर्मनीषिणः ।

एतद् त्रिहितनीत्यैव कालान्तरनिपातनात् ॥

जिस अनुष्ठान के साथ दैविक भोगों की अभिलाषा जुड़ी रहती है, उसे मनीषी जन गर (शनैः शनैः मारने वाला विष) कहते हैं। भौगिक वासना के कारण कालान्तर एवं भवान्तर में वह आत्मा के दुःख और अधः-पतन का कारण होता है।

[ १५८ ]

अनाभोगवतश्चैतदननुष्ठानमुच्यते ।  
संप्रमुग्धं मनोऽस्येति ततश्चैतद् यथोदितम् ॥

जिसका मन संप्रमुग्ध, वस्तु-तत्त्व का निश्चय कर पाने में असमर्थ होता है, ऐसे व्यक्ति द्वारा अनाभोग—उपयोग बिना—गतानुगतिक रूप में जो क्रिया की जाती है, वह अननुष्ठान है। अर्थात् वह किया हुआ भी न किया जैसा है।

सदनुष्ठान —

[ १५९ ]

एतद्रागादिकं हेतुः श्रेष्ठो योगविदो विदुः ।  
सदनुष्ठानभावस्य शुभभावांशयोगतः ॥

पूजा, सेवा, व्रत आदि के प्रति जहाँ साधक के मन में राग—अनु-रक्तता बनी रहती है, उससे प्रेरित हो, वह सदनुष्ठान करता है, योगवेत्ता जानते हैं, बताते हैं, वह योग का उत्तम हेतु है, क्योंकि उसमें शुभ भाव का अंश विद्यमान है। वह तद्धेतु कहा जाता है।

[ १६० ]

जिनोदितमिति त्वाहूर्भाविसारमदः पुनः ।  
संवेगगर्भमत्यन्तममृतं मुनिपुङ्गवाः ॥

जिस अनुष्ठान के साथ साधक के मन में मोक्षोन्मुख आत्म-भाव तथा भव-वैराग्य की अनुभूति जुड़ी रहती है और साधक यह आस्था लिये रहता है कि यह अर्हत्-प्रतिपादित है, उसे मुनिजन अमृत कहते हैं।

[ १६१ ]

एवं च कर्तृभेदेन चरमेऽन्यादृशं स्थितम् ।  
पुद्गलानां परावर्ते गुरुदेवादिपूजनम् ॥

अन्तिम पुद्गलावर्त में गुरुपूजा, देवपूजा, आदि जो अनुष्ठान किये जाते हैं, वे तथा अन्तिम पुद्गलावर्त से पूर्ववर्ती आवर्तों में किये जाते हैं,

वे परस्पर भिन्न होते हैं। दोनों के अनुष्ठाताओं में मूलतः भेद होता है। एक अत्यन्त संसारासक्त होता है, दूसरा संसार में रहते हुए भी विशेषतः धर्मोन्मुख। अतएव उनके अनुष्ठान में भेद होना स्वाभाविक ही है।

[ १६२ ]

यतो विशिष्टः कर्ताऽयं तदन्येभ्यो नियोगतः ।  
तद्योगयोग्यताभेदादिति सम्यग्विचिन्त्यताम् ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित अनुष्ठाता योगाराधना में अपनी विशिष्ट योग्यता के कारण औरों से—जो अन्तिम से पूर्ववर्ती परावर्तों में विद्यमान होते हैं, भिन्न होता है, इस पर भली-भाँति चिन्तन करें।

[ १६३ ]

चतुर्थमेतत् प्रायेण ज्ञेयमस्य महात्मनः ।  
सहजाल्पमलत्वं तु युवितरत्र पुरोदिता ॥

उस (चरम पुद्गलावर्तवर्ती) सत्पुरुष के सहज रूप में कर्म-मल की अल्पता होती है, ऐसा पहले उल्लेख किया गया है। वह ऊपर वर्णित भेदों में चौथे भेद—तद्धेतु में आता है।

बन्ध-विचार—

[ १६४ ]

सहजं तु मलं विद्यात् कर्मसम्बन्धयोग्यताम् ।  
आत्मनोऽनादिमत्त्वेऽपि नायमेनां विना यतः ॥

कर्मों को आकृष्ट करना संसारावस्थ आत्मा का स्वभाव है। आत्मा अनादि है, इसलिए प्रवाह-रूप से आत्मा तथा कर्म का सम्बन्ध भी अनादि है। बांधना तथा बद्ध होना आत्मा एवं कर्म की योग्यताएँ हैं।

[ १६५ ]

अनादिमानपि ह्येष बन्धत्वं नातिवर्तते ।  
योग्यतामन्तरेणापि भावेऽस्यातिप्रसंगता ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि होते हुए भी है तो बन्ध या परस्पर-बद्धता ही, जिसका क्रम निरन्तर चलता रहता है। योग्यता के बिना ऐसा होने में अतिप्रसंग दोष आता है।

[ १६६ ]

एवं चानादिमान् मुक्तो योग्यताविकलोऽपि हि ।

बध्येत कर्मणा न्यायात् तदन्यामुक्तवृन्दवत् ॥

यदि आत्मा में कर्म-बन्ध की योग्यता न मानी जाए तो वह जीव भी, जो अनादिकाल से मुक्त है—ईश्वर रूप में है, संसारस्थ बद्ध आत्माओं की तरह कर्मबद्ध होगा क्योंकि इस मत के अनुसार जब योग्यता के न होने पर भी संसारी आत्माओं के कर्म-बन्ध होता है तो फिर मुक्त आत्माओं के कर्म-बन्ध क्यों नहीं होगा।

[ १६७ ]

तदन्यकर्मविरहान्न चेत् तद्बन्ध इष्यते ।

तुल्ये तद्योग्यताऽभावे न तु किं तेन चिन्त्यताम् ॥

यों कहा जाना चाहिए कि सदा से मुक्त जीव कर्म-बन्ध में नहीं आता, क्योंकि वह पहले कभी कर्म-बन्ध में नहीं आया, तब तक लागू नहीं होता, जब तक बद्ध आत्मा पर भी इसे लागू न किया जाए क्योंकि आत्मत्व की दृष्टि से मूल रूप में जो भी सिद्धान्त निर्मित होता है वह आत्मा, मात्र पर घटित होना चाहिए।

[ १६८ ]

तस्मादवश्यमेष्टव्या स्वाभाविक्येव योग्यता ।

तस्यानादिमती सा च मलनान्मल उच्यते ॥

अतः जीव में अनादिकाल से कर्म बाँधने की स्वाभाविक योग्यता है, ऐसा मानना चाहिए। वह जीव कर्म का मलन—नाश करने की क्षमता लिए हुए है, इसलिए उसकी संज्ञा 'मल' भी है।

[ १६६ ]

दिदृक्षा भवबीजादिशब्दवाच्या तथा तथा ।  
इष्टा चान्यैरपि ह्येषा मुक्तिमार्गावलम्बिभिः ॥

मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन करने वालों—उस ओर गतिशील विभिन्न ज्ञानी जनों ने इस योग्यता को दिदृक्षा, भवबीज आदि शब्दों से अनेक रूप में आख्यात किया है ।

† टीकाकार के अनुसार सांख्यमतानुयायी इस योग्यता को 'दिदृक्षा' कहते हैं तथा शैव इसे 'भवबीज' के नाम से अभिहित करते हैं ।

अध्यात्म-जागरण —

[ १७० ]

एवं चापगमोऽप्यस्याः प्रत्यावर्तं सुनीतितः ।  
स्थित एव तदल्पत्वे भावशुद्धरपि ध्रुवा ॥

प्रत्येक पुद्गलावर्त में जीव की कर्म-बन्ध की योग्यता उत्तरोत्तर कम होती जाती है । यों योग्यता के अल्प या मन्द हो जाने पर निश्चित रूप में भावों की शुद्धि उत्पन्न होती है ।

[ १७१ ]

ततः शुभमनुष्ठानं सर्वमेव हि देहिनाम् ।  
विनिवृत्ताग्रहत्वेन तथाबन्धेऽपि तत्त्वतः ॥

उसके फलस्वरूप प्राणियों के जीवन में शुभ अनुष्ठान क्रियान्वित होने लगता है । उनका दुराग्रह हट जाता है । इसका कर्मबन्ध पर भी प्रभाव होता है । अर्थात् वह हलका होने लगता है ।

[ १७२ ]

नात एवाणवस्तस्य प्राग्वत् संक्लेशहेतवः ।  
तथाऽन्तस्तत्त्वसंशुद्धेरुदग्रशुभभावतः ॥

अन्तर्मन की संशुद्धि तथा तीव्र शुभ भाव के कारण तब कर्म पुद्गल मनुष्य के लिए पहले की तरह क्लेशकारक नहीं बनते ।



[ १७३ ]

सत्साधकस्य चरमा समयाऽपि विभीषिका ।  
न खेदाय यथाऽन्त्यन्तं तद्वदेतद् विभाव्यताम् ॥

उत्तम मन्त्र-साधक को अपने मन्त्र-विशेष के अनुष्ठान की साधना के अन्त में (भूत, वैताल आदि के) भीषण दृश्य दिखाई देते हैं पर वह उनसे विशेष खिन्न नहीं होता। वैसी ही स्थिति अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान जीव की होती है। जो भी विघ्न, उपसर्ग आदि उसके जीवन में आते हैं, वह उनसे घबराता नहीं। यह तो उसकी साधना की एक कसौटी है।

[ १७४ ]

सिद्धे रासन्नभावेन यः प्रमोदो विजृम्भते ।  
चेतस्यस्य कुतस्तेन खेदोऽपि लभतेऽन्तरम् ॥

जब सिद्धि प्रकट होने का समय समीप होता है, तब साधक के चित्त में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हो जाता है। उसके मन में फिर खेद कहाँ से हो।

[ १७५ ]

न चायं महतोऽर्थस्य सिद्धिरात्यन्तिकी न च ।  
मुक्तिः पुनर्द्वयोपेता सत्प्रमोदास्पदं ततः ॥

मन्त्र-विद्या आदि की साधना से प्राप्त होने वाली सिद्धि कोई बहुत बड़ा प्रयोजन सिद्ध नहीं करती। न वह स्थायी रूप में साधक के पास टिकती ही है। मोक्ष के रूप में जो आध्यात्मिक सिद्धि प्राप्त होती है, उसमें ये दोनों विशेषताएँ रहती हैं। जीवन का चरम साध्य उससे सधता है। वह शाश्वत होती है—सदा स्थिर रहती है, साथ ही साथ विशुद्ध—पर-पदार्थ-निरपेक्ष आनन्द से आपूर्ण होती है।

[ १७६ ]

आसन्ना च्येमस्योच्चैश्चरमारवर्तिनो यतः ।  
भूयासोऽमी व्यतिक्रान्तास्तदेकोऽत्र न किञ्चन ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में विद्यमान पुरुष के मुक्ति आसन्न—समीप-वर्तिनी होती है। संसार में वह अनेक पुद्गल-परावर्तों में से गुजरा है, अनेक भवों में बहुविध कष्ट झेले हैं, तब इस अन्तिम एक पुद्गल-परावर्त को व्यतीत करना कोई भारी बात नहीं है।

[ १७७ ]

अत एव च योगज्ञैरपुनर्बन्धकादयः ।

भावसारा विनिर्दिष्टास्तथापेक्षादिर्वाजिताः ॥

अपुनर्बन्धक, सम्यक्दृष्टि तथा चारित्री भावसार—उत्तम भाव युक्त एवं अपेक्षावर्जित—फलासक्तिरहित होते हैं, ऐसा योगवेत्ताओं ने बतलाया है।

अपुनर्बन्धक : स्वरूप—

[ १७८ ]

भवाभिनन्दिदोषाणां प्रतिपक्षगुणैर्युतः ।

वर्धमानगुणप्रायो अपुनर्बन्धको मतः ॥

जो भवाभिनन्दी जीव में पाये जाने वाले दोषों के प्रतिकूल गुणों से युक्त होता है, अभ्यास द्वारा उत्तरोत्तर गुणों का विकास करता जाता है, वह अपुनर्बन्धक होता है।

[ १७९ ]

अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात् पूर्वसेवा यथोदिता ।

कल्याणाशययोगेन शेषस्याप्युपचारतः ॥

पूर्वसेवा, जो पहले वर्णित की गई है, अपुनर्बन्धक जीवों में मुख्य रूप से घटित होती है। वे उसका विशेष रूप से परिपालन करते हैं। क्योंकि उनके आत्म-परिणामों में पवित्रता का भाव होता है। इसके अतिरिक्त दूसरों की—पुनर्बन्धक जीवों की पूर्वसेवा, जिसका इतर परंपराओं में प्रतिपादन हुआ है, मात्र औपचारिक है।

[ १८० ]

कृतश्चास्या उपन्यासः शेषापेक्षोऽपि कार्यतः ।

नासन्नोऽप्यस्य बाहुल्यादन्यथैतत्प्रदर्शकः ॥

शेष—अपुनर्बन्धक जीवों के अतिरिक्त—पुनर्बन्धक जीवों की दृष्टि से भी पूर्वसेवा का उल्लेख किया गया है । क्योंकि वह औपचारिक पूर्वसेवा उन्हें वास्तविक पूर्वसेवा तक पहुँचाने में कारण बनती है । जो पुरुष अपुनर्बन्धकावस्था के सन्निकटवर्ती है, वह प्रायः इसके—पूर्वसेवा के रूप में निरूपित आचार के विपरीत नहीं चलता । वैसा शालीन आचार उसका होता ही है ।

[ १८१ ]

शुद्ध्यल्लोके यथा रत्नं जात्यं काञ्चनमेव वा ।

गुणैः संयुज्यते चित्रैस्तद्वदात्माऽपि दृश्यताम् ॥

लोक में जैसे शुद्ध किया जाता—सम्माजित—संशोधित या परिष्कृत किया जाता उच्च जाति का रत्न या स्वर्ण विभिन्न गुणों से समायुक्त हो जाता है, शोधन तथा परिष्कार से उसमें अनेक विशेषताएँ आ जाती हैं, उसी प्रकार जीव भी अन्तःशोधन के क्रम में सद्गुणानुष्ठान द्वारा अनेक उच्च गुणसंयुक्त हो जाता है । इस पर चिन्तन-पर्यालोचन करें ।

[ १८२ ]

तत्प्रकृत्यैव शेषस्य केचिदेनां प्रचक्षते ।

आलोचनाद्यभावेन तथाभोगसङ्गताम् ॥

कइयों का यह कथन है—अपुनर्बन्धक के अतिरिक्त अन्यो का पूर्वसेवारूप अनुष्ठान एक ऐसा उपक्रम है, जो आलोचन—विमर्श या स्वावलोकन रहित तथा उपयोगशून्य है ।

[ १८३ ]

युज्यते चैतदप्येवं तोत्रे मलविषे न यत् ।

तदावेगो भवासङ्गस्तस्योच्चैर्विनिवर्तते ॥

एक अपेक्षा से यह ठीक ही है, जब तक कर्म-मलरूपी तीव्र विष

आत्मा में व्याप्त रहता है, तब तक उसके दूषित प्रभाव के कारण सांसारिक आसक्ति तथा उस ओर आवेग—प्रगाढ़ तीव्रता बनी रहती है, मिटती नहीं।

[ १८४ ]

संक्लेशायोगतो भूयः कल्याणाङ्गतया च यत् ।  
तात्त्विकी प्रकृतिर्ज्ञेया तदन्या तूपचारतः ॥

जब मनुष्य की प्रकृति में संक्लेशाययोग—आत्मोन्मुख क्रिया में विघ्नो का अयोग हो जाता है—विघ्न दूर हो जाते हैं, कल्याण—श्रेयस् प्रमुखरूप में व्याप्त हो जाता है, तब वह (प्रकृति) तात्त्विक—यथार्थ अथवा योगान्त-भूत होती है, यह जानना चाहिए। उससे भिन्न प्रकृति औपचारिक कही जाती है।

[ १८५ ]

एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु व्यवहारः प्रवर्तते ।  
ततश्चाधिकृतं वस्तु नान्यथेति स्थितं ह्यदः ॥

प्रकृति का आधार लेकर शास्त्र-व्यवहार प्रवृत्त होता है—उसके आधार पर शास्त्रों में एतत्सम्बन्धी विवेचन-विश्लेषण चलता है। अतः शास्त्र द्वारा अधिकृत—स्वीकृत, प्रतिपादित तथ्य निश्चय ही निरर्थक नहीं है। उसकी अपनी सार्थकता है।

[ १८६ ]

शान्तोदात्तत्वमत्रैव शुद्धानुष्ठानसाधनम् ।  
सूक्ष्मभावोहसंयुक्तं तत्त्वसंबेदनानुगम् ॥

अपुनर्बन्धक-स्थिति में शान्त, उदात्त—भावोन्नत, सूक्ष्म ऊहापोह सहित तथा वस्तु के यथार्थ स्वरूप की अनुभूतियुक्त शुद्ध अनुष्ठान क्रियान्वित होता है।

[ १८७ ]

शान्तोदात्तः प्रकृत्येह शुभभावाश्रयो मतः ।  
धन्यो भोगसुखस्येव वित्ताढ्यो रूपवान् युवा ॥

जैसे एक धनी, सुन्दर, युवा पुरुष सांसारिक भोग भोगने में भाग्य-

शाली होता है, उसी प्रकार जो प्रकृति से शान्त एवं उदात्त होता है, वह शुभ भाव स्वायत्त करने का सौभाग्य लिये रहता है। वह आनन्द पुण्यात्मक शुभ अनुष्ठान में संलग्न रहता है।

[ १८८ ]

अनीदृशस्य च यथा न भोगसुखमुत्तमम् ।  
अशान्तादेस्तथा शुद्धं नानुष्ठानं कदाचन ॥

जो पुरुष धनाढ्य, सुन्दर एवं युवा नहीं है, वह उत्तम भोगों का आनन्द नहीं ले सकता। उसी तरह जो व्यक्ति अशान्त तथा निम्न है, वह शुद्ध क्रियानुष्ठान—धर्मानुसंगत श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता।

[ १८९ ]

मिथ्याविकल्परूपं तु द्वयोर्द्वयमपि स्थितम् ।  
स्वबुद्धिकल्पनाशिल्पिनिर्मितं न तु तत्त्वतः ॥

दोनों का—भोगोन्मुख तथा साधनोन्मुख पुरुष का, जो अपेक्षित योग्यताओं से रहित है, यह सोचना कि वे अपना अभीप्सित प्राप्त कर लेंगे, अपनी बौद्धिक कल्पना के शिल्पी द्वारा बनाया गया मिथ्याविकल्पात्मक प्रासाद है, जो तत्त्वतः कुछ नहीं है, मात्र विडम्बना है।

[ १९० ]

भोगाङ्गशक्तिवैकल्यं दरिद्रायौवनस्थयोः ।  
सुरूपरागाशङ्के च कुरूपस्य स्वयोषिति ॥

जिसके भोगोपयोगी अंग शक्तिशून्य हैं, जो निर्धन, यौवनरहित तथा कुरूप है, वह अपनी सुन्दर स्त्री में रागासक्त होता हुआ भी उसके सम्बन्ध में मन में आर्शंका लिये रहता है। सांसारिक सुख से वह सर्वथा वञ्चित होता है।

यही स्थिति उस पुरुष के साथ है, जो साधना के सन्दर्भ में सब प्रकार से अयोग्य है। वह साधना का आनन्द कहाँ से पाए?

[ १६१ ]

अभिमानसुखाभावे तथा क्लिष्टान्तरात्मनः ।  
अपायशक्तियोगाच्च न हीत्थं भोगिनः सुखम् ॥

धन, यौवन तथा सौन्दर्य हीन पुरुष भोग-सुख न पा सकने के कारण भीतर ही भीतर अत्यन्त क्लेश पाता है। सुख तो उसे नाम मात्र का भी नहीं।

[ १६२ ]

अतोऽन्यस्य तु धन्यादेरिदमत्यन्तमुत्तमम् ।  
यथा तथैव शान्तादेः शुद्धानुष्ठानमित्यपि ॥

भोगसम्पन्न पुरुष के भोगमय सुख की अपेक्षा शान्त, उदात्त प्रकृति युक्त भव्य पुरुष का शुद्ध—अध्यात्मोन्मुख अनुष्ठान अत्यन्त श्रेष्ठ है। उसी में वास्तविक सुख है।

[ १६३ ]

क्रोधाद्यबाधितः शान्त उदात्तस्तु महाशयः ।  
शुभानुबन्धिपुण्याच्च विशिष्टमतिसङ्गतः ॥

आत्मसंयत पुरुष क्रोध आदि से बाधित नहीं होता—क्रोध के वशी-भूत नहीं होता। वह शान्त, उदात्त एवं पवित्र आशय—अन्तर्भाविलिये रहता है। वह पुण्यात्मक शुभ कार्यों में लगा रहता है। अतः उसे विशिष्ट-सौम्यता, सौजन्य, औदार्य आदि विशिष्ट गुणयुक्त बुद्धि प्राप्त रहती है।

[ १६४ ]

ऊहतेऽयमतः प्रायो भवबीजादिगोचरम् ।  
कान्तादिगतगेयादि तथा भोगीव सुन्दरम् ॥

भोगासक्त पुरुष रूपवती स्त्री द्वारा गाये जाते सुन्दर गीत आदि पर अत्यन्त रीझा रहता है—उसमें पगा रहता है, उसी प्रकार अपुनर्बन्धक जीव भव-बीज—संसार में आवागमन—जन्म-मरण के चक्र के मूल कारण क्या है, उनसे छुटकारा कैसे हो, इत्यादि विषयों पर तल्लीनतापूर्वक चिन्तन-विमर्श में खोया रहता है।

[ १६५ ]

प्रकृतेर्भेदयोगेन नासमो नाम आत्मनः ।  
हेत्वभेदादिवं चारु न्यायमुद्रानुसारतः ॥

प्रकृति के भेद या भिन्नता से आत्मा में मूलतः भिन्नता—असमानता नहीं आती। वास्तव में आत्मस्वरूप सर्वथा अभिन्न है, जो न्याय-युक्ति द्वारा भली भाँति सिद्ध है।

[ १६६ ]

एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा तथा तथा ।  
भवे भवेदतः सर्वप्राप्तिरस्याविरोधिनी ॥

आत्मा, प्रकृति आदि सबका अपने-अपने स्वभावानुरूप परिणमन होता रहता है। प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण आत्मा को संसारावस्था में अनेक प्रकार की स्थितियाँ—जन्म, मरण, शरीर, रूप, सुख, दुःख, उन्नति, अवनति आदि प्राप्त होती हैं। ऐसा होने में कोई विरोध नहीं आता।

[ १६७ ]

सांसिद्धिकमलाद् यद् वा न हेतोरस्ति सिद्धता ।  
तद् भिन्नं यदभेदेऽपि तत्कालादिविभेदतः ॥

आत्मा के साथ अनादिकाल से चले आते कर्म-संस्कार के कारण वह (आत्मा) मूलतः अभिन्न—सर्वथा सदृश होते हुए भी भिन्नता—विविध-रूपात्मकता में परिदृश्यमान है।

[ १६८ ]

विरोधिन्यपि चैवं स्यात् तथा लोकेऽपि दृश्यते ।  
स्वरूपेतरहेतुभ्यां भेदादेः फलचित्रता ॥

जैनेतर मत में भी ऐसा स्वीकृत है तथा लोक में भी ऐसा दृष्टि-गोचर होता है। वस्तुओं में जो भिन्नता दिखाई देती है, वह उनके अपने-अपने स्वरूप तथा उससे सम्बद्ध अन्य कारणों पर आधृत है।

[ १६९ ]

एवमूहप्रधानस्य प्रायो मार्गानुसारिणः ।  
एतद्वियोगविषयोऽप्येष सम्यक् प्रवर्तते ॥

एतद्विषयक ऊहापोह—चिन्तन-विमर्श में अभिरत, योगमार्गानुगामी साधक प्रकृति और पुरुष (आत्मा) के वियोग—आत्मा की कर्म-बन्धन से मुक्ति के पथ पर गतिशील रहता है।

[ २००-२०२ ]

एवं लक्षणयुक्तस्य प्रारम्भादेव चापरैः ।  
 योग उक्तोऽस्य विद्वद्भिर्गोपेन्द्रेण यथोदितम् ॥  
 'योजनाद् योग इत्युक्तो मोक्षेण मुनिसत्तमैः ।  
 सनिवृत्ताधिकारायां प्रकृतौ लेशतो ध्रुवः ॥  
 वेलावलनवन्नद्यास्तदापुरोपसंहृतेः ।  
 प्रतिस्त्रोतोऽनुगतत्वेन प्रत्यहं वृद्धिसंयुतः ॥

एतद्रूप लक्षणयुक्त पुरुष के प्रारंभ से—'पूर्वसेवा' से लेकर उत्तरवर्ती सभी क्रियानुष्ठान योग के अन्तर्गत हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुषों ने कहा है। इस सम्बन्ध में आचार्य गोपेन्द्र का प्रतिपादन है—

यह आत्मा का मोक्ष से योजना करता है, उसे मोक्ष से जोड़ता है इसलिए मुनिवरों ने इसे योग कहा है। योग का शाब्दिक अर्थ जोड़ना है।

ज्यों ज्यों प्रकृति निवृत्ताधिकार होती जाती है—पुरुष पर से उसका अधिकार अपगत होता जाता है, योग जीवन में क्रियान्वित होता है।

जब तूफानी बाढ़ निकल जाती है तो नदी का बढ़ाव रुक जाता है। जो नदी बाढ़ के कारण आगे से बढ़ती जा रही थी, अनुस्रोतगामिनी हो रही थी, वह वापस सिमटने लगती है—उलटी अपनी ओर सिकुड़ती जाती है, प्रतिस्त्रोतगामिनी हो जाती है। उसी प्रकार जीव जब प्रतिस्त्रोतगामी—लोकप्रतिकूल अध्यात्मोन्मुख हो जाता है, अपने में समाने लगता है तो उसकी अनुस्रोतगामिता—लोकप्रवाह या सांसारिक विषय-वासना की धारा के साथ बहते जाने का क्रम रुक जाता है।

भिन्नग्रन्थि—

[ २०३ ]

भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो मोक्षे चित्तं भवे तनुः ।  
 तस्य तत्सर्व एवेह योगो योगो हि भावतः ॥



जिसकी अज्ञान-जनित मोहरागात्मक ग्रन्थि भिन्न हो जाती है, खुल जाती है, ऐसे सत्पुरुष का चित्त मोक्ष में रहता है और देह संसार में। उसके जीवन की समग्र क्रिया-प्रक्रिया योग में समाविष्ट है।

[ २०४ ]

नार्या यथान्यसक्तायास्तत्र भावे सदा स्थिते ।

तद्योगः पापबन्धश्च तथा मोक्षेऽस्य दृश्यताम् ॥

जो स्त्री पर-पुरुष में आसक्त होती है, सदा उसी के चिन्तन में अनुरक्त रहती है, वह प्रसंगवश कभी पति की सेवा करती हो या अपने परपुरुष की सेवा करती हो, उसके सभी कार्यों में पाप-बन्ध होता है क्योंकि उसका जीवन पापमय है।

इस उदाहरण से भिन्नग्रन्थि की स्थिति समझनी चाहिए। भिन्न-ग्रन्थि का जीवन-रस अध्यात्मय होता है अतः वह जो भी क्रिया करता है, बाहरी रूप पर न जाएँ, मूलतः वह अध्यात्म-विमुख नहीं होती। अत एव भिन्नग्रन्थि की सभी क्रियाएँ योग-व्याप्त कही गई हैं। इसे हृदयंगम करना चाहिए।

[ २०५ ]

न चेह ग्रन्थिभेदेन पश्यतो भावमुत्तमम् ।

इतरेणाकुलस्यापि तत्र चित्तं न जायते ॥

ग्रन्थि-भेद हो जाने पर साधक की दृष्टि उत्तम भावमय—मोक्षानु-गामी मोड़ ले लेती है। अपने दैनन्दिन कार्यों में लगे रहने पर भी उसका चित्त मोक्ष पर टिका रहता है। वह कर्तव्यवश लौकिक कार्य करती है पर उनमें वह रस नहीं लेता।

[ २०६ ]

चारु चैतद् यतो ह्यस्य तथोहः संप्रवर्तते ।

एतद्वियोगविषयः शुद्धानुष्ठानभाक् स यत् ॥

भिन्नग्रन्थि पुरुष अपनी दृष्टि मोक्ष पर स्थिर किये रहता है, यह बहुत सुन्दर है। एक ओर उसका संसार के बन्धन से आत्मा के छूटने के सम्बन्ध में चिन्तन चलता है तथा दूसरी ओर शुद्ध धर्मानुष्ठान में वह तत्पर रहता है।

[ २०७ ]

प्रकृतेरायतश्चैव                      नाप्रवृत्त्यादिधर्मताम् ।  
तथा विहाय घटत                      ऊहोऽस्य विमलं मनः ॥

जब तक प्रकृति वर्तनशील रहती है, तब तक अप्रवृत्ति—निवृत्ति—संयममूलक धर्म जीवन में घटित नहीं होता। जैसे जैसे प्रकृति का पुरुष से—आत्मा से वियोग घटित होता जाता है, वैसे-वैसे मन निर्मल होता जाता है, तदनुरूप चिन्तन-विमर्श गति पकड़ता है।

[ २०८ ]

सति चाश्मिन्                      स्फुरद्वत्नकल्पे सत्त्वोल्बणत्वतः ।  
भावस्तैमित्यतः                      शुद्धमनुष्ठानं सदैव हि ॥

भावात्मक स्थिरता के कारण तब देदीप्यमान रत्न की तरह अन्त-रात्मा में सत्त्वसम्पृक्त ज्योतिर्मय चिन्तन उद्भासित होता है, मन प्रशान्त हो जाता है। साधक के जीवन में सदा शुद्ध अनुष्ठान विलसित होता है।

[ २०९ ]

एतच्च योगहेतुत्वाद्                      योग इत्युचितं वचः ।  
मुख्यायां                      पूर्वसेवायामवतारोऽस्य केवलम् ॥

योग का हेतु होने से तदनुरूप अनुष्ठान को भी योग कहना उचित ही है। भिन्नग्रन्थि द्वारा आचरित मुख्य—तात्त्विक पूर्वसेवा के अवसर पर यह प्रकट होता है।

त्रिधा शुद्ध अनुष्ठान—

[ २१० ]

त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं                      सच्छास्त्रपरतन्त्रता ।  
सम्यक्प्रत्ययवृत्तिश्च                      तथाऽत्रैव प्रचक्षते ॥

त्रिविध शुद्ध अनुष्ठान, सत् शास्त्रों की आज्ञा के अनुरूप वर्तन, शास्त्रों में सम्यक् श्रद्धा, दृढ़ विश्वास—ये योग में सहकारी हैं।

[ २११ ]

विषयात्मानुबन्धस्तु                      त्रिधा शुद्धमुदाहृतम् ।  
अनुष्ठानं प्रधानत्वं                      ज्ञेयमस्य यथोत्तरम् ॥

शुद्ध विषय—शुद्ध लक्ष्य, शुद्ध उपक्रम तथा अनुबन्ध—निरवरोध रूप में आगे चलती शृंखला—यों तीन प्रकार से अनुष्ठान शुद्ध हो, यह अपेक्षित है। तीनों उत्तरोत्तर उत्कृष्ट—एक दूसरे से आगे से आगे उत्तम कहे गये हैं।

[ २१२ ]

आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं क्रियते पतनाद्यपि ।

तदेव मुक्त्युपादेयलेशभावाच्छुभं मतम् ॥

मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिये पहाड़ की चोटी से गिरना आदि प्रथम भेद में आते हैं। क्योंकि गिरने वाले ने यत्किञ्चित् रूप में मोक्ष की उपादेयता स्वीकार की है, मोक्ष के अस्तित्व तथा वाञ्छनीयता में विश्वास प्रकट किया है।

[ २१३ ]

द्वितीयं तु यमाद्येव लोकदृष्ट्या व्यवस्थितम् ।

न यथाशास्त्रमेवेह सम्यग्ज्ञानाद्ययोगतः ॥

दूसरे अनुष्ठान में लौकिक दृष्टि से अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह रूप यम आदि के व्यवस्थित पालन का समावेश होता है। पर, सम्यक्ज्ञान आदि के न होने से वह यथावत् रूप में शास्त्र-सम्मत नहीं होता।

[ २१४ ]

तृतीयमप्यदः किन्तु तत्त्वसंवेदानुगम् ।

प्रशान्तवृत्त्या सर्वत्र दृढमौत्सुक्यवर्जितम् ॥

तीसरे अनुष्ठान में दूसरे में उक्त यम आदि का परिपालन तत्त्व-संवेदन—तत्त्व-ज्ञानपूर्वक होता है। अर्थात् वहाँ स्थित साधक की यह विशेषता होती है कि उसे तत्त्व-बोध प्राप्त रहता है। उसकी वृत्ति में प्रशान्त भाव रहता है। किन्तु उसके साधनाभ्यास में दृढ़—तीव्र स्थिर उत्सुकता नहीं होती।

[ २१५ ]

आद्यान्न दोषविगमस्तमोबाहुल्ययोगतः ।

तद्योगजन्मसन्धानमत एके प्रचक्षते ॥

पहले अनुष्ठान में अज्ञानरूप अन्धकार की अधिकता के कारण दोष-विगम—मोक्ष में बाधक दोषों का अपाकरण या नाश नहीं होता ।

कई आचार्यों का अभिमत है कि वैसा करने वाले को अगले जन्म में ऐसी स्थितियाँ प्राप्त होती हैं, जिससे वह मोक्ष से दूर ले जाने वाले कारणों को मिटा पाने में सक्षम होता है । फलतः योगाभ्यास में संप्रवृत्त होता है ।

ग्रन्थकार का यहाँ यह अभिप्राय है कि पर्वत के शिखर से गिरने आदि के रूप में जो आत्मघात किया जाता है, उससे वास्तव में मोक्ष-सिद्धि नहीं होती । उससे वे स्थितियाँ अपगत नहीं होतीं, जिनके कारण मोक्ष-प्राप्ति बाधित होती है । क्योंकि वह उपक्रम अत्यधिक अज्ञान-प्रसूत होता है । मात्र इसलिए उसे शुभ अनुष्ठान में लिया गया है कि ऐसा करने वाले के मन में मोक्ष-प्राप्ति की अभिलाषा रहती है ।

[ २१६ ]

मुक्ताविच्छापि यच्छ्लाघ्या तमःक्षयकरी मता ।  
तस्याः समन्तभद्रत्वादनिदर्शनमित्यदः ॥

मोक्ष की इच्छा होना भी प्रशंसनीय है । ऐसा माना गया है, उससे अज्ञानरूप अन्धकार का नाश होता है । इतना तो है, किन्तु मोक्ष तो सर्वथा कल्याणमय—सम्पूर्णतः शुद्धावस्थापन्न है, अतः प्रथम कोटि (गिरि-पतन-आदि) में आने वाले अनुष्ठान उसके साक्षात् हेतु नहीं होते ।

[ २१७ ]

द्वितीयाद् दोषविगमो न त्वेकान्तानुबन्धनात् ।  
गुरुलाघवचिन्तादि न यत् तत्र नियोगतः ॥

दूसरी कोटि के अनुष्ठान में मोटे रूप में दोषों का अपगम तो होता है पर एकान्ततः दोषापगम का क्रम नहीं चलता—पूरी तरह दोष नहीं मिटते । क्या गुरु—बड़ा या ऊँचा है, क्या लघु—छोटा या हलका है, वह अपने क्रिया-कलाप में ऐसा कुछ भेद नहीं कर पाता ।

[ २१८ ]

अत एवेदमार्याणां बाह्यमन्तर्मलीमसम् ।  
कुराजपुरसच्छालयत्नकल्पं व्यवस्थितम् ॥

आर्य—उत्तम पुरुष इस कोटि के अनुष्ठान को बाह्य समझते हैं, उसे अन्तर्मल युक्त मानते हैं। देखने में वह चाहे सुन्दर प्रतीत हो पर है मात्र बाहरी। क्योंकि वैसा करने वालों के हृदय में अन्तःकालुष्य विद्यमान रहता है। वह किसी दुष्ट राजा द्वारा शासित नगर के चारों ओर परकोटा बनाने के प्रयत्न जैसा है। जब दुष्ट राजा का शासन है तो नगर में बसने वाले लोग उसकी दुष्टता से उत्पीड़ित हैं ही, फिर परकोटे से कैसी रक्षा, कैसा बचाव ?

[ २१६ ]

तृतीयाद् दोषविगमः सानुबन्धो नियोगतः ।

गृहाद्यभूमिकापाततुल्यः केशिचदुदाहृतः ॥

तीसरी कोटि के अनुष्ठान से निश्चित रूप में दोषों का अपगम होता है। दोषापगम का सातत्य—शृंखला बनी रहती है। कतिपय विद्वानों ने इसे गृह की आद्य भूमिका—मकान की नींव के सदृश कहा है।

[ २२० ]

एतद्ध्युदग्रफलदं गुरुलाघवचिन्तया :

अतः प्रवृत्तिः सर्वैव सदैव हि महोदया ॥

गुरु, लघु—उच्च, अनुच्च के सन्दर्भ में सम्यक् चिन्तन युक्त होने के कारण यह (तीसरा) अनुष्ठान अति उत्तम फलप्रद है। उसके अन्तर्गत निष्पन्न होने वाली समग्र क्रिया-प्रक्रिया साधक के लिए सदा महोदय—अत्यन्त अभ्युदय—समुन्नतिकारक होती है।

[ २२१ ]

परलोकविधौ शास्त्रात् प्रायो नान्यदपेक्षते ।

आसन्नभव्यो मतिमान् श्रद्धाधनसमन्वितः ॥

आसन्न-भव्य—निकट काल में मोक्षगामी, बुद्धिशील, श्रद्धारूप धन से युक्त पुरुष परलोक-सम्बन्धी विषयों में शास्त्र के अतिरिक्त और किसी का आधार नहीं लेता।

[ २२२ ]

उपदेशं विनाऽप्यर्थकामो प्रति पटुर्जनः ।  
धर्मस्तु न विना शास्त्रादिति तत्रादरो हितः ॥

अर्थ और काम—धन और सांसारिक भोग में मनुष्य विना उपदेश के भी निपुण होता है। किन्तु धर्म-ज्ञान शास्त्र विना नहीं होता। अतः शास्त्र के प्रति आदर रखना मनुष्य के लिए बड़ा हितकर है।

[ २२३ ]

अर्थादावविधानेऽपि तदभावः परं नृणाम् ।  
धर्मेऽविधानतोऽनर्थः क्रियोदाहरणात् परः ॥

यदि कोई अर्थोपार्जन का प्रयत्न न करे तो इतना ही होता है, उसके धन का अभाव रहेगा। पर, यदि धर्म के लिए वह प्रयत्न न करे तो आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिए बड़ा अनर्थ हो जाता है। औषधि-सेवन के उदाहरण से इसे समझना चाहिए। जैसे कोई रोगी यदि भली भाँति औषधि न ले तो उसका रोग बढ़ता जाता है, अन्ततः मारक भी सिद्ध हो सकता है। इसी प्रकार धर्माचरण न करने से होने वाला अनर्थ आत्म-स्वस्थता में, आत्मकल्याण या आत्माभ्युदय में बाधक होता है।

[ २२४ ]

तस्मात् सदैव धर्मार्थो शास्त्रयत्नः प्रशस्यते ।  
लोके मोहान्धकारेऽस्मिन् शास्त्रालोकः प्रवर्तकः ॥

इसलिए धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के हेतु जो शास्त्रानुशीलनरूप प्रयत्न किया जाता है, वह प्रशंसनीय है। मोह के अन्धकार से आच्छन्न जगत् में शास्त्रालोक—शास्त्राध्ययन से मिलने वाला प्रकाश मार्गदर्शक है।

[ २२५ ]

पापामयौषधं शास्त्रं शास्त्रं पुण्यनिबन्धनम् ।  
चक्षुः सर्वत्रगं शास्त्रं शास्त्रं सर्वार्थसाधनम् ॥

शास्त्र पाप रूपी रोग के लिए औषधि है। शास्त्र पुण्य-बन्ध का हेतु है—पुण्य कार्यों में प्रेरक है। शास्त्र सर्वत्र-गामी नेत्र है—शास्त्र द्वारा

सब प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है अर्थात् वह ज्ञानमय चक्षु है। शास्त्र सभी प्रयोजनों का साधक है।

[ २२६ ]

न यस्य भक्तिरेतस्मिंस्तस्य धर्मक्रियाऽपि हि ।  
अन्धप्रेक्षाक्रियातुल्या कर्मदोषादसत्फला ॥

जिसकी शास्त्र में भक्ति—श्रद्धा नहीं है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया भी कर्म-दोष के कारण उत्तम फल नहीं देती। वह अन्धे मनुष्य की प्रेक्षाक्रिया—देखने के उपक्रम जैसी है। अन्धा देखने का प्रयत्न करने पर भी कुछ देख नहीं पाता। यही स्थिति उस क्रिया की है। अन्धे के पास नेत्र नहीं है और शास्त्रभक्तिशून्य पुरुष के पास शास्त्र से प्राप्य ज्ञानचक्षु नहीं है। यों दोनों एक अपेक्षा से समान ही हैं।

[ २२७ ]

यः श्राद्धो मन्यते मान्यानहङ्कारविर्वर्जितः ।  
गुणरागी महाभागस्तस्य धर्मक्रिया परा ॥

जो श्रद्धावान्, गुणानुरागी, सौभाग्यशाली पुरुष सम्माननीय सत्पुरुषों का अहंकाररहित होकर सम्मान करता है, उस द्वारा आचरित धर्म-क्रिया अत्यन्त श्रेष्ठ होती है।

[ २२८ ]

यस्य त्वनादरः शास्त्रे तस्य श्रद्धादयो गुणाः ।  
उन्मत्तगुणतुल्यत्वान्न प्रशंसास्पदं सताम् ॥

जिसका शास्त्र के प्रति अनादर है, उसके श्रद्धा, व्रत, त्याग, प्रत्याख्यान आदि गुण एक पागल अथवा भूत-प्रेत आदि द्वारा ग्रस्त उन्मादी पुरुष के गुणों जैसे हैं। वे सत्पुरुषों द्वारा प्रशंसनीय नहीं हैं।

यद्यपि श्रद्धा आदि गुण अपने आप में बहुत अच्छे हैं पर जिस व्यक्ति रूप पात्र में वे टिके हों, वह यदि विकृत हो तो इन उत्तम गुणों का भी यथेष्ट लाभ मिल नहीं पाता। उन्मत्त पुरुष के साथ यही बात है और यही बात उस पुरुष के साथ है, जो नासमझी के कारण शास्त्र का अनादर करता है। यह भी तो एक प्रकार उन्माद ही है।

[ २२६ ]

मलिनस्य यथाऽत्यन्तं जलं वस्त्रस्य शोधनम् ।  
अन्तःकरणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधा ॥

जैसे मैला वस्त्र जल द्वारा धोये जाने पर अत्यन्त स्वच्छ हो जाता है, वैसे ही अन्तःकरण की स्वच्छता—शुद्धि शास्त्र द्वारा होती है, ऐसा ज्ञानी पुरुष मानते हैं ।

[ २३० ]

शास्त्रे भक्तिर्जगन्ध्वं मुक्तेर्दूतो परोदिता ।  
अत्रैवेयमतो न्याय्या तत्प्राप्त्यासन्नभावतः ॥

शास्त्र-भक्ति मानो मुक्ति की दूती है अर्थात् आत्मारूपी प्रेमी—आशिक तथा मुक्तिरूपी प्रेमिका—माशूका का मिलन कराने में—आत्मा को मुक्ति-संयुक्त कराने में वह सन्देशवाहिनी का कार्य करती है । मुक्ति का सन्देश आत्मा तक पहुँचाती है, जिससे आत्मा में मुक्ति को प्राप्त करने की उत्कण्ठा बढ़ती है ।

[ २३१ ]

तथात्मगुरुलिङ्गानि प्रत्ययस्त्रिविधो मतः ।  
सर्वत्र सदनुष्ठाने योगमार्गं विशेषतः ॥

आत्मा द्वारा—अन्तरावलोकन या आत्मानुभूति द्वारा, गुरु—द्रष्टा के उपदेश द्वारा, बाह्य चिन्ह, लक्षण या शकुन आदि द्वारा—यों तीन प्रकार से सदनुष्ठान में, विशेषरूप से योगमार्ग में प्रत्यय—प्रतीति या श्रद्धा होती है ।

[ २३२ ]

आत्मा तदभिलाषी स्याद् गुरुराह तदेव त ।  
तल्लिङ्गोपनिपातश्च सम्पूर्णं सिद्धिसाधनम् ॥

आत्मा में सदनुष्ठान का अनुसरण करने की अभिलाषा हो, गुरु वैसे ही उपदेश करते हों तथा बाहरी चिन्ह, शकुन आदि अनुकूल हों तो इनसे अनुष्ठान की परिपूर्ण सफलता का संकेत मिलता है ।



[ २३३ ]

सिद्ध्यन्तरस्य सद् बीजं या सा सिद्धिरिहोच्यते ।  
एकान्तिक्यन्यथा नैव पातशक्त्यनुबोधतः ॥

जो उत्तमोत्तम गुणयुक्त सिद्धि की प्राप्ति में बीज या हेतुरूप होती है, वह शक्ति सिद्धि कही जाती है। वैसी सिद्धि एकान्ततः जीवन में सिद्धि—सफलता प्रदान करती है। पर, जिन बाह्य चामत्कारिक सिद्धियों से आत्मा का पतन होता है, वे वास्तव में सिद्धियाँ नहीं कही जा सकतीं।

[ २३४ ]

सिद्ध्यन्तरं न सन्धत्ते या साऽवश्यं पतत्यधः ।  
तच्छक्त्याऽनुविद्धैव पातोऽसौ तत्त्वतो मतः ॥

जो सिद्धि दूसरी—आत्मोत्थान प्राप्त करवाने रूप सिद्धि का कारण नहीं होती, उसका अवश्य ही अधःपतन होता है। यों जो पतन-कारणमयी शक्तिमत्ता से समायुक्त है, उसको पतनरूप माना गया है।

[ २३५ ]

सिद्ध्यन्तराङ्गसंयोगात् साध्वी चंक्रान्तिकी भृशम् ।  
आत्मादिप्रत्ययोपेता तदेषा नियमेन तु ॥

जिनमें दूसरी सिद्धियों के कारणों का संयोग हो, वे सिद्धियाँ एकान्त रूप से श्रेष्ठ होती हैं। उनमें नियमतः आत्मा आदि तत्त्वों की प्रतीति रहती हैं। वे सिद्धियाँ अत्यन्त शुद्ध होती हैं।

[ २३६ ]

न ह्यपायान्तरोपेयमुपायान्तरतोऽपि हि ।  
हाठिकानामपि यतस्तत्प्रत्ययपरो भवेत् ॥

जो जो सिद्धियाँ जिन जिन उपायों से प्राप्त किये जाने योग्य हैं, उनसे अन्य उपायों द्वारा अनेक प्रकार से हठपूर्वक प्रयत्न करने पर भी वे प्राप्त नहीं होतीं। अतः साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह आत्म-प्रतीति का अवलम्बन कर अभ्यासरत हो।

[ २३७ ]

पठितः सिद्धिदूतोऽयं प्रत्ययो ह्यत एव हि ।  
सिद्धिहस्तावलम्बश्च तथाऽन्यैर्मुख्ययोगिभिः ॥

आत्म प्रत्यय को सिद्धिदूत कहा गया है । सिद्धि की ओर आगे बढ़ते साधक को हाथ का सहारा देकर वह आगे बढ़ने में सहयोग करता है । अन्य प्रमुख योगियों ने ऐसा कहा है ।

जैसे सिद्धियों द्वारा महल में चढ़ते पुरुष को यदि किसी के हाथ का सहारा मिल जाता है तो उसे चढ़ने में सुविधा होती है, उसी प्रकार आत्म-प्रतीति के सहारे साधक सुविधापूर्वक ऊर्ध्व-गमन करने में समर्थ होता है ।

[ २३८ ]

अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं सद्योगारम्भकस्तु यः ।  
नान्यः प्रवर्तमानोऽपि तत्र देवनियोगतः ॥

सद्योगारम्भक—श्रेष्ठ योग प्रारंभ करने वाला साधक निश्चित रूप से आत्मप्रत्यय की अपेक्षा रखता है । उधर प्रवृत्त होता हुआ भी अन्य व्यक्ति विपरीत संस्कारवश आत्मप्रतीति के अभाव में सद् योग—उत्तम योग-साधना का शुभारंभ नहीं कर पाता ।

[ २३९ ]

आगमात् सर्वं एवायं व्यवहारः स्थितो यतः ।  
त्रापि हाठिको यस्तु हन्ताज्ञानां स शेखरः ॥

योगमार्ग का समग्र व्यवहार, आचार-विधि आगम के अनुरूप स्थित है—आगम-सिद्ध है । फिर भी दुराग्रही व्यक्ति उससे विपरीत मार्ग पर चलता है । आश्चर्य है, वह कैसा मूर्ख-शिरोमणि है ।

[ २४० ]

तत्कारी स्यात् स नियमात् तद्द्वेषो चेति यो जडः ।  
आगमार्थे समुल्लंघ्य तत एव प्रवर्तते ॥

जो मूर्ख मोक्ष के लिए क्रिया करता है पर मोक्ष-निरूपक आगम से द्वेष करता है तो वह एक प्रकार से मोक्ष का ही द्वेषी है । आगम के अर्थ

का—आगम-निरूपित तत्त्व-दर्शन का उल्लंघन कर वह योग-मार्ग में प्रवृत्त होता है, यह उसकी अज्ञता ही तो है ।

[ २४१ ]

न सद्योगभव्यस्य वृत्तिरेवंविधाऽपि हि ।  
न जात्वजात्यधर्मान् यज्जात्यः सन् भजते शिखी ॥

उत्तम योग में प्रवृत्त भव्य पुरुष की ऐसी क्रिया-विधि में प्रवृत्ति नहीं होती । जैसे उत्तम जाति में उत्पन्न मयूर अपना जाति-धर्म छोड़कर अन्य में कभी प्रवृत्त नहीं होता । अपने स्वरूप, स्वभाव तथा स्तर के अनुरूप उसकी प्रवृत्ति होती है ।

[ २४२ ]

एतस्य गर्भयोगेऽपि मातृणां श्रूयते परः ।  
औचित्यारम्भनिष्पत्तौ जनश्लाघा महोदयः ॥

शास्त्रों में प्रतिपादित है कि उस प्रकार का उत्तम जीव जब माता के गर्भ में आता है तो माता की प्रवृत्ति एवं कार्य-विधि में विशेष औचित्य तथा उच्च भाव आ जाता है, जो सब द्वारा प्रशंसित होता है ।

[ २४३-२४४ ]

जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्प्रतिपच्चन्द्रसन्निभाः ।  
सदोजोरत्नतुल्याश्च लोकाभ्युदयहेतवः ॥  
औचित्यारम्भणोऽक्षुद्राः प्रेक्षावन्तः शुभाशयाः ।  
अवन्ध्यचेष्टाः कालज्ञा योगधर्माधिकारिणः ॥

योग-धर्म के अधिकारी पुरुष उत्तम जाति के स्वर्ण के समान अपने गुणों से देदीप्यमान, शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्र के सदृश उत्तरोत्तर वृद्धिशील, श्रेष्ठ आभायुक्त रत्न के तुल्य उत्तम आज से विभाजित, लोक-कल्याणकारी, समुचित कार्यों में संलग्न, उदात्त, विचारशील, पवित्र भाव-युक्त सफल प्रयत्नकारी तथा अवसरज्ञ होते हैं ।

[ २४५ ]

यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः शास्त्रे प्रोक्तो महात्मभिः ।  
स तदण्डरसादीनां सच्छक्त्यादिप्रसाधनः ॥

शास्त्र में महापुरुषों ने मयूर के दृष्टान्त द्वारा सद्योग साधक का जो आख्यान किया है, उनका अभिप्राय यह है कि जैसे मयूरी के अण्डे, उसके सार, गुण आदि की शक्ति अन्य पक्षियों के अण्डों की तुलना में असाधारण विशेषता युक्त होती है। उत्पन्न होने वाले मयूर-शिशु का मूल अण्डे में ही तो है, जो समय पाकर सर्वांगसम्पन्न बाल-मयूर के रूप में आविर्भूत होता है। इसी प्रकार उत्तम योगसाधक की अपनी कुछ ऐसी अन्तर्निहित विशेषताएँ होती हैं, जो यथासमय विशिष्ट, समुन्नत योगोपलब्धि के रूप में प्राकट्य पाती हैं।

[ २४६ ]

प्रवृत्तिरपि चेतेषां धैर्यात् सर्वत्र वस्तुनि ।  
अपायपरिहारेण दीर्घालोचनसङ्गता ॥

ऐसे उत्तम योगियों की सब वस्तुओं में, सब कार्यों में विघ्नों का परिहार करते हुए धैर्य तथा गहन चिन्तनपूर्वक प्रवृत्ति होती है।

[ २४७ ]

तत्प्रणेतृसमाक्रान्तचित्तरत्नविभूषणा ।  
साध्यसिद्धावनौत्सुक्यगाम्भीर्यस्तिमिताननाः ॥

योग-प्रणेताओं—महान् योगाचार्यों के सदुपदेश, विचार-दर्शन आदि से ऐसे सद्योगाभ्यासी पुरुषों का चित्तरूपी रत्न विभूषित रहता है अर्थात् वे अपने चित्त में तत्प्ररूपित दिव्य ज्ञान को संजोये रहते हैं। उनका व्यक्तित्व इतना उदात्त होता है कि अपना साध्य सिद्ध हो जाने पर भी वे विशेष उत्सुकता, उमंग नहीं दिखलाते, गम्भीर तथा स्थिर मुख-मुद्रा-युक्त रहते हैं।

[ २४८ ]

फलवद् द्रुमसद्बीजप्ररोहसदृशं तथा ।  
साध्वनुष्ठानमित्युक्तं सानुबन्धं महर्षिभिः ॥

महर्षियों ने उत्तम, उत्तरोत्तर प्रशस्त शृङ्खलामय अनुष्ठान को फलों से आच्छन्न वृक्ष के श्रेष्ठ बीज तथा अंकुर के सदृश कहा है, बीज तथा

अंकुर ही वे मूल आधार हैं, जिन पर विशाल वृक्ष विकसित हुआ। उसी प्रकार योगियों द्वारा आचरित होता सद्गुष्ठान ही आत्मा के उत्तरवर्ती विपुल विकास, विस्तार का प्रमुख बीज-प्ररोह रूप प्रमुख आधार है।

[ २४६ ]

अन्तर्विवेकसम्भूतं शान्तोदात्तमविलुप्तम् ॥  
नागोद्भवलताप्राथं बहिश्चेष्टाधिमुषितकम् ॥

योगी के अन्तःकरण में विवेक उत्पन्न हो जाता है। उसकी वृत्तियाँ शान्त तथा उच्चभाव युक्त बन जाती हैं। उनकी यह स्थिति कभी विलुप्त नहीं होती। जैसे वृक्ष की जड़ में उगी हुई तथा तने के साथ बढ़ती हुई बेल बाहर अपना फैलाव नहीं करती, अन्य बेलों से सम्बद्ध नहीं होती, उसी प्रकार योगी का चित्त बाहरी चेष्टाओं से विमुक्त हो जाता है, आत्मभाव में लीन रहता है, उसी के सहारे विकास करता जाता है।

[ २५० ]

इष्यते चैतदप्यत्र विषयोपाधिसङ्गतम् ।  
निर्दाशितमिदं तावत् पूर्वमत्रैव लेशतः ॥

पूर्ववर्णित त्रिधा शुद्ध अनुष्ठान के अन्तर्गत पहला विषय या लक्ष्य रूप अनुष्ठान भी उपचार से योग का अंग है। इस सम्बन्ध में संक्षेप में पहले चर्चा आ ही चुकी है।

यहाँ यह उल्लेख करने का आशय यह है कि जब पहला भी एक अपेक्षा से योग के अन्तर्गत माना जाता है, तब दूसरा तथा तीसरा तो वैसा ही।

[ २५१ ]

अपुनर्बन्धकस्यैवं सम्यग्नीत्योपपद्यते ।  
तत्तत्तन्त्रोक्तमखिलमवस्थाभेदसंश्रयात् ॥

भिन्न-भिन्न योगशास्त्रों में अवस्था-भेद के आधार पर योग की प्रारम्भिक भूमिका के सन्दर्भ में जो बताया गया है, उस पर यदि न्याय-युक्तिपूर्वक विचार करें तो अपुनर्बन्धक के साथ समन्वय घटित हो जाता है।

सम्यक्-दृष्टि : 'स्वरूप'—

[ २५२ ]

स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव ग्रन्थिभेदे तथा सति ।  
सम्यग्दृष्टिर्भवत्युच्चैः प्रशमादिगुणान्वितः ॥

जैसा जैन शास्त्रों में वर्णित हुआ है, ग्रन्थि-भेद हो जाने पर जीव सम्यक्-दृष्टि हो जाता है। उसमें प्रशम—उत्कृष्ट शान्त भाव आदि गुण विशेष रूप से प्रकट हो जाते हैं।

[ २५३ ]

शुश्रूषा धर्मरागश्च गुरु-देवादिपूजनम् ।  
यथाशक्तिविनिर्दिष्टं लिङ्गमस्य महात्मभिः ॥

यथाशक्ति धर्म-तत्त्व सुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, गुरु तथा देव आदि की पूजा—ये उसके चिह्न या लक्षण हैं, ऐसा महापुरुषों ने बतलाया है।

[ २५४ ]

न किन्नरादिगेयादौ शुश्रूषा भोगिनस्तथा ।  
यथा जिनोक्तावस्येति हेतुसामर्थ्यभेदतः ॥

सम्यक्दृष्टि पुरुष को वीतराग-प्ररूपित उपदेश, तत्त्व-ज्ञान सुनने में इतनी प्रीति होती है, जितनी एक भोगासक्त पुरुष को किन्नर, गन्धर्व प्रभृति संगीतप्रिय विशिष्ट देवों द्वारा गाये जाते गीत आदि सुनने में भी नहीं होती। इसका कारण हेतु तथा सामर्थ्य का भेद है।

[ २५५ ]

तुच्छं च तुच्छनिलयप्रतिबद्धं च तद् यतः ।  
गेयं जिनोक्तिस्त्रैलोक्यभोगसंसिद्धिसंगता ॥

पूर्वोक्त गीत तुच्छ—साररहित होता है, तुच्छ—हलके विषय से सम्बद्ध होता है किन्तु वीतराग-वाणी की अपनी ऐसी विशेषता तथा प्रभाव-

कता है कि उससे तीनों लोकों की सुख-समृद्धि प्राप्त हो जाती है और अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है ।

[ २५६ ]

हेतुभेदो महानेवमनयोयद् व्यवस्थितः ।  
चरमात् तद् युज्यतेऽत्यन्कं भावातिशययोगतः ॥

इन दोनों प्रकार की शुश्रूषाओं में कारण का बड़ा भेद है । अन्तिम पुद्गल-परावर्त में स्थित भव्य प्राणी को अपने उत्तम भावों के कारण वीतराग-वाणी सुनने में प्रीति होती है ।

[ २५७ ]

धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं भोगिनः स्व्यादिरागतः ।  
भावतः कर्मसामर्थ्यात् प्रवृत्तिस्त्वन्यथाऽपि हि ॥

भोगासक्त पुरुष को स्त्री आदि के प्रति जितना अनुराग होता है, सम्यक्दृष्टि पुरुष को धर्म के प्रति उससे कहीं अधिक अनुराग होता है । यदि पूर्वकृत कर्मों के परिणामस्वरूप कभी संसार में उसकी विपरीत प्रवृत्ति हो तो भी उसका धर्मानुराग मिटता नहीं ।

[ २५८ ]

न चैवं तत्र नो राग इति युक्त्योपपद्यते ।  
हविः पूर्णप्रियो विप्रो भुङ्क्ते यत् पूयिकाद्यपि ॥

विपरीत प्रवृत्ति में धर्मानुराग नहीं टिकता, ऐसा मानना युक्तिसंगत नहीं है । उदाहरणार्थ, जैसे ब्राह्मण को घृतसिक्त मिष्ठान्न प्रिय होता है किन्तु उसे कभी रूखा-सूखा भोजन भी करना पड़ता है । उसका यह अर्थ नहीं होता कि उसे मिठाई से अनुराग नहीं है । रूखा-सूखा भोजन तो उसे बाध्य होकर करना पड़ता है, उसकी चाह तो मिठाई में ही रहती है । यही स्थिति यहाँ वर्णित सम्यक्दृष्टि साधक के साथ है । उसकी चाह तो सदा धर्म में ही रहती है, प्रतिकूल प्रवृत्ति में पड़ जाना होता है, यह पूर्वार्जित कर्मों का परिणाम है, दुर्बलता है ।

[ २५६ ]

पातात् त्वस्येत्वरं कालं भावोऽपि विनिवर्तते ।  
वातरेणुभृतं चक्षुः स्त्रीरत्नमपि नेक्षते ॥

जब व्यक्ति अपने स्थान से पतित हो जाता है—अपने द्वारा स्वीकृत सम्यक्मार्ग में अपने को टिकाये नहीं रख पाता तो उसकी धर्मोन्मुख प्रवृत्ति विनिवृत्त हो जाती है—रुक जाती है। जैसे किसी मनुष्य की आँख आँधी से उड़ी धूल से भर जाय तो वह स्त्रीरत्न—रूपवती स्त्री को भी नहीं देख सकता।

[ २६० ]

भोगिनोऽस्य स दूरेण भावसारं तथेक्षते ।  
सर्वकर्त व्यतात्यागाद् गुरुदेवादिपूजनम् ॥

भोगासक्त पुरुष जैसे अपने कर्तव्य—करने योग्य कर्म छोड़कर दूर होते हुए भी सुन्दर स्त्री को तन्मयतापूर्वक देखता है, उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि साधक सांसारिक कार्यों से पृथक् रहता हुआ गुरु, देव आदि की पूजा, सत्कार तथा ऐसे ही अन्यान्य धार्मिक कृत्यों में तन्मयतापूर्वक संलग्न रहता है।

[ २६१ ]

निजं न हापयत्येव कालमत्र महामतिः ।  
सारतामस्य विज्ञाय सद्भावप्रतिबन्धतः ॥

वह परम प्रज्ञाशील, अनवरत उत्तम भाव युक्त पुरुष—गुरु-पूजा, देव-पूजा, आदि पवित्र कार्य धर्म का सार है, यह जानता हुआ उन (कार्यों) के लिए अपेक्षित समय नष्ट नहीं करता, और कार्यों में खर्च नहीं करता, उन्हीं में लगाता है।

[ २६२ ]

शक्तेर्न्यूनाधिकत्वेन नात्राप्येष प्रवर्तते ।  
प्रवृत्तिमात्रमेतद् यद् यथाशक्ति तु सत्फलम् ॥

शक्ति की न्यूनता या अधिकता के कारण साधक को प्रवृत्ति उसी



सीमा तक होती है, जहाँ तक उस द्वारा शक्य हो। शक्यता के बाहर प्रवृत्ति नहीं सधती।

अपनी शक्ति या योग्यता का ध्यान रखे बिना जो देव-पूजन आदि धर्म-कृत्यों में अंधाधुंध लगा रहता है, वहाँ वे कार्य केवल प्रवृत्ति मात्र—नितान्त यान्त्रिक होते हैं। उनकी वास्तविकता घटित नहीं होती। जो अपनी शक्ति के अनुरूप कार्य करता है, वे (कार्य) सही रूप में सधते हैं तथा उनका सत्फल प्राप्त होता है।

तीन करण—

[ २६३ ]

एवं भूतोऽयमाख्यातः सम्यग्दृष्टिजिनोत्तमैः ।  
यथाप्रवृत्तिकरणव्यतिक्रान्तो महाशयः ॥

जो यथाप्रवृत्तिकरण को पार कर चुका है, उत्तम परिणामयुक्त है, ऐसा पुरुष सर्वज्ञों द्वारा सम्यग्दृष्टि कहा गया है।

[ २६४ ]

करणं परिणामोऽत्र सत्त्वानां तत् पुनस्त्रिधा ।  
यथाप्रवृत्तमाख्यातमपूर्वमनिवृत्ति च ॥

प्राणियों का आत्मपरिणाम या भावविशेष करण कहा जाता है। वह तीन प्रकार का है—यथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण। यथाप्रवृत्तकरण का ऊपर उल्लेख हुआ ही है।

[ २६५ ]

एतत् त्रिधाऽपि भव्यानामन्येषामाद्यमेव हि ।  
ग्रन्थिं यावत् त्विदं तं तु समतिक्रामतोऽपरम् ॥

ये तीनों प्रकार के करण भव्यात्माओं के सधते हैं। अभव्यात्माओं के केवल पहला—यथाप्रवृत्तकरण ही होता है। वे ग्रन्थि-भेद के निकट आकर वापस गिर जाते हैं। भव्यात्माओं के यह (यथाप्रवृत्तकरण) ग्रन्थि-भेद तक रहता है। ग्रन्थि-भेद की स्थिति प्राप्त कर, इसे लांघकर वे अपूर्वकरण में पहुँच जाते हैं।

[ २६६ ]

भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु सम्यग्दृष्टेरतो हि न ।  
पतितस्याप्यते बन्धो ग्रन्थिमुल्लंघ्य देशितः ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुकता है, उसके तृतीय करण होता है। उसे सम्यक्त्व प्राप्त हो जाता है। तत्पश्चात् वह अपेक्षित नहीं रहता।

सम्यक्दृष्टि यदि वापस नीचे भी गिरता है तो उसके वैसा तीव्र कर्म-बन्ध नहीं होता, जैसा उसके होता है, जो भिन्न-ग्रन्थि नहीं है।

[ २६७ ]

एवं सामान्यतो ज्ञेयः परिणामोऽस्य शोभनः ।  
मिथ्यादृष्टेरपि सतो महाबन्धविशेषतः ॥

मिथ्यादृष्टि होते हुए भी सामान्यतः उसके आत्मपरिणाम अच्छे होते हैं। इसलिए उसके जो कर्म-बन्ध होता है, वह बहुत गाढ़ नहीं होता।

मिथ्यादृष्टि दो प्रकार के होते हैं। एक वह मिथ्यादृष्टि है, जिसे सम्यक् दृष्टि कभी प्राप्त नहीं हुई। दूसरा वह मिथ्यादृष्टि है, जो एक बार सम्यक्त्व प्राप्त कर चुकता है पर वापस नीचे आ जाता है। इन दोनों के कर्म-बन्ध में अन्तर होता है। पहला मिथ्यादृष्टि (जिसने सम्यक्त्व का कभी संस्पर्श नहीं किया) तीव्र एवं प्रगाढ़ कर्म-बन्ध करता है। सम्यक्दृष्टि से पतित मिथ्यादृष्टि उतना तीव्र तथा प्रगाढ़ कर्म-बन्ध नहीं करता। इसका कारण यह है कि जो जीवन में एक बार सम्यक्त्व पा जाता है, उसकी संस्कार-धारा में हलकी सी ही सही, एक ऐसी सत्त्वोन्मुखी रेखा खचित हो जाती है, जो उसके आत्म-परिणामों को उतना मलीमस नहीं होने देती, जितने मिथ्यादृष्टि के होते हैं।

[ २६८ ]

सागरोपमकोटीनां कोट्यो मोहस्य सप्ततिः ।  
अभिन्नग्रन्थिबन्धो यन्न त्वेकोऽपीतरस्य तु ॥

जिसके ग्रन्थि-भेद नहीं होता, उसके सत्तर कोड़ाकोड़ सागर की स्थिति वाले मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। जिसके ग्रन्थि-भेद हो चुका

है। उसके एक कोड़ाकोड़ सागर<sup>१</sup> की स्थिति के भी मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं होता।

सत्तर करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने से जो गुणनफल आता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागर होता है। उसी प्रकार एक करोड़ सागर को एक करोड़ सागर से गुणा करने पर जो गुणनफल आता है, वह एक कोड़ाकोड़ सागर होता है।

[ २६६ ]

तदत्र परिणामस्य भेदकत्वं नियोगतः ।

बाह्यं त्वदनुष्ठानं प्रायस्तुल्यं द्वयोरपि ॥

यद्यपि बाह्य दृष्टि से दोनों प्रकार के मिथ्यादृष्टि पुरुषों का असत् अनुष्ठान—मिथ्या आचरण प्रायः समान होता है किन्तु दोनों के परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं अतः उनमें भेद माना जाता है।

सम्यक्दृष्टि और बोधिसत्त्व—

[ २७० ]

अयमस्यामवस्थायां बोधिसत्त्वोऽभिधीयते ।

अन्यैस्तल्लक्षणं यस्मात् सर्वमस्योपपद्यते ॥

अन्तर्विकास की दृष्टि से इस अवस्था तक—सम्यक्दृष्टि तक पहुँचा हुआ पुरुष बौद्ध परंपरा में बोधिसत्त्व कहा जाता है। सम्यक्दृष्टि पुरुष में वह सब घटित है, जो बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में वर्णित है।

[ २७१ ]

कायपातिन एवेह बोधिसत्त्वाः परोदितम् ।

न चित्तपातिनस्तावदेतदत्रापि युक्तिमत् ॥

बौद्ध आचार्यों ने बताया है कि बोधिसत्त्व कायपाती ही होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। अर्थात् कर्तव्य कर्म करते समय उनकी देह से हिंसा आदि अकुशल या अशुभ कर्म हो जाते हैं किन्तु चित्त से नहीं होते। उनका चित्त अपनी पवित्रता के कारण वैसे कार्यों में व्याप्त नहीं होता।

सम्यक्दृष्टि के साथ भी यह स्थिति घटित होती है।

१. इस सन्दर्भ में इसी ग्रन्थ के ३५२वें श्लोक का विवेचन दृष्टव्य है।

[ २७२ ]

परार्थरसिको धीमान् मार्गगामी महाशयः ।  
गुणरागी तथेत्यादि सर्वं तुल्यं द्वयोरपि ॥

परोपकार में रस—हार्दिक अभिरुचि, प्रवृत्ति में बुद्धिमत्ता—विवेक-शीलता, धर्म-मार्ग का अनुसरण, भावों में उदात्तता, उदारता तथा गुणों में अनुराग—ये सब बोधिसत्त्व तथा सम्यक्दृष्टि—दोनों में समान रूप से प्राप्त होते हैं ।

[ २७३ ]

यत् सम्यग् दर्शनं बोधिस्तत्प्रधानो महोदयः ।  
सत्त्वोऽस्तु बोधिसत्त्वस्तद्धन्तैषौऽन्वर्थतोऽपि हि ॥

सम्यक् दर्शन तथा बोधि वास्तव में एक ही वस्तु है । बोधिसत्त्व वह पुरुष होता है, जो बोधियुक्त हो, कल्याण-पथ पर सम्यक् गतिशील हो । सम्यक्दृष्टि का भी इसी प्रकार का शाब्दिक अर्थ है ।

[ २७४ ]

वरबोधि समेतो वा तीर्थकृद् यो भविष्यति ।  
तथा भव्यत्वतोऽसौ वा बोधिसत्त्वः सतां मतः ॥

अथवा सत्पुरुषों ने—प्रबुद्ध जनों ने यों भी माना है—जो उत्तम बोधि से युक्त होता है, भव्यता के कारण अपनी मोक्षोद्दिष्ट यात्रा में आगे चलकर तीर्थ कर पद प्राप्त करता है, वह बोधिसत्त्व है ।

[ २७५ ]

सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं सम्यक् चित्रं च देहिनाम् ।  
तथा कालादिभेदेन बीजसिद्ध्यादिभावतः ॥

भव्यात्माओं का भव्यत्व-भाव अनादिकाल से सम्यक् सिद्ध है । अनुकूल समय, स्वभाव, नियति, कर्म, प्रयत्न आदि कारण-समवाय के मिलने पर वह बीज-सिद्धि के रूप में प्रकट होता है । जैसे समय पाकर बीज वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार वह विकास करता जाता है, उत्तरोत्तर उन्नत होते—बढ़ते गुणस्थानों द्वारा ऊँचा उठता जाता है ।

[ २७६ ]

सर्वथा योग्यताभेदे तदभावोऽन्यथा भवेत् ।  
निमित्तनामपि प्राप्तस्तुल्या यत्तन्नियोगतः ॥

सभी जीवों में मूलतः ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, उपयोग आदि गुण एक समान हैं। ऐसा होते हुए भी कुछ जीवों को उनका विकास, संवर्धन आदि करने की अनुकूलता प्राप्त होती है, कुछ को नहीं। उसका कारण आत्मा की भव्यत्वरूप योग्यता है, जिसके कारण आत्मा को अपने गुणों का विकास करने का सुअवसर प्राप्त होता है, जिसके न होने पर वह अवसर नहीं मिलता।

एक बात और, निमित्त भी जीवन में सभी को प्रायः एक जैसे प्राप्त होते हैं किन्तु किन्हीं को उनसे लाभ उठाने का अवसर मिलता है, किन्हीं को नहीं। इसका कारण भी भव्यत्व ही है। ऐसा न मानने पर अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

[ २७७ ]

अन्यथा योग्यताभेदः सर्वथा नोपपद्यते ।  
निमित्तोपनिपातोऽपि यत् तदाक्षेपतो ध्रुवम् ॥

यदि उपर्युक्त सन्दर्भ में अन्य प्रकार से माना जाए तो आत्मा की योग्यता का भेद—भिन्न-भिन्न आत्माओं की अपनी-अपनी विशेष योग्यता सिद्ध नहीं होती। फलतः उनके कार्य-कलाप एवं फल-निष्पत्ति में भेद नहीं होना चाहिए। निमित्तोपलब्धि का फल भी सबके लिए एकसा होना चाहिए। पर, ये दोनों ही अघटित हैं। अतः आत्मा की भव्यत्वरूप योग्यता का स्वीकार आवश्यक है।

[ २७८ ]

योग्यता चेह विज्ञेया बीजसिद्ध्याद्यपेक्षया ।  
आत्मनः सहजा चित्रा तथा भव्यत्वमित्यतः ॥

सम्यक्दर्शन आत्मविकास का बीज है। वह जिससे सिद्ध होता है, वह आत्मा की मोक्षोपयोगी सहज योग्यता है, भव्यत्वरूप है, जिससे आत्मा की विकासप्रवण विविध स्थितियाँ निष्पन्न होती हैं।

[ २७६ ]

वरबोधेरपि न्यायात् सिद्धिर्नो हेतुभेदतः ।  
फलभेदो यतो युक्तस्तथा व्यवहितादपि ॥

आत्म-विकास के सन्दर्भ में जो सिद्धि—सफलता प्राप्त होती है, उसका मूल कारण उत्तम बोधि—सम्यक्त्व-संपृक्त सद्ज्ञान है। अध्यात्म-विकास की विभिन्न स्थितियों की निष्पन्नता में बाह्य हेतुओं का भेद प्रमुख भूमिका नहीं निभाता। ऐसा भी होता है, बाह्य हेतु व्यवहित है—व्यवधान-युक्त है, साक्षात् रूप में असम्बद्ध है, फिर भी वैसी फल निष्पत्ति होती है, जो उसकी साक्षात्सम्बद्धता में संभाव्य मानी जाती है। यदि बाह्य हेतु ही मुख्य होता तो वैसा नहीं होना चाहिए था।

सारांश यह है कि फल-निष्पत्ति की मौलिक हेतुमत्ता बाह्य में नहीं, स्व में है।

[ २८०-२८१ ]

तथा च भिन्ने दुर्भेदे कर्मग्रन्थिमहाचले ।  
तीक्ष्णेन भाववज्रेण बहुसंक्लेशकारिणि ॥  
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।  
सद्व्याध्यभिभवे यद्वद् व्याधितस्य महौषधात् ॥

अत्यन्त कष्टप्रद कर्म-ग्रन्थि रूपी दुर्भेद्य भारी पर्वत जब तीक्ष्ण भाव रूपी वज्र से टूट जाता है—मोहमयी दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि जब उज्ज्वल आत्म-परिणामों द्वारा भिन्न हो जाती है, खुल जाती है, तब उत्तम औषधि द्वारा रोग मिटने पर रोगपीड़ित पुरुष को जैसे अत्यन्त आनन्द होता है, उसी प्रकार साधक को तात्त्विक—परपदार्थ-निरपेक्ष, आत्मप्रसूत दिव्य आनन्द की विपुल अनुभूति होती है।

[ २८२ ]

भेदोऽपि चास्य विज्ञेये न भूयो भवनं तथा ।  
तीव्रसंक्लेशविगमात् सदा निःश्रेयसावहः ॥

ग्रन्थि-भेद होने से आत्मा को अपरिसीम आनन्द तो होता ही है, साथ ही साथ एक और विशेषता निष्पन्न होती है—तीव्र संक्लेश या तीव्र कषाय का अपगम हो जाने से, मोहनीय कर्म के अति तीव्र एवं प्रगाढ़ बन्ध

के रुक जाने से आत्मा को घोर दुःखमय दीर्घ संसार—जन्म-मरण के दीर्घकालीन चक्र में नहीं आना पड़ता । अन्ततः मोक्ष प्राप्त होता है ।

[ २८३ ]

जात्यन्धस्य यथा पुंसश्चक्षुर्लाभे शुभोदये ।  
सदृशनं तथैवास्य ग्रन्थिभेदेऽपरे जगुः ॥

जन्मान्ध पुरुष को यदि पुण्योदय से नेत्र प्राप्त हो जाएँ तो वह वस्तुओं को यथावत् रूप में देखने लगता है । उसी प्रकार ग्रन्थि-भेद हो जाने पर मनुष्य तत्त्वतः वस्तु-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है । उसकी दृष्टि तत्त्वोन्मुख, सत्त्वोन्मुख हो जाती है ।

[ २८४-२८६ ]

अनेन भवनैर्गुण्यं सम्यग् वीक्ष्य महाशयः ।  
तथा भव्यत्वयोगेन विचित्रं चिन्तयत्यसौ ॥  
“मोहान्धकारगहने संसारे दुःखिता बत ।  
सत्त्वाः परिभ्रमन्त्युच्चैः सत्यस्मिन् धर्मतेजसि ॥  
अहमेतानतः कृच्छ्राद् यथायोगं कथञ्चन ।  
अनेनोत्तारयामोति वरबोधिसमन्वितः ॥

उच्च विचार-सम्पन्न वैसा पुरुष संसार की निःसारता का सम्यक्-अवेक्षण करता हुआ भव्यत्वमयी—सत्त्वोन्मुखी—मोक्षानुगामिनी अन्तर्वृत्ति के कारण विविध रूप में सच्चिन्तन करता है—

मोह के अन्धकार से परिव्याप्त संसार में धर्म को दीप्तिमयी ज्योति के होते हुए भी प्राणी दुःखित बने भटक रहे हैं, कितना आश्चर्य है ।

मुझे उत्तम बोधि प्राप्त है । मैं उस द्वारा जहाँ तक संभव हो, किसी तरह उन्हें इस घोर दुःख के पार लगाऊँ—दुःखमुक्त करूँ ।

[ २८७ ]

करुणादि गुणोपेतः परार्थव्यसनी सदा ।  
तथैव चेष्टते धीमान् वर्धमानमहोदयः ॥

करुणा आदि गुण युक्त, पर-हित साधने में विशेष अभिरुचिशील, प्रज्ञावान्, उत्तरोत्तर विकास पाते आध्यात्मिक गुणों से समायुक्त वह सत्पुरुष अपने सदनुष्ठान में सदा यत्नशील रहता है ।

[ २८८ ]

तत्तत्कल्याणयोगेन कुर्वन् सत्त्वार्थमेव सः ।  
तीर्थकृत्वमवाप्नोति परं सत्त्वार्थसाधनम् ॥

दूसरों का अनेक प्रकार से कल्याण साधता हुआ, उपकार करता हुआ साधक तीर्थंकर पद प्राप्त करता है, जो प्राणी मात्र के कल्याण साधने का सबसे बड़ा साधन है ।

[ २८९ ]

चिन्तयत्येवमेवैतत् स्वजनादिगतं तु यः ।  
तथानुष्ठानतः सोऽपि धीमान् गणधरो भवेत् ॥

जो अपने पारिवारिक जनों, सम्बन्धियों का इसी प्रकार कल्याण-चिन्तन करता है, उनके लिए हितकर कार्य करता है, वह मतिमान् पुरुष गणधर<sup>१</sup> का पद प्राप्त करता है ।

[ २९० ]

संविग्नो भवनिर्वेदादात्म—निःसरणं तु यः ।  
आत्मार्थसंप्रवृत्तोऽसौ सदा स्यान्मुण्डकेवली ॥

संसार से वैराग्य हो जाने के कारण जो संविग्न—संवेगयुक्त—हिंसा आदि परिहेय कार्यों को छोड़ आत्मस्वरूप अधिगत करने का त्वरापूर्ण उदात्त भाव लिये रहता है, आत्मोन्नति का आधार वह स्वयं है, यह सोचकर जो अपने कल्याण के लिए सम्यक् प्रयत्नशील होता है, वह मुण्डकेवली कहा जाता है ।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, मुण्डकेवली का लक्ष्य केवल आत्मोत्थान होता है, दूसरों के उत्थानार्थ प्रयत्नशील होना उसका विषय नहीं है ।

१. तीर्थंकर के प्रमुख शिष्य, जो श्रमण-संघ के अन्तर्वर्ती गणों—समुदायों के प्रधान होते हैं ।



[ २६१ ]

तथा भव्यत्षतश्चित्रनिमित्तोपनिपाततः ।

एवं चिन्तादिसिद्धिश्च सन्न्यायागमसंगता ॥

आत्मा की अपनी योग्यता तथा भिन्न-भिन्न बाह्य निमित्तों की प्राप्ति के कारण उस (आत्मा) में सत्त्वोन्मुख चिन्तन प्रादुर्भूत होता है. जो न्यायसंगत एवं आगमानुगत है ।

[ २६२ ]

एवं कालादि भवेन बीजसिद्ध्यादिसंस्थितिः ।

सामग्र्यक्षया न्यायादन्यथा नोपपद्यते ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि विविध प्रकार के निमित्त तथा अनुकूल आत्मसामग्र्यरूप उपादान के कारण बीजसिद्धि—आध्यात्मिक दृष्टि से सम्यक्ज्ञान; सम्यक्दर्शन, सम्यक्चारित्र्य आदि एवं लौकिक दृष्टि से प्रभावकता, आदेय भाव, चक्रवर्तित्व, राजत्व आदि स्थितिया प्राप्त होती हैं; विविध प्रकार की चामत्कारिक सिद्धियाँ या लब्धियाँ प्राप्त होती हैं । कार्य-निष्पत्ति में अपेक्षित उपादान तथा निमित्त के संयोग को स्वीकार न किया जाए तो वह सब घटित नहीं होता, जो दृश्यमान है ।

[ २६३ ]

तत्तत्स्वभावता चित्रा तदन्यापेक्षणी तथा ।

सर्वाभ्युपगमव्याप्ता न्यायश्चात्र निर्वाशतः ॥

जो जो कार्य निष्पन्न होते हैं, उनके मूल में वस्तुओं के स्वभाव की विचित्रता—विविधता एवं तदनुरूप भिन्न-भिन्न निमित्तों की अपेक्षा रहती है । तदनुसार कार्यों के स्वरूप में विभिन्नता होती है । यह सिद्धान्त सर्वत्र व्याप्त है ।

[ २६४ ]

अधिमुक्त्याशयस्थैर्यविशेषवदिहापरैः ।

इष्यते सदनुष्ठानं हेतुरत्रैव वस्तुनि ॥

अन्य विद्वानों के अनुसार तीर्थंकर, गणधर या मुण्डकेवलीं जैसा पद प्राप्त करने का कारण वह सदनुष्ठान है, जिसमें साधक मोक्ष-सिद्धि का विश्वास लिये हो, अपना चित्त विशेष स्थिरता से टिकाये हो ।

[ २६५ ]

विशेषं चास्य मन्यन्ते ईश्वरानुग्रहादिति ।  
प्रधानपरिणामात् तु तथाऽन्ये तत्त्ववादिनः ॥

कई दार्शनिक वैसी स्थिति प्राप्त होने में ईश्वर का अनुग्रह स्वीकार करते हैं अर्थात् ईश्वर की कृपा से ये सब प्राप्त होते हैं, ऐसा मानते हैं तथा कई तत्त्ववादी प्रकृति के परिणमन-विशेष से इनके सधने की बात कहते हैं ।

[ २६६ ]

तत्तत्त्वभावतां मुक्त्वा नोभयत्राप्यदो भवेत् ।  
एवं च कृत्वा ह्यत्रापि हन्तैषैव निबन्धनम् ॥

यदि आत्मा का वैसा स्वभाव न हो तो उपर्युक्त दोनों ही बातें— ईश्वरानुग्रह तथा प्रकृति का परिणमन-विशेष फलित नहीं होते । जिसका विविध रूपों में जैसा परिणत होने का स्वभाव हो, अपनी उपादान-सामग्री हो, उससे विपरीत स्थिति अन्यो द्वारा नहीं लाई जा सकती । अतः आत्म-स्वभावता इसका मुख्य कारण है ।

[ २६७ ]

आर्थ्यं व्यापारमाश्रित्य न च दोषोऽपि विद्यते ।  
अत्र माध्यस्थ्यमालम्ब्य यदि सम्यग् निरूप्यते ॥

यदि माध्यस्थ्य-भाव—तटस्थ वृत्ति का अवलम्बन कर सम्यक् निरूपण करें, शब्दों के बजाय अर्थ-व्यापार—मूल तात्पर्य को लेकर विचार करें तो किसी अपेक्षा से इसमें दोष भी नहीं आता ।

[ २६८ ]

गुणप्रकर्षरूपो यत् सर्वैर्वन्द्यस्तथेध्यते ।  
देवतातिशयः कश्चित् स्तवादेः फलदस्तथा ॥

प्रकृष्ट—उत्कृष्ट, विशिष्ट गुणयुक्त; सब द्वारा वन्दनीय देव-विशेष का स्तवन—वन्दन, पूजन आदि करने का तदनु रूप फल संभावित है, यह भी एक दृष्टि से मानने योग्य है ।

टीकाकार ने प्रस्तुत सन्दर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि देवोपासक को जो फल प्राप्त होता है, वह वस्तुतः उस साधक द्वारा किये गये वन्दन, पूजन आदि सदनुष्ठान का फल है। वन्दन, स्तवन आदि देवोद्दिष्ट होते हैं। अतः उद्दिष्टता या लक्ष्य की दृष्टि से वह देव-प्रसाद है, अभिप्रायशः ऐसा समझा जा सकता है।

[ २६६ ]

भवश्चाप्यात्मनो यस्मादन्यतश्चित्रशक्तिकात् ।  
कर्माद्यभिधानादेर्नान्यथाऽतिप्रसङ्गतः ॥

चित्रशक्तिक—विविध शक्तियुक्त—भिन्न-भिन्न प्रकार की स्थिति उत्पन्न करने में समर्थ कर्म आदि जब आत्मा को अनेक रूप में प्रभावित, परिणत करते हैं, वहाँ भी आत्मा की अपनी योग्यता या स्वभाव का साहचर्य है ही, जिसके बिना वे (कर्म आदि) फल-निष्पत्ति नहीं ला सकते फिर भी उन (कर्म आदि) द्वारा वैसा किया जाना निरूपित होता है। इस अपेक्षा से उपर्युक्त मान्यता में भी बाधा नहीं आती।

कालातीत का मन्तव्य—

[ ३००-३०७ ]

माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैवमैदंपर्यव्यपेक्षया ।  
तत्त्वं निरूपणोयं स्यात् कालातीतोऽप्यदोऽन्नवीत् ॥  
अन्येषामप्ययं मार्गो मुक्ताविद्यादिवादिनाम् ।  
अभिधानादिभेदेन तत्त्वनोत्या व्यवस्थितः ॥  
मुक्तो बुद्धोऽर्हन् वाऽपि यदेश्वर्येण समन्वितः ।  
तदीश्वरः स एव स्यात् संज्ञाभेदोऽत्र केवलम् ॥  
अनादिशुद्ध इत्यादिर्वश्व भेदोऽस्य कल्प्यते ।  
तत्तत्तन्त्रानुसारेण मन्ये सोऽपि निरर्थकः ॥  
विशेषस्यापरिज्ञानाद् युक्तीनां जातिवादतः ।  
प्रायो विरोधतश्चै फलाभेदाश्च भावतः ॥  
अविद्या क्लेश-कर्मादि यतश्च भवकारणम् ।  
ततः प्रधानमेवंतत् संज्ञाभेदमुपागतम् ॥

अस्यापि योऽपरो भेदश्चित्रोपाधिस्तथा तथा ।  
 गीयते ऽ तोतहेतुभ्यो धोमतां सोऽप्यपार्थकः ॥  
 ततोऽस्थानप्रयासोऽयं यत् तद्भेदनिरूपणम् ।  
 सामान्यमनुमानस्य यतश्च विषयो मतः ॥

माध्यस्थ्य-भाव का आलम्बन करते हुए, उद्दिष्ट विषय का यथार्थ अभिप्राय ध्यान में रखते हुए तत्त्वनिरूपण करना चाहिए । आचार्य कालातीत, ने भी ऐसा ही कहा है—

मुक्तवादी—आत्मा को सदा, चिरन्तन मुक्त मानने वाले, अविद्यावादी—आत्मा को अविद्यावच्छिन्न मानने वाले अन्य तत्त्ववादियों द्वारा स्वीकृत मार्ग भी यही है । केवल अभिधान—अभिव्यक्ति आदि का भेद वहाँ है । तत्त्व-व्यवस्था में भेद नहीं है ।

जो ऐश्वर्य—ईश्वरता—असाधारण शक्तिमत्ता के वैभव से युक्त माना जाता है, वह मुक्त, बुद्ध, अर्हन् आदि जिस किसी नाम से संबोधित किया जाए, ईश्वर है ।

क्या परमात्मा या ईश्वर अनादिकाल से शुद्ध है, क्या ऐसा नहीं है ?—इत्यादि रूप में भेद-विकल्प—तर्क-वितर्क या वाद-विवाद, जो भिन्न-भिन्न मतवादियों द्वारा किया जाता है, वह वस्तुतः निरर्थक है ।

परमात्मा के सम्बन्ध में हमें अपरिज्ञान है—व्यापक ज्ञान नहीं है । उस सन्दर्भ में जो युक्तियाँ दी जाती हैं, वे भ्रान्तिजनक हैं, परस्पर-विरुद्ध हैं । मत-भिन्नता के बावजूद फल में, लक्ष्य में सबके अभिन्नता है । फिर विवाद की कैसी सार्थकता ?

अविद्या, क्लेश, कर्म आदि को संसार का कारण माना गया है । वह वास्तव में प्रकृति ही है । केवल नामान्तर का भेद है ।

प्रकृति को केन्द्रबिन्दु में प्रतिष्ठित कर किये गये इस विवेचन से प्रतीत होता है, कालातीत सांख्ययोगाचार्य थे ।

भिन्न-भिन्न उपाधि—अभिधान आदि द्वारा उसके जो अन्यान्य भेद किये जाते हैं, उन्हें मानने का कोई यथार्थ प्रयोजन या हेतु नहीं है । बुद्धिमानों के लिए वे निरर्थक हैं ।

अतः उसके भेद-विस्तार में जाना अयोग्य प्रयास है। क्योंकि वह सामान्यतः अनुमान का विषय है।

[ ३०८ ]

साधु चैतद् यतो नीत्या शास्त्रमत्र प्रवर्तकम् ।  
तथाभिधानभेदात् भेदः कुचितिकाग्रहः ॥

आचार्य कालातीत ने जो कहा है, वह समीचीन है। इन विषयों में शास्त्र ही प्रवर्तक—मार्गदर्शक है। इनमें जो केवल नाम का भेद है, उसे वास्तव में भेद मानना पक्षपातपूर्ण दुराग्रह है।

[ ३०९ ]

विपश्चितां न युक्तोऽयमैदंपर्येप्रिया हि ते ।  
यथोक्तास्तत्पुनश्चाह हन्ताऽत्रापि निरूप्यताम् ॥

पक्षपातपूर्ण दुराग्रह ज्ञानी जनों के लिए उचित नहीं होता। जैसा पहले वर्णित हुआ है, वे यथार्थ में, सत्य में प्रीति रखते हैं।

आचार्य कलातीत ने जो कहा है, उस पर चिन्तन करें, उसका परीक्षण करें।

[ ३१० ]

उभयोः परिणामित्वं तथाभ्युपगमाद् ध्रुवम् ।  
अनुग्रहात् प्रवृत्तेश्च तथाद्वाभेदतः स्थितम् ॥

ईश्वर अनुग्रह करता है, प्रकृति प्रवृत्ति कराती है, यों निश्चित रूप में दोनों का परिणामित्व—परिणमनशीलता सिद्ध होती है, जो समयान्तर-वर्ती है।

[ ३११ ]

सर्वेषां तत्स्वभावत्वात् तदेतदुपपद्यते ।  
नान्यथा ऽतिप्रसङ्गेन सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

सबका अपना-अपना स्वभाव है, जिसके कारण विविध कोटिक परिणमन सिद्ध होता है। वैसा न होने पर सब अव्यवस्थित हो जाता है। सूक्ष्मबुद्धि से इस पर चिन्तन करें।

[ ३१२ ]

आत्मनां तत्स्वभावत्वे प्रधानस्यापि संस्थिते ।  
ईश्वरस्यापि सन्न्यायाद् विशेषोऽधिकृते भवेत् ॥

जैसा कि माना गया है, आत्माओं का अपना स्वभाव है, उसी प्रकार प्रकृति का एवं ईश्वर का भी अपना अपना स्वभाव है। ऐसा होने के कारण आत्मा का तीर्थंकर, गणधर या मुण्डकेवली पद प्राप्त करना, उस रूप में परिणत होना सर्वथा तर्कसंगत है।

[ ३१३ ]

सांसिद्धिकं च सर्वेषामेतदाहुर्मनीषिणः ।  
अन्ये नियतभावत्वादन्यथा न्यायवादिनः ॥

ज्ञानी जन बताते हैं कि ईश्वर, प्रकृति तथा आत्मा का कार्य-व्यापार सांसिद्धिक—अग्ने-अग्ने स्वभावगत संस्कार से सिद्ध है—क्रियानुगत है। कई न्यायवादी—तार्किक नियत-भाव के आधार पर ऐसा होना प्रतिपादित करते हैं अर्थात् वैसा होना था, इसलिए हुआ, ऐसा उनका अभिमत है।

[ ३१४ ]

सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा नोपपद्यते ।  
योगिनो वा विजानन्ति किमस्थानग्रहणेन नः ॥

वह नियत-भाव भी एक प्रकार से सांसिद्धिक ही है। क्योंकि जिस वस्तु में जिस रूप में परिणत होने का स्वभाव नहीं होता, वह उस रूप में कभी परिणत नहीं हो सकती। नियत-भाव भी वस्तु के स्वभाव के अनुकूल ही कार्यंकर होता है, प्रतिकूल नहीं। योगी इस सम्बन्ध में सम्यक् रूप में जानते हैं, क्योंकि वे अपने दिव्य ज्ञान द्वारा अतीन्द्रिय पदार्थों को साक्षात् देखते हैं। इसलिए सामान्य जनों को इस पर विवाद करना उचित नहीं।

[ ३१५ ]

अस्थानं रूपमन्धस्थ यथा सन्निश्चयं प्रति ।  
तथैवातोन्द्रियं वस्तु छद्मस्थस्यापि तत्त्वतः ॥

अन्धे को रूप दिखलाना तथा उस सम्बन्ध में उससे निर्णय लेना अनुचित है। नेत्रहीन, जो किसी वस्तु को देख ही नहीं सकता, उसके विषय में कैसे निर्णय कर सकता है। उसी प्रकार अतीन्द्रिय—जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहीत नहीं की जा सकती, वस्तु के सम्बन्ध में अल्पज्ञ पुरुष यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता।

[ ३१६ ]

हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं तत एव कथञ्चन ।  
अत्र तन्निश्चयोऽपि स्यात् तथा चन्द्रोपरागवत् ॥

अन्धा मनुष्य जैसे हाथ से छूकर किसी वस्तु के सम्बन्ध में अनुमान करता है, उसी प्रकार शास्त्र के सहारे व्यक्ति आत्मा, कर्म आदि पदार्थों का कुछ निश्चय कर पाता है।

ग्रहण के समय चन्द्रमा राहु द्वारा किस सीमा तक ग्रस्त हुआ है, यह जानने हेतु कुछ-कुछ काले किये हुए काच द्वारा उसे देखा जाता है, उसी प्रकार शास्त्र द्वारा इन्द्रियातीत पदार्थ के सम्बन्ध में जानने का प्रयास लगभग ऐसा ही है।

[ ३१७ ]

ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य तद्गम्भीरेण चेतसा ।  
शास्त्रगर्भः समालोच्यो ग्राह्यश्चेष्टार्थसङ्गतः ॥

साधक को चाहिए कि वह देव, गुरु, धर्म, आत्मा, परमात्मा आदि के सम्बन्ध में दुराग्रह का सर्वथा परित्याग करे, शास्त्रों में जो कहा गया है, उस पर गम्भीर चित्त से विचार करे तथा कार्यकारिता, लक्षण, स्वरूप की दृष्टि से जो समीचीन प्रतीत हो उसे ग्रहण करे।

भाग्य तथा पुरुषार्थ—

[ ३१८ ]

देवं पुरुषकारश्च तुल्यावेतदपि स्फुटम् ।  
एवं व्यवस्थिते तत्त्वे युज्यते न्यायतः परम् ॥  
भाग्य और पुरुषकार—पुरुषार्थ एक समान ही हैं, यह भी तत्त्व को

व्यवस्थित मानने पर—वस्तुओं को उनके विशेष स्वभाव के साथ स्वीकार करने पर ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है ।

[ ३१९ ]

दैवं नामेह तत्त्वेन कर्मैव हि शुभाशुभम् ।  
तथा पुरुषकारश्च स्वव्यापारो हि सिद्धिदः ॥

अतीत में किये गये शुभ या अशुभ कर्म ही तत्त्वतः भाग्य है । वे (कर्म) यदि शुभ हों तो सौभाग्य के रूप में और यदि अशुभ हो तो दुर्भाग्य के रूप में फलित होते हैं । पुरुषार्थ वर्तमान कर्म-व्यापार—क्रिया-प्रक्रिया है, जो यथावत् रूप में किये जाने पर सफलता देता है ।

[ ३२० ]

स्वरूपं निश्चयेनेतदनयोस्तत्त्ववेदिनः ।  
ब्रुवते व्यवहारेण चित्रमन्योन्यसंश्रयम् ॥

तत्त्ववेत्ता भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों का स्वरूप निश्चय-दृष्टि से उपर्युक्त रूप में बतलाते हैं । भाग्य तथा पुरुषार्थ विचित्र रूप में—अनेक प्रकार से एक दूसरों पर आश्रित हैं, ऐसा वे (तत्त्ववेत्ता) व्यवहार-दृष्टि से प्रतिपादित करते हैं ।

[ ३२१ ]

न भवस्थस्य यत् कर्म विना व्यापारसंभवः ।  
न च व्यापारशून्यस्य फलं स्यात् कर्मणोऽपि हि ॥

जो व्यक्ति संसार में है, पूर्व संचित कर्म के बिना उसका जीवन-व्यापार नहीं चलता । जब तक वह कर्म-व्यापार में संलग्न नहीं होता—कर्म-प्रवृत्त नहीं होता, तब तक संचित कर्म का फल प्रकट नहीं होता ।

[ ३२२ ]

व्यापारमात्रात् फलदं निष्फलं महतोऽपि च ।  
अतो यत् कर्म तद् दैवं चित्रं ज्ञेयं हिताहितम् ॥

कभी ऐसा होता है, थोड़ा सा प्रयत्न करते ही सफलता मिल जाती है और कभी बहुत प्रयत्न करने पर भी सफलता प्राप्त नहीं होती । इसका



कारण अतीत में आचीर्ण विभिन्न प्रकार के कर्म हैं, जो वर्तमान में हितकर या अहितकर—सद्भाग्य या दुर्भाग्य, सफलता या विफलता के रूप में प्रकट होते हैं ।

[ ३२३ ]

एवं पुरुषकारस्तु व्यापारबहुलस्तथा ।  
फलहेतुनियोगेन ज्ञयो जन्मान्तरेऽपि हि ॥

जीवन में किये जाने वाले अनेक प्रकार के कार्य पुरुषार्थरूप हैं, जो अवश्य ही दूसरे जन्म में भी फल देते हैं ।

[ ३२४ ]

अन्योन्यसंश्रयाच्चेवं द्वावप्येतौ विचक्षणैः ।  
उक्तावन्यैस्तु कर्मैव केवलं कालभेदतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ अन्योन्याश्रित हैं—एक दूसरे पर टिके हुए हैं, ऐसा विज्ञ पुरुषों ने बताया है । कई अन्य पुरुषों ने केवल कर्म को ही काल-भेद से फलप्रद कहा है । उनके अनुसार इसका अभिप्राय यह है कि सभी कार्यों में काल के अनुसार कर्म अनुकूल या प्रतिकूल भाव प्राप्त करता है ।

[ ३२५ ]

दैवमात्मकृतं विद्यात् कर्म यत् पौर्वदेहिकम् ।  
स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम् ॥

पूर्वदेह—पूर्व जन्म में अपने द्वारा किया गया कर्म दैव—भाग्य कहा जाता है । वर्तमान जीवन में जो कर्म किया जाता है, वह पुरुषकार या पुरुषार्थ कहा जाता है ।

[ ३२६ ]

नेदमात्मक्रियाभावे यतः स्वफलसाधकम् ।  
अतः पूर्वोक्तमेवेह लक्षणं तात्त्विकं तयोः ॥

पूर्वजन्म में किया गया कर्म वर्तमान में क्रिया के अभाव में—क्रिया

न करने पर अपना फल नहीं देता अतः भाग्य तथा पुरुषार्थ का जो पहले लक्षण बताया गया है, वही तात्त्विक है ।

[ ३२७ ]

देवं पुरुषकारेण दुर्बलं ह्युपहन्यते ।  
देवेन चैषोऽपीत्येतन्नान्यथा चोपपद्यते ॥

भाग्य जब दुर्बल होता है तो वह पुरुषार्थ द्वारा उपहत हो जाता है— प्रभावशून्य कर दिया जाता है । जब पुरुषार्थ दुर्बल होता है तो वह भाग्य द्वारा उपहत कर दिया जाता है । यदि भाग्य और पुरुषार्थ शक्तिमत्ता में असमान न हों तो यह पारस्परिक उपहनन—एक दूसरे को दबा लेने का क्रम संभव नहीं होता ।

[ ३२८ ]

कर्मणा कर्ममात्रस्य नोपघातादि तत्त्वतः ।  
स्वध्यापारगतत्वे तु तस्येतदपि युज्यते ॥

तत्त्वतः कर्म द्वारा कर्म का उपघात नहीं होता । जब वे कर्म अतीत एवं वर्तमान आदि अपेक्षाओं से आत्मा के साथ सम्बद्ध होते हैं, तभी परस्पर-उपघात संभव होता है ।

[ ३२९ ]

उभयोस्तत्स्वभावत्वे तत्कालाद्यपेक्षया ।  
बाध्यबाधकभावः स्यात् सम्यग्न्यायाविरोधतः ॥

भाग्य तथा पुरुषार्थ का अपना अपना स्वभाव है । भिन्न-भिन्न काल आदि की अपेक्षा से उनमें बाध्य-बाधक-भाव आता है ।

जो बाधित या उपहत करता है, वह बाधक कहा जाता है, जो बाधित या उपहत होता है, वह बाध्य कहा जाता है । इनका पारस्परिक सम्बन्ध बाध्य-बाधक-भाव है ।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सम्यक्त्वया युक्तिपूर्वक विचार किया जाए तो निर्बाधरूप में वस्तु का यथार्थ बोध प्राप्त होता है ।

[ ३३० ]

तथा च तत्स्वभावत्वनियमात् कर्तृकर्मणोः ।  
फलभावोऽन्यथा तु स्यान्न काङ्क्षुपाकवत् ॥

कर्ता तथा कर्म के अपने नियमानुगत—नियमित स्वभाव के कारण निश्चित फल की प्राप्ति होती है। यदि वैसा न हो तो जैसे कोरडू—पत्थर की तरह स्वभावतः कड़ा मूंग बहुत प्रयत्न करने पर भी नहीं पकता, उसी प्रकार उनके कर्म-समवाय का फल नहीं आता। सबलता-निर्बलता के कारण उपहत करने या उपहत होने की स्थिति नहीं बनती।

[ ३३१ ]

कर्मानियतभावं तु यत् स्याच्चित्रं फलं प्रति ।  
तद् बाध्यमत्र दावादि प्रतिमायोग्यता समम् ॥

यदि कर्म का अनियत भाव—अनिश्चित स्वरूप माना जाए अर्थात् वह कोई नियत—निश्चित फल नहीं देता, ऐसा स्वीकार किया जाए तो उसके फल अनिवार्यतया विविध प्रकार के हो जायेंगे, किसका क्या फल हो, यह निश्चित ही नहीं रहेगी। यदि काष्ठ स्वयं ही प्रतिमा की योग्यता प्राप्त करले, प्रतिमा हो जाए, तो उसमें कौन बाधक हो, क्योंकि प्रस्तुत अभिमत के अनुसार वस्तु की कोई नियतस्वभावात्मकता तो होती नहीं। इससे पुरुषार्थ की भी कोई सार्थकता नहीं रहती।

[ ३३२ ]

नियमात् प्रतिमा नात्र न चातोऽयोग्यतैव हि ।  
तल्लक्षणनियोगेन प्रतिमेवास्य बाधकः ॥

निश्चय ही काष्ठ-फलक जब तक अपने रूप में विद्यमान है, प्रतिमा नहीं है। काष्ठ-फलक में प्रतिमा होने की योग्यता है पर वैसी परिणति के लिए पुरुषार्थ चाहिए किन्तु वस्तु की अनियतभावात्मकता मान लेने पर पुरुषार्थ के अभाव में भी नहीं कहा जा सकता कि वह प्रतिमा नहीं हो सकती।

अपने लक्षण के आधार पर प्रतिमा ही इसमें बाधिका है कि विद्यमान काष्ठ-फलक प्रतिमा नहीं है क्योंकि प्रतिमा के लक्षण वहाँ नहीं मिलते ।

[ ३३३ ]

दावादेः प्रतिमाक्षेपे तद्भवः सर्वतो ध्रुवः ।  
योग्यस्यायोग्यता वेति न चैषा लोकसिद्धितः ॥

। यदि काष्ठ-फलक प्रतिमा बनने की योग्यता रखता है तो सर्वत्र अनिवार्यतः वह प्रतिमा बने । नहीं बनता है तो उसकी योग्यता बाधित होती है । पर, लोक में ऐसा प्राप्त नहीं होता । सभी काष्ठ-फलक प्रतिमा बन जाते हैं; ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता ।

[ ३३४ ]

कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे दानादौ भावभेदतः ।  
फलभेदः कथं नु स्यात् तथा शास्त्रादिसङ्गतः ॥

यदि कर्म पर भी इस सिद्धान्त को लागू किया जाए तो दान आदि पुण्य कार्यों का परिणाम-भेद से भिन्न-भिन्न फल आने का जो अपना नियत रूप है, जो शास्त्रानुगत है, वह भी नहीं टिक पाता ।

[ ३३५ ]

शुभात् ततस्त्वसौ भावो हन्ताऽयं तत्स्वभावभाक् ।  
एवं किमत्र सिद्धं स्यात् तत एवास्त्वतो ह्यदः ॥

दान आदि पुण्य कार्य करते समय जो मन में शुभ भाव उत्पन्न होता है, वह अतीत के शुभ कर्मों का परिणाम है । पूर्व आचीर्ण कर्मों का जैसा स्वभाव होता है, उनके अनुरूप ही भावों का स्वभाव होता है । अभी जो कर्म किये जाते हैं, कालान्तर में वे अतीत के कर्म होंगे, जिनके अनुरूप आगे भाव-निष्पत्ति होगी ।

यदि पूछा जाए, इससे क्या सिद्ध होता है, तो कथ्य तथ्य यह होगा कि शुभ कर्मों से शुभ भाव उत्पन्न होते हैं तथा शुभ भावों से शुभ कर्म ।

[ ३३६ ]

तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि तत्स्वभावत्वसंस्थितौ ।  
भवत्येवमिदं न्यायात् तत्प्रधान्याद्यपेक्षया ॥

भाग्य और पुरुषार्थ—दोनों की स्थिति प्रधान-गौण-भाव से अपने-अपने स्वभाव पर टिकी है। जब जो प्रधान—मुख्य या प्रबल होता है, तब वह दूसरे को उपहृत कराता है—प्रभावित करता है या दबाता है।

[ ३३७ ]

एवं च चरमावर्ते परमायेन बाध्यते ।  
दैवं पुरुषकारेण प्रायशो व्यत्ययोऽन्यदा ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में भाग्य पुरुषार्थ द्वारा वस्तुतः उपहृत होता है और उससे पूर्ववर्ती पुद्गलावर्तों में पुरुषार्थ भाग्य द्वारा उपहृत या पराभूत रहता है।

[ ३३८ ]

तुल्यत्वमेवमनयोर्व्यवहाराद्यपेक्षया ।  
सूक्ष्मबुद्ध्याऽवगन्तव्यं न्यायशास्त्राविरोधतः ॥

धर्मशास्त्र तथा तर्क के अनुसार, साथ ही साथ व्यावहारिक दृष्टि से भी भाग्य एवं पुरुषार्थ परस्पर तुल्य हैं, व्यक्ति को सूक्ष्म बुद्धिपूर्वक यह समझना चाहिए।

[ ३३९ ]

एवं पुरुषकारेण ग्रन्थिभेदोऽपि संगतः ।  
तदूर्ध्वं बाध्यते दैवं प्रायोऽयं तु विजृम्भते ॥

अन्तिम पुद्गल-परावर्त में पुरुषार्थ द्वारा जो ग्रन्थि-भेद की स्थिति आती है, वह सर्वथा संगत है। उससे ऊर्ध्ववर्ती विकास की यात्रा में, गुण-स्थानों के उत्थान-क्रम में प्रायः पुरुषार्थ द्वारा दैव या भाग्य उपहृत—बाधित रहता है।

[ ३४० ]

अस्यौचित्यानुसारित्वात् प्रवृत्तिर्नासती भवेत् ।  
सत्प्रवृत्तिश्च नियमाद् ध्रुवः कर्मक्षयो यतः ॥

यों जीव की जब औचित्यानुसारी—धर्मसाधनोचित प्रवृत्ति होने लगती है, वह असत् कार्यों में संलग्न नहीं होता। नियमपूर्वक श्रेष्ठ कार्यों में लगा रहता है, जिससे उसके संचित कर्मों का क्षय होता है।

[ ३४१ ]

संसारदस्य निर्वेदस्तथोच्चैः पारमार्थिकः ।

संज्ञानचक्षुषा सम्यक् तन्नैर्गुण्योपलब्धितः ॥

। ज्ञान रूपी नेत्र द्वारा सम्यक्तया तत्त्वावलोकन करने पर साधक को इस जगत् में सुख, समाधि, शान्ति आदि गुण दिखाई नहीं देते, जन्म, वृद्धावस्था, रोग, शोक, मृत्यु आदि ही दीखने लगते हैं। इसीलिए उसे परमार्थतः—यथार्थ रूप में संसार से वैराग्य हो जाता है।

[ ३४२ ]

मुक्तौ दृढानुरागश्च तथातद्गुणसिद्धितः ।

विपर्ययमहादुःखबीजनाशाच्च तत्त्वतः ॥

मुक्ति में उसका सुदृढ़ अनुराग हो जाता है क्योंकि वह मोक्षोपयोगी गुणों को पहले ही संग्रहीत कर चुकता है तथा विपरीत ज्ञान रूप महादुःख के बीज को वास्तव में नष्ट कर चुकता है।

[ ३४३ ]

एतत्यागाप्तिसिद्धयर्थमन्यथा तदभावतः ।

अस्यौचित्यानुसारित्वमलमिष्टार्थसाधनम् ॥

सांसारिक प्रवृत्तियों का त्याग तथा मोक्ष-प्राप्ति का लक्ष्य लिए साधक मोक्षानुरूप या अध्यात्म-योग-संगत कार्य-विधि में प्रवृत्त रहता है, जिससे वह अपना इष्ट—आध्यात्मिक दृष्टि से अभीप्सित लक्ष्य साध लेता है। जो ऐसा नहीं करता, वह संसार-वृद्धि करने वाली प्रवृत्ति को छोड़ नहीं सकता।

[ ३४४ ]

औचित्यं भावतो यत्र तत्रायं संप्रवर्तते ।

उपदेशं विनाऽप्युच्चैरन्तस्तेनैव चोदितः ॥

जहाँ भावों में औचित्य—उचित स्थिति, उज्ज्वलता, पवित्रता होती है, वहाँ व्यक्ति बिना विशेष उपदेश के ही अन्तःप्रेरणा से स्वयं प्रेरित होकर सत्कार्य में प्रवृत्त होता है ।

[ ३४५ ]

अतस्तु भावो भावस्य तत्त्वतः संप्रवर्तकः ।

शिराकूपे पय इव पयोवृद्धेनियोगतः ॥

वास्तव में मनुष्य का एक पवित्र भाव दूसरे पवित्र भाव को उत्तरोत्तर उत्पन्न करता जाता है । जैसे कुए के भीतर भूमिवर्ती जल-प्रणालिका द्वारा अनवरत जल-वृद्धि होती रहती है, उसी प्रकार यह पवित्र भावमयी परंपरा उत्तरोत्तर वृद्धिगत होती रहती है—विकसित हो जाती है ।

[ ३४६ ]

निमित्तमुपदेशस्तु पवनादिसमो मतः ।

अनैकान्तिकभावेन सतामत्रैव वस्तुनि ॥

जैसे कुए को सफाई—जल-प्रणालिका के समीपवर्ती पत्थर, कदम आदि को हटाना जल-वृद्धि का निमित्त बनता है, उसी प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में जैसा कि सत्पुरुष बतलाते हैं, अन्य का उपदेश निमित्त रूप में प्रेरक होता है पर वह ऐकान्तिक रूप में वैसा हो ही, यह बात नहीं है । वह सामान्यतया वैसी प्रेरणा करता है ।

[ ३४७ ]

प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौचित्येनोत्तरं भवेत् ।

तदाश्रित्योपदेशोऽपि ज्ञेयो विध्यादिगोचरः ॥

औचित्यपूर्ण सदनुष्ठान क्रियान्वित करने से आगे भी वैसे पवित्र अनुष्ठान में प्रवृत्ति होती है । ऐसे सदनुष्ठान पुरुष को उद्दिष्टकर शास्त्र-विधि—शास्त्र-सम्मत आचार के सम्बन्ध में उपदेश किया जाए—यह जानना चाहिए ।

[ ३४८ ]

प्रकृतेर्वाऽऽनुगुण्येन चित्रः सद्भावसाधनः ।

गम्भीरोक्त्या मितश्चैव शास्त्राध्ययनपूर्वकः ॥

गंभीर उक्ति द्वारा शास्त्राध्ययनपूर्वक—शास्त्र के उद्धरण प्रस्तुत करते हुए परिमित शब्दों में श्रोता की प्रकृति के गुणानुरूप दिया गया उपदेश उनमें अनेक प्रकार से सात्त्विक भाव उत्पन्न करने का हेतु बनता है।

[ ३४६ ]

शिरोदकसमो भाव आत्मन्येव व्यवस्थितः ।  
प्रवृत्तिरस्य विज्ञेया चाभिव्यक्तिस्ततस्ततः ॥

जैसे कुए की अन्तर्वर्ती जल-प्रणालिका जल का मूल स्रोत है, मूलतः जल वहीं होता है, बाह्य साधन, प्रयत्न उसे अभिव्यक्ति देते हैं—प्रकट करते हैं। वैसे ही मोक्षोपयोगी उत्तमभाव वास्तव में आत्मा में ही विशेष रूप से अवस्थित हैं, साधना के उपक्रम उन्हें अभिव्यक्त करते हैं।

[ ३५० ]

सत्क्षयोपशमात् सर्वमनुष्ठानं शुभं मतम् ।  
क्षीणसंसारचक्राणां ग्रन्थिभेदादयं यतः ॥

जिनका संसार चक्र—जन्म-मरण का चक्र ग्रन्थि-भेद हो जाने से लगभग क्षीण होने के समोप होता है, सत्क्षयोपशम के कारण उनके सभी अनुष्ठान शुभ माने गये हैं।

[ ३५१ ]

भाववृद्धिरतोऽवश्यं सानुबन्धं शुभोदयम् ।  
गीयतेऽन्यैरपि ह्येतत् सुवर्णघटसन्निभम् ॥

उनसे अवश्य ही पवित्र भावों की वृद्धि होती है, जो पुण्य पूर्ण परंपरा की शृंखला के रूप में आगे चलती रहती है। अन्य सैद्धान्तिकों ने इसे स्वर्णघट के समान बताया है, टूटने पर भी जिसका मूल्य कम नहीं होता।



चारित्री—

[ ३५२ ]

एवं तु वर्तमानोऽयं चारित्री जायते ततः ।  
पत्योपमपृथक्त्वेन विनिवृत्तेन कर्मणः ॥

पूर्वोक्त सद्गुणान में प्रवृत्त साधक के जब दो से नौ पत्योपम तक के मध्य की कोई एक अवधि-परिमित कर्म विनिवृत्त हो जाते हैं—उनसे वह छुटकारा पा लेता है, तब चारित्री होता है ।

यहाँ प्रयुक्त 'पत्योपम' शब्द एक विशेष, अति दीर्घकाल का द्योतक है । जैन वाङ्मय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है ।

पत्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है । उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पत्योपम' कही जाती है ।

पत्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पत्योपम, २. अद्धा-पत्योपम, ३. क्षेत्र-पत्योपम ।

उद्धार-पत्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो । एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात यौगलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएँ, उनसे ठूस-ठूस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाए । भराव इतना सघन हो कि अग्नि उन्हें जला न सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह वह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके । यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खण्ड निकाला जाय । यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पत्योपम कहा जाता है । उद्धार का अर्थ निकालना है । बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार पत्योपम है । यह संख्यात-समय-परिमाण माना जाता है ।

उद्धार पत्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक । उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पत्योपम का है । सूक्ष्म उद्धार-पत्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पत्योपम में कुए को भरने में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों की चर्चा आयी है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात, अदृश्य खण्ड किए जाएं । उन सूक्ष्म खण्डों से पूर्व वर्णित कुआ ठूस-ठूस कर भरा जाए । वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खण्ड कुए में से निकाला जाय । यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पत्योपम कहा जाता है । इसमें संख्यात-वर्ष कोटि परिमाण काल माना जाता है ।

अद्धा-पत्योपम—अद्धा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है । आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पत्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पत्योपम से है । इसकी गणना का क्रम इस प्रकार है—यौगलिक के बालों के टुकड़ों से भरे हुए कुए में से सौ सौ वर्ष में एक-एक-टुकड़ा निकाला जाय । इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्धा-पत्योपम कहा जाता है । इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है ।

अद्धा-पत्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक । यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्धा-पत्योपम का है । जिस प्रकार, सूक्ष्म उद्धार पत्योपम में यौगलिक शिशु के बालों के टुकड़ों के अंख्यात अदृश्य खण्ड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहाँ भी वैसे ही असंख्यात, अदृश्य केश खण्डों से वह कुआ भरा जाय । प्रति सौ वर्ष में एक खण्ड निकाला जाय । यों निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म-अद्धा-पत्योपम कोटि में आता है । इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है ।

क्षेत्र-पत्योपम—ऊपर जिस कुए या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, यौगलिक के बाल खण्डों से उपर्युक्त रूप में दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खण्डों के बीच में आकाश प्रदेश—रिक्त स्थान रह जाते हैं ।

वे खण्ड चाहे कितने ही छोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त्त है। स्थूल रूप में उन खण्डों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े-कोठे को कूष्मांडों—कुम्हड़ों से भर दिया गया। सामान्यतः देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नीबू और भरे जाएँ तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबूओं से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना चाहें तो वे भी समा जायेंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रहता है। यदि नदी के रज-कण उसमें भरे जाएँ, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनो हुई दीवाल में हमें कोई स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूंटियाँ, कीलें गाड़ सकते हैं। यदि वास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु।

क्षेत्र पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत यौगलिक के बालों के खण्डों के बीच-बीच में जो आकाश प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। यौगलिक के बालों के खण्डों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रतिसमय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएँ, कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे क्षेत्र-पल्योपम कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्म-क्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए में भरे यौगलिक के केश-खण्डों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में

एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ समग्र आकाश-प्रदेशों से रिक्त हो जाए, वह कालपरिमाण सूक्ष्म-क्षेत्र-पत्योपम है। इसका भी काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पत्योपम से इसका काल अंख्यात गुणा अधिक होता है।<sup>१</sup>

इस कोड़ाकोड़ पत्योपम को सागरोपम कहा जाता है। अर्थात् दस करोड़ पत्योपम को एक करोड़ पत्योपम से गुणा करने से जो गणनफल आता है, वह एक सागरोपम है।<sup>२</sup>

[ ३५३ ]

लिङ्गं मार्गानुसार्येष श्राद्धः प्रज्ञापनाप्रियः ।  
गुणरागी महासत्त्वः सच्छक्यारम्भसंगतः ॥

अध्यात्म-पथ का अनुसरण, श्रद्धा, धर्मोपदेश-श्रवण में अभिरुचि, गुणों में अनुराग, सद्गुणानुष्ठान में पराक्रमशीलता तथा यथाशक्ति धर्मानुपालन ये चारित्री के लक्षण हैं।

[ ३५४-३५५ ]

असातोदयशून्योऽन्धः कान्तारपतितो यथा ।  
गर्तादिपरिहारेण सम्यक् तत्राभिगच्छति ॥  
तथाऽयं भवकान्तारे पापादिपरिहारतः ।  
श्रुतचक्षुर्विहीनोऽपि सत्सातोदयसंयुतः ॥

गहन वन में भटका हुआ अन्धा पुरुष, जिसके असात-वेदनीय—दुःख-प्रद कर्मों का उदय नहीं है, खड्डे आदि से बचता हुआ सही सलामत अपने मार्ग पर चलता जाता है, उसी प्रकार संसाररूपी भयावह वन में भटकता हुआ वह पुरुष, जिसके सात-वेदनीय—सुखप्रद कर्मों का उदय है, अपने को पापों से बचाता हुआ शास्त्र-ज्ञानरूपी नेत्र से रहित होते हुए भी धर्म-पथ पर गतिशील रहता है।

१. अनुयोगद्वार सूत्र १३८-१४० तथा प्रबचन सारोद्धार द्वार १५८ में पत्योपम का विस्तार से विवेचन है।

२. स्थानांग सूत्र २४६६

[ ३५६ ]

अनोदृशस्य तु पुनश्चारित्रं शब्दमात्रकम् ।  
ईदृशस्यापि वैकल्यं विचित्रत्वेन कर्मणाम् ॥

जो ऐसा नहीं है—इन गुणों से हीन है, उसके चारित्र नाम मात्र का—केवल वेश आदि बाह्य चिन्हों के रूप में होता है ।

जो ऐसा है—इन गुणों से युक्त होता है, उसके भी पूर्व-संचित कर्मों की विचित्रता—प्रतिकूल प्रभावकारिता के कारण चारित्र में दोष आ जाता है ।

[ ३५७ ]

देशादिभेदतश्चित्रमिदं चोक्तं महात्मभिः ।  
अत्र पूर्वोदितो योगोऽध्यात्मादिः संप्रवर्तते ॥

देश (अंशतः परिपालन) आदि के भेद से महान् पुरुषों ने चारित्र अनेक प्रकार का बतलाया है । पूर्व-वर्णित अध्यात्म आदि योग में चारित्री संप्रवृत्त होते हैं—अभ्यासरत रहते हैं ।

[ ३५८ ]

औचित्याद् वृत्तमुक्तस्य वचनात् तत्त्वचिन्तनम् ।  
मैत्र्यादिसारमत्यन्तमध्यात्मं तद्विदो विदुः ॥

औचित्यपूर्ण—विधिवत् चारित्र्यसेवी पुरुष का शास्त्रानुगामी तत्त्व-चिन्तन, मैत्री, करुणा, प्रमोद तथा माध्यस्थ्य रूप उत्तम भावनाओं का जीवन में सम्यक् स्वीकार ज्ञानी जनों द्वारा अध्यात्म कहा जाता है ।

[ ३५९ ]

अतः पापक्षयः सत्त्वं शीलं ज्ञानं च शाश्वतम् ।  
तथानुभवसंसिद्धममृतं ह्यद एव तु ॥

इससे पापों का क्षय होता है, आत्मपराक्रम जागरित होता है तथा पवित्र आचरण उदित होता है, तथा अविनश्वर ज्ञान स्वायत्त होता है, जो अनुभव-संसिद्ध—अनुभूति-प्रसूत अमृत है ।

[ ३६० ]

अभ्यासोऽस्यैव विज्ञेयः प्रत्यहं वृद्धिसंगतः ।  
मनः समाधिसंयुक्तः पौनः पुन्येन भावना ॥

इसका अभ्यास करने से, पुनः पुनः भावना करने से योगवृद्धि—योग-भावना का, योग साधना का विकास होता है, चित्त समाधियुक्त होता है—चित्त में शान्तिमय स्थिति का समावेश होता है। इसे भलीभाँति समझना चाहिए ।

[ ३६१ ]

निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्छुभाभ्यासानुकूलता ।  
तथा सुचित्तवृद्धिश्च भावनायाः फलं मतम् ॥

भावानुभावित रहने के फल-स्वरूप अशुभ अभ्यास—पापमय आचरण से निवृत्ति, शुभ योगाभ्यास में अनुकूलता—निर्बाध प्रगति तथा चित्त में पवित्रता की उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ।

ध्यान—

[ ३६२ ]

शुभैकालम्बनं चित्तं ध्यानमाहुर्मनीषिणः ।  
स्थिरप्रदीपसदृशं सूक्ष्माभोगसमन्वितम् ॥

शुभ प्रतीकों का एकाग्रतया आलम्बन—उन पर चित्त का स्थिरीकरण मनीषी—ज्ञानी जनों द्वारा ध्यान कहा जाता है। वह दीपक की स्थिर लौ के समान ज्योतिर्मय होता है, सूक्ष्म तथा अन्तःप्रविष्ट चिन्तन से समायुक्त होता है ।

[ ३६३ ]

वशिता चैव सर्वत्र भावस्तैमित्यमेव च ।  
अनुबन्धव्यवच्छेद उदर्कोऽस्येति तद्विदः ॥

ध्यान के फलस्वरूप वशिता—आत्मवशता, आत्म-नियन्त्रण या जितेन्द्रियता अथवा सर्वत्र प्रभविष्णुता, सब पर अक्षुण्ण प्रभावशीलता,

मानसिक स्थिरता तथा संसारानुबन्ध—भव-परंपरा का उच्छेद जन्म-मरण से उन्मुक्त भाव सिद्ध होता है। यह ध्यान-वेत्ताओं का अभिमत है।

समता—

[ ३६४ ]

अविद्याकल्पितेषूच्चैरिष्टानिष्टेषु वस्तुषु ।  
संज्ञानात् तद्व्युदासेन समता समतोच्यते ॥

अविद्या, माया या अज्ञान द्वारा परिकल्पित इष्ट—इच्छित, अनिष्ट—अनिच्छित वस्तुओं की यथार्थता का सम्यक् बोध हो जाने से उधर का आकर्षण, अनाकर्षण अपगत हो जाता है, निःस्पृहता आ जाती है। दोनों के प्रति समानता का भाव उत्पन्न हो जाता है। उसे समता कहते हैं।

[ ३६५ ]

ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव सूक्ष्मकर्मक्षयस्तथा ।  
अपेक्षातन्तुविच्छेदः फलमस्याः प्रचक्षते ॥

समता आ जाने पर योगी की वृत्ति में एक ऐसा वैशिष्ट्य आ जाता है कि वह प्राप्त ऋद्धियों—विभूतियों या चामत्कारिक शक्तियों का प्रयोग नहीं करता, उसके सूक्ष्म कर्मों का क्षय होने लगता है, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं के तन्तु टूटने लगते हैं।

यह साम्यभाव की दिव्यावस्था है।

[ ३६६ ]

अन्यसंयोगवृत्तीनां यो निरोधस्तथा तथा ।  
अपुनर्भारूपेण स तु तत्संक्षयो मतः ॥

पर-पदार्थों के संयोग से आत्मा में उत्पन्न होने वाली वैभाविक वृत्तियों का अनेक प्रकार से वैसा निरोध, जिससे वे पुनः उत्पन्न न हों, वृत्तिसंक्षय कहा जाता है।

[ ३६७ ]

अतोऽपि केवलज्ञानं शैलेशीसंपरिग्रहः ।  
मोक्षप्राप्तिरनाबाधा सदानन्दविधायिनी ॥

वृत्ति-संक्षय से सर्वज्ञता, शैलेशी-अवस्था, मानसिक, कायिक, वाचिक प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध, मेरुवत् अप्रकम्प, अडोल स्थिति तथा निर्बाध, आनन्दविधायक—परमानन्दमय मोक्ष-पद की प्राप्ति होती है।

जैन-दर्शन के अनुसार तेरहवें गुणस्थान में सर्वज्ञता तथा चवदहवें गुणस्थान में शैलेशी-अवस्था प्राप्त होती है।

तात्त्विक : अतात्त्विक—

[ ३६८ ]

तात्त्विको ऽतात्त्विकश्चायमिति यच्चोदितं पुरा ।  
तास्येदानीं यथायोगं योजनाऽत्राभिधीयते ॥

तात्त्विक तथा अतात्त्विक यों पहले योग के जो भेद बताये हैं, वे किस-किस श्रेणी के पुरुषों के सधते हैं, इत्यादि दृष्टिकोण से यहाँ उनका विवेचन किया जा रहा है।

[ ३६९ ]

अपुनर्बन्धकस्यायं व्यवहारेण तात्त्विकः ।  
अध्यात्मभावनारूपो निश्चयेनोत्तरस्य तु ॥

अध्यात्मयोग तथा भावनायोग अपुनर्बन्धक के व्यवहार-दृष्टि से और चारित्र्य के निश्चय-दृष्टि से सधते हैं।

इस श्लोक में सम्यक्दृष्टि का उल्लेख नहीं है। टीकाकार के अनुसार प्रस्तुत सन्दर्भ में उसे अपुनर्बन्धक के साथ जोड़ा जा सकता है।

[ ३७० ]

सकृत्तावर्तनादीनामतात्त्विक उदाहृतः ।  
प्रत्यपायफलप्रायस्तथावेषादिमात्रतः ॥

सकृत् आवर्तन में विद्यमान तथा उन जैसे और व्यक्तियों के अध्यात्म-योग एवं भावना-योग अतात्त्विक होते हैं। क्योंकि उनमें साधकों जैसा वेष आदि केवल बाह्य प्रदर्शन होता है। जो आचरण वे करते हैं, प्रायः अनिष्ट-कर तथा दुर्भाग्यपूर्ण फलप्रद होता है।

जिस पुद्गल-परावर्त को पार कर व्यक्ति चरम-पुद्गल-परावर्त में



आता है, वह (चरम-पुद्गल-परावर्त से पूर्व का अन्तिम आवर्त) सकृत् आवर्त या सकृत् आवर्तन कहा जाता है।

[ ३७१ ]

चारित्रिणस्तु विज्ञेयः शुद्ध्यपेक्षो यथोत्तरम् ।  
ध्यानादिरूपो नियमात् तथा तात्त्विक एव तु ॥

चारित्र्यी को ध्यान, समता तथा वृत्तिसंक्षय संज्ञक योग उसकी शुद्धि—आन्तरिक निर्मलता के अनुरूप निश्चित रूप में प्राप्त होते हैं। वे तात्त्विक होते हैं।

[ ३७२ ]

अस्यैव त्वनपायस्य सानुबन्धस्तथा स्मृतः ।  
यथोदितक्रमेणैव सापायस्य तथाऽपरः ॥

अपाय—विघ्न या साधनाविपरीत स्थिति से जो बाधित नहीं हैं, उनको उत्तरवर्ती विकास शृंखला सहित यथावत् रूप में योग प्राप्त होता है।

जो अपाययुक्त हैं उनके लिए ऐसा नहीं होता है।

[ ३७३ ]

अपायमाहुः कर्मैव निरपायाः पुरातनम् ।  
पापाशयकरं चित्रं निरुपक्रमसंज्ञकम् ॥

अपायरहित—निर्बाधिरूप में साधना-परायण महापुरुषों ने अतीत में संचित पापाशयकर हिंसा, असत्य, चौक्य, लोभ, अहंकार, छल, क्रोध, द्वेष, व्यभिचार आदि से सम्बद्ध विविध कर्मों को अपाय कहा है। वे निरुपक्रम संज्ञा से भी अभिहित हुए हैं। उनका फल अवश्य भोगना होता है।

[ ३७४ ]

कण्टकज्वरमोहैस्तु समो विघ्नः प्रकीर्तितः ।  
मोक्षमार्गप्रवृत्तानामत एवापरैरपि ॥

अन्य विचारकों ने भी मोक्ष-मार्ग में प्रवृत्त साधकों के लिए कण्टक-विघ्न, ज्वर-विघ्न तथा मोक्ष-विघ्न के रूप में आनेवाली बाधाओं की चर्चा की है ।

राहगीर के पैर में काँटा चुभ जाए तो उसकी गति रुक जाती है, यदि वह यात्रा के बीच में ज्वर-ग्रस्त हो जाए तो भी आगे चलने में बाधा आजाती है और यदि वह दिग्भ्रान्त हो जाए—उसे दिशाओं का यथावत् ज्ञान न रहे तो आगे चलना कठिन हो जाता है, ऐसी ही विघ्नपूर्ण स्थितियाँ साधक के समक्ष आती हैं, जिन्हें उसे पार करते हुए आगे बढ़ना होता है ।

सास्रव : अनास्रव—

[ ३७५ ]

अस्यैव सास्रवः प्रोक्तो बहुजन्मान्तरावहः ।  
पूर्वव्यावर्णितन्यायादेकजन्मा त्वनास्रवः ॥

योग का पूर्व-वर्णित एक भेद सास्रवयोग है, जो उस साधक के सधता है, जिसके अन्तिम मंजिल—मोक्ष तक पहुँचने में अभी अनेक जन्म पार करना बाकी होता है ।

पहले किये गये विवेचन के अनुसार निरास्रव-योग उस साधक के सधता है, जिसे केवल एक ही जन्म में से गुजरना होता है, आगे जन्म नहीं लेना पड़ता ।

[ ३७६ ]

आस्रवो बन्धहेतुत्वाद् बन्ध एवैह यन्मतः ।  
स सांपरायिको मुख्यस्तदेषोऽर्थोऽस्य संगतः ॥

आस्रव कर्म-बन्ध का हेतु है, इसलिए एक दृष्टि से वह बन्ध ही है । वस्तुतः कर्म-बन्ध का मुख्य कारण कषाय—कषायानुप्रेरित आस्रव है । बन्ध के साथ उसी की वास्तविक संगति है ।

[ ३७७ ]

एवं चरमदेहस्य संपरायवियोगतः ।  
इत्वरस्रवभावेऽपि स तथाऽनास्रवो मतः ॥

जो चरम-शरीरी है—वर्तमान शरीर के बाद जिसे और शरीर धारण नहीं करना है, मुक्त होना है, जिसके संपराय-वियोग—कषाय-वियोग सध गया है—जिसके कषाय नहीं रहे हैं, उसके सांपरायिक आस्रव-बन्ध नहीं होता। वैसी स्थिति में अन्य—अति सामान्य आस्रव के गतिमान् रहने पर भी वह अनास्रव कहा जाता है, क्योंकि वह बन्ध बहुत मन्द, अल्प एवं हल्का होता है।

जैन-दर्शन के अनुसार बारहवें क्षीणमोह तथा तेरहवें संयोग केवली गुणस्थान में इसी प्रकार का कर्म-बन्ध होता है। प्रस्तुत विवेचन के अनुसार जो पारिभाषिक रूप में अनास्रव-कोटि में आता है।

[ ३७८ ]

निश्चयेनात्र शब्दार्थः सर्वत्र व्यवहारतः ।  
निश्चय-व्यवहारौ च द्वावप्यभिमतार्थदौ ॥

अनास्रव का अर्थ निश्चय नय के अनुसार सर्वथा आस्रव-रहित अवस्था है और व्यवहार-नय के अनुसार सांपरायिक आस्रव-रहित अवस्था, जो लगभग आस्रव-रहितता के निकट होती है, वहाँ से व्यक्ति शीघ्र अनास्रव-दशा प्राप्त कर लेता है।

व्यवहार-नय द्वारा प्रतिपादित अर्थ भी निश्चय-नय के विपरीत नहीं जाता, सर्वत्र तत्संगत ही होता है। यों निश्चय तथा व्यवहार—दोनों ही अभिमत—यथार्थतः स्वीकृत अर्थ ही प्रकट करते हैं।

उपसंहार—

[ ३७९ ]

संक्षेपात् सफलो योग इति संदर्शितो ह्ययम् ।  
आद्यन्तौ तु पुनः स्पष्टं ब्रूमोऽस्यैव विशेषतः ॥

संक्षेप में योग का फल सहित वर्णन किया जा चुका है। आदि—अध्यात्म तथा अन्त—वृत्तिसंक्षय का विशेष रूप से पुनः स्पष्टीकरण कर रहे हैं।

[ ३८० ]

तत्त्वचिन्तनमध्यात्ममौचित्यादियुतस्य तु ।  
उक्तं विचित्रमेतच्च तथावस्थादिभेदतः ॥

जैसा व्याख्यात हुआ है, औचित्ययुक्त—समुचित, शास्त्रसमर्थित क्रिया-प्रक्रिया में संलग्न पुरुष द्वारा किया जाता तत्त्व-चिन्तन अध्यात्म है। अवस्था आदि के भेद से वह विविध प्रकार का है।

[ ३८१ ]

आदिकर्मकमाश्रित्य जपो ह्यध्यात्ममुच्यते ।  
देवतानुग्रहाङ्गत्वादतोऽयमभिधीयते ॥

योग के आदि—प्रारम्भिक कर्म के रूप में अथवा जो पुरुष योग में प्रविष्ट हो रहा हो, नवाभ्यासी हो, उसकी दृष्टि से जप अध्यात्म है—अध्यात्म का प्रारम्भिक रूप है। जप देवता के अनुग्रह का अंग है—उससे देवानुग्रह प्राप्त होता है। जप सम्बन्धी विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

जप—

[ ३८२ ]

जपः सन्मन्त्रविषयः स चोक्तो देवतास्तवः ।  
दृष्टः पापापहारोऽस्माद् विषापहरणं यथा ॥

उत्तम मन्त्र जप का विषय है। वह देव स्तवन के रूप में होता है। जैसे मन्त्र-प्रयोग से सर्प आदि का विष दूर हो जाता है, उसी प्रकार मन्त्र-जप से पाप का अपहार—अपगम हो जाता है—आत्मा से पाप दूर हो जाते हैं।

[ ३८३ ]

देवतापुरतो वाऽपि जले वाऽकलुषात्मनि ।  
विशिष्टद्रुमकुञ्जे वा कर्तव्योऽयं सतां मतः ॥

सत्पुरुषों का अभिमत है कि जप देवता के समक्ष, शुद्ध जलमय नदी, सरोवर, कूप, वापी आदि के तट पर या किसी विशिष्ट द्रुम-कुंज में—मण्डप की तरह छाये वृक्ष युक्त स्थान में करना चाहिए।

[ ३८४-३८५ ]

पर्वोपलक्षितो यद् वा पुत्रंजीवकमालया ।  
 नासाग्रस्थितया दृष्टया प्रशान्तेनान्तरात्मना ॥  
 विधाने चेतसो वृत्तिस्तद्वर्णेषु यथेष्यते ।  
 अर्थे चालम्बने चैव त्यागश्चोपप्लवे सति ॥

जप के समय हाथ का अँगूठा अपनी अँगुलियों के पोरों (पैरवों) पर अथवा रूद्राक्ष की माला के मनकों पर चलता रहे । दृष्टि नासिका के अग्र भाग पर टिकी रहे । अन्तरात्मा में प्रशान्त भाव रहे । चित्त-वृत्ति जप के विषय, अक्षर, तद्गत अर्थ, आलम्बन—विषयगत मूल आधार के साथ संलग्न रहे । उपप्लव—मानसिक बाधा या विघ्न की अनुभूति हो, तब जप करना बन्द कर देना चाहिए ।

[ ३८६ ]

मिथ्याचारपरित्याग आश्वासात् तत्र वर्तनम् ।  
 तच्छुद्धिकामता चेति त्यागोऽत्यागोऽयमीदृशः ॥

मानसिक बाधा आदि आने पर जो जप का त्याग किया जाता है, वह (त्याग) वास्तव में त्याग न होकर अत्याग की श्रेणी में आता है । क्योंकि उससे मिथ्याचार—केवल कृत्रिम रूप में करिष्यमाण सत्परिणाम-शून्य क्रिया का त्याग होता है । उस त्याग के फलस्वरूप अन्तर्विश्वास या आस्थापूर्वक पुनः जप करने की वृत्ति सुदृढ़ होती है । जप में सदा शुद्धि बनी रहे, यह भावना जागरित होती है ।

[ ३८७ ]

यथाप्रतिज्ञमस्येह कालमानं प्रकीर्तितम् ।  
 अतो ह्यकरणे ऽप्यत्र भाववृत्तिं विदुर्बुधाः ॥

जप की समयावधि अपनी-अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार है । अर्थात् जितने समय जप करने की भावना हो, साधक उतने समय के लिए जप करने की प्रतिज्ञा करे । तदनुरूप यथाविधि जप संपादित करे ।

विद्वानों का ऐसा अभिमत है कि यों प्रतिज्ञापूर्वक जप करने वाले

के व्यक्तित्व में ऐसी पवित्रता आ जाती है कि जिस समय वह जप नहीं करता हो, उस समय भी उसकी अन्तर्वृत्ति जप पर ही केन्द्रित रहती है।

[ ३८८ ]

मुनीन्द्रैः शस्यते तेन यत्नतोऽभिग्रहः शुभः ।  
सदाऽतो भावतो धर्मः क्रियाकाले क्रियोद्भवः ॥

जप के सन्दर्भ में किये जाते विशेष लक्ष्यपूर्ण शुभ संकल्प की मुनिवर्य प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उससे क्रियोचित समय में क्रिया परि-सम्पन्न होती है। उसके फलस्वरूप भाव-धर्म अन्तःशुद्धिमूलक अध्यात्म धर्म निष्पन्न होता है।

योग्यतांकन —

[ ३८९ ]

स्वौचित्यालोचनं सम्यक् ततो धर्मप्रवर्तनम् ।  
आत्मसंप्रेक्षणं चैव तदेतदपरे जगुः ॥

कतिपय अन्य विचारकों के अनुसार अपने औचित्य—योग्यता का सम्यक् आलोचन—भली-भाँति अंकन, तदनुसार धर्म में प्रवृत्ति तथा आत्म-संप्रेक्षण—आत्मावलोकन अध्यात्म है।

[ ३९० ]

योगेभ्यो जनवादाच्च लिङ्गैर्भ्योऽथ यथागमम् ।  
स्वौचित्यालोचनं प्राहुर्योगमार्गकृतश्रमाः ॥

जिन्होंने योग के मार्ग में श्रम किया है—जो तपे हुए योग साधक हैं, वे बतलाते हैं कि साधक योग द्वारा, जनवाद द्वारा तथा शास्त्र-वर्णित चिन्हों द्वारा अपनी योग्यता का अवलोकन करें।

[ ३९१ ]

योगाः कायादिकर्माणि जनवादस्तु तत्कथा ।  
शकुनादीनि लिङ्गानि स्वौचित्यालोचनास्पदम् ॥

योग का तात्पर्य शारीरिक, मानसिक, वाचिक प्रवृत्ति है। जनवाद का अर्थ अपने सम्बन्ध में लोगों में प्रचलित बातें, अफवाहें हैं। लिङ्ग का अर्थ शकुन आदि चिन्ह हैं। इनसे अपने औचित्य या योग्यता का निरीक्षण-परीक्षण किया जा सकता है।

[ ३६२ ]

एकान्तफलदं ज्ञेयमतो धर्मप्रवर्तनम् ।  
अत्यन्तं भावसारत्वात् तत्रैवाप्रतिबन्धतः ॥

अपनी योग्यता का अंकन कर धर्म में प्रवृत्त होना एकान्तरूपेण—निश्चित रूप से फलप्रद है। वैसा करते साधक के मन में अत्यन्त उच्च भाव रहता है। उसकी सत्यवृत्ति में कोई प्रतिबन्ध या विघ्न नहीं आता।

[ ३६३ ]

तद्भङ्गादिभयोपेतस्तत्सिद्धी चोत्सुको दृढम् ।  
यो धीमानिति सन्न्यायात् स यदौचित्यमीक्षते ॥

जो अपने सत्प्रयत्न में विघ्न, बाधा आदि से भय मानता हुआ जागरूक रहता है, सफल होने का उत्साह लिए रहता है, जो बुद्धिमान है, वह न्याययुक्तिपूर्वक अपनी योग्यता को आँक लेता है।

[ ३६४-३६५ ]

आत्मसंप्रेक्षणं चैव ज्ञेयमारब्धकर्मणि ।  
पापकर्मादियादत्र भयं तदुपशान्तये ॥  
विस्त्रोतोगमने न्याय्यं भयादौ शरणादिवत् ।  
गुर्वाद्याभरणं सम्यक् ततः स्याद् दुरितक्षयः ॥

अतोत में आचरित अशुभ कर्मों के उदय से मन में यह भय हो जाता है कि कहीं कोई विघ्न न आ जाए। इस भय को उपशान्त करने हेतु साधक, जिसने योगानुष्ठान आरम्भ किया हो, आत्मावलोकन करे—यह देखे कि कहीं अपने सदनुष्ठान के यथावत् आचरण में उससे कोई भूल तो नहीं हो रही है।

यदि साधक को ऐसा भान हो, उसकी आत्मा विपरीत—योग-साधना के प्रतिकूल प्रवाह में बह रही है तो जैसे भय, खतरा उत्पन्न हो जाने पर व्यक्ति बचने के लिए सुरक्षित स्थान में चला जाता है, वैसे ही उसे गुरु आदि महान् पुरुषों की शरण में चला जाना चाहिए। इससे भय, खतरा टल जाता है।

[ ३६६ ]

सर्वमेवेदमध्यात्मं कुशलाशयभावतः ।  
औचित्याद् यत्र नियमाल्लक्षणं यत् पुरोदितम् ॥

उचित रूप में, नियमित रूप में पूर्व वर्णित लक्षण जहाँ घटित होते हैं, वह सब, पुण्यात्मक परिणामों के कारण अध्यात्म है।

देव-वन्दन—

[ ३६७ ]

देवादिवन्दनं सम्यक् प्रतिक्रमणमेव च ।  
मैत्र्यादिचिन्तनं चैतत् सत्त्वादिष्वपरे जगुः ॥

देव आदि का भली-भाँति वन्दन-पूजन करना, यथाविधि प्रतिक्रमण करना—अपने द्वारा हुई भूलों के लिए प्रायश्चित्त करना, आत्म-मार्जन करना, मैत्री, कहगा, प्रमोद, माध्यस्थ्य रूप भावनाओं का चिन्तन-अनुचिन्तन करना अध्यात्म है। ऐसा कुछ लोगों का कहना है।

[ ३६८-३६९ ]

स्थानकालक्रमोपेतं शब्दार्थानुगतं तथा ।  
अन्यासंमोहजनकं श्रद्धासंवेगसूचकम् ॥  
प्रोल्लसद्भावरोमाञ्चं वर्धमानशुभाशयम् ।  
अवनामादिसंशुद्धमिष्टं देवादिवन्दनम् ॥

उचित आसन, विहित समय, विधिक्रम का ध्यान रखना, स्तवनरूप में उच्चारित होते शब्दों के अर्थ पर गौर करते जाना, पूजारत अन्य व्यक्ति के मन में भ्रम, अव्यवस्था उत्पन्न न करना, श्रद्धा तथा तीव्र उत्साह लिए रहना, भक्तिभाव-प्रसूत हर्ष के कारण रोमांचित होना, पवित्र भावों का



उत्तरोत्तर बढ़ते जाना, शुद्धभाव से प्रणमन आदि करना—इत्यादि पूर्वक देव-पूजन का विधान है ।

प्रतिक्रमण—

[ ४०० ]

प्रतिक्रमणमप्येवं सति दोषे प्रमादतः ।  
तृतीयौषधकल्पत्वाद् द्विसन्ध्यमथवाऽसति ॥

यदि प्रमाद—शुद्ध उपयोग के अभाव या धर्म के प्रति आत्मपरिणाम-गत अनुत्साह, असावधानी के कारण दोष-सेवन हो जाए तो दिन में दो बार—प्रातः एवं सायं प्रतिक्रमण करना चाहिए । यदि दोष सेवन न हुआ हो तो भी प्रतिक्रमण करना चाहिए । यह तीसरे वैद्य की औषधि की ज्यों आत्मा के लिए लाभप्रद, श्रेयस्कर सिद्ध होता है ।

ग्रन्थकार ने तीसरे वैद्य की औषधि का उल्लंघन करते हुए जिस दृष्टान्त की ओर संकेत किया है, वह जैन-साहित्य का प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जो इस प्रकार है —

एक राजा था । उसका युवा पुत्र—युवराज अस्वस्थ रहने लगा । राजा ने अपने राज्य के तीन विख्यात वैद्यों को बुलाया और प्रत्येक वैद्य को अपनी-अपनी औषधि का गुण बताने को कहा ।

पहला वैद्य बोला—मेरी औषधि बड़ी प्रभावकारी है । जिस रोग पर दीजिए उसे सर्वथा नष्ट कर देती है । पर एक बात है, यदि वह रोग न हो तो दूसरा रोग उत्पन्न कर देती है ।

राजा बोला—वैद्यवर ! आपकी औषधि भयजनक है । राजकुमार के लिए उसका उपयोग समीचीन नहीं है ।

दूसरे वैद्य ने कहा—मेरी औषधि की यह विशेषता है, जिस रोग पर दीजिए, उसे बिलकुल मिटा देती है । यदि रोग न हो तो उससे न लाभ होता है और न हानि ।

राजा को दूसरे वैद्य की औषधि भी उपयुक्त नहीं जची ।

तब तीसरे वैद्य ने बताया—राजन् ! मेरी औषधि औरों से निराली

है। जिस रोग पर सेवन की जाए, उसे उन्मूलित कर देती है। यदि रोग न हो तो देह के लिए मेरी औषधि रसायन है। वह रक्त, मांस, बल, वीर्य, ओज तथा सौन्दर्य बढ़ाती है।

यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ और बोला—मेरे राजकुमार के लिए यही औषधि समीचीन है।

इस दृष्टान्त द्वारा ग्रन्थकार का यह आशय है कि दोष-सेवन न होने पर भी प्रतिक्रमण करना इसलिए लाभजनक है कि उससे ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि आत्म-गुणों की वृद्धि होती है। जीवन का कल्याण होता है।

[ ४०१ ]

निषिद्धासेवनादि यद् विषयोऽस्य प्रकीर्तितः ।  
तदेतद् भात्रसंशुद्धेः कारणं परमं मतम् ॥

निषिद्ध—जिनका निषेध किया गया है, ऐसे आचरणों का जैसा, जितना आसेवन किया जाता है, उतना साधना में दोष आता है। प्रतिक्रमण उसकी भाव संशुद्धि-भावात्मक संशोधन—सम्मार्जन का परम हेतु है।

भावनानुचिन्तन—

[ ४०२ ]

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यपरिचिन्तनम् ।  
सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाप्रज्ञाप्यगोचरम् ॥

साधक को चाहिए, वह संसार के सभी प्राणियों के प्रति मैत्री, अधिक गुणसम्पन्न पुरुषों को देख मन में प्रसन्नता, कष्ट-पीड़ित लोगों के प्रति करुणा तथा अज्ञानी जनों के प्रति माध्यस्थ्य—तटस्थता की भावना से अनुभावित—अपने दैनन्दिन चिन्तन में अनुप्राणित रहे।

[ ४०३ ]

विवेकिनो विशेषेण भवत्येतद् यथागमम् ।  
तथा गम्भीरचित्तस्य सम्यग्मार्गानुसारिणः ॥

विवेकशील, गम्भीरचेता तथा सन्मार्गानुगामी पुरुषों के चित्त में ये

भावनाएँ, जैसा कि शास्त्रों में बताया गया है, विशेष रूप से उद्भावित होती हैं ।

[ ४०४ ]

एवं विचित्रमध्यात्ममेतदन्वययोगतः ।  
आत्मन्यधीतिसंवृत्तेर्ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः ॥

“अधि—आत्मनि—जो आत्मा को अधिष्ठित कर रहता है—आत्मा में टिकता है, वह अध्यात्म है” इस व्युत्पत्ति के अनुसार अध्यात्म तत्सम्बद्ध बहुविध कार्य-कलाप में घटित है, संगत है, अध्यात्म-चिन्तन में अभिरत पुरुषों को यह जानना चाहिए ।

वृत्तिसंक्षय —

[ ४०५ ]

भावनादित्रयाभ्यासाद् वर्णितो वृत्तिसंक्षयः ।  
स चात्मकर्मसंयोगयोग्यतापगमोऽर्थतः ॥

भावना, ध्यान तथा समता के अभ्यास से वृत्ति-संक्षय उद्भावित होता है । उसका अर्थ आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का अपगम—दूर होना है । दूसरे शब्दों में अनादिकाल से आत्मा के साथ कर्मों का बन्ध होते रहने की वृत्ति—वर्तन—स्थिति या अवस्था का संक्षय होना—मिट जाना वृत्ति-संक्षय है ।

[ ४०६ ]

स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा आत्मनो वृत्तयो मताः ।  
अन्यसंयोगजाश्चैता योग्यता बीजमस्य तु ॥ १

आत्मा की सूक्ष्म एवं स्थूल—आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाओं को वृत्तियाँ कहा गया है । वे आत्मा का अन्य—आत्मेतर—विजातीय पदार्थों के साथ संयोग होने से निष्पन्न होती हैं । वह कारण, जिससे ऐसा होता है, योग्यता कहा जाता है ।

[ ४०७ ]

तद्भावेऽपि तद्भावो युक्तो नातिप्रसङ्गतः ।  
मुख्यैषा भवमातेति तदस्या अयमुत्तमः ॥

योग्यता के अभाव में संयोग या सम्बन्ध नहीं होता। यदि ऐसा न माना जाए तो सर्वत्र अव्यवस्था हो जाए। अतः यह—आत्मा की विजातीय पदार्थों के साथ संयुक्त या सम्बद्ध होने की योग्यता मुख्य भवमाता—जन्म-मरणरूप संसारावस्था की प्रमुख उत्पादिका है। जगत् प्रवाह का यही प्रमुख आधार है।

[ ४०८ ]

। पल्लवाद्यपुनर्भावो न स्कन्धापगमे तरोः ।  
स्यान्मूलापगमे यद्वत् तद्वद् भवतरोरपि ॥

वृक्ष का मात्र तना काट देने से पत्र आदि का अपुनर्भाव—फिर उत्पन्न न होना घटित नहीं होता अर्थात् तना काट देने पर भी समय पाकर फिर वह हरा-भरा हो जाता है, नये अंकुर फूटने लगते हैं, पत्तियाँ निकल आती हैं, बढ़ जाने पर फूल लगने लगते हैं पर यदि वृक्ष की जड़ काट दी जाय तो फिर वैसा कुछ नहीं होता। पत्ते, फूल आदि सब आने बन्द हो जाते हैं। संसाररूपी वृक्ष की भी यही स्थिति है। जब तक उसका मूल उच्छिन्न न हो, वह बढ़ता एवं फलता-फूलता रहता है।

[ ४०९ ]

मूलं च योग्यता ह्यस्य विज्ञेयोदितलक्षणा ।  
पल्लवा वृत्तयश्चित्रा हन्त तत्त्वमिदं परम् ॥

योग्यता, जिसका लक्षण पूर्ववर्णित है, संसाररूपी वृक्ष का मूल है। वृत्तियाँ तरह-तरह के पत्ते हैं। यह परम तत्त्व है—यथार्थ वस्तु-स्थिति है।

[ ४१० ]

उपायोपगमे चास्या एतदाक्षिप्त एव हि ।  
तत्त्वतोऽधिकृतो योग उत्साहादिस्तथाऽस्य तु ॥

जीवन का यथार्थ लक्ष्य साधने, आत्मा और कर्म के संयोग की योग्यता का परिसमापन करने का उपाय उसी से अधिगत है, और तत्त्वतः वह योग है, जो उत्साह आदि से सधता है।

[ ४११ ]

उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात् सन्तोषात् तत्त्वदर्शनात् ।  
मुनेर्जनपदत्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ॥

उत्साह, निश्चय, धैर्य, सन्तोष, तत्त्व-दर्शन तथा जनपद-त्याग—अपने परिचित प्रदेश, स्थान आदि का त्याग अथवा साधारण लौकिक जनों द्वारा स्वीकृत जीवन-क्रम का परिवर्जन—ये छः योग सधने के हेतु हैं ।

[ ४१२ ]

आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यस-रसेन च ।  
त्रिधा प्रकल्पयन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

आगम—शास्त्रपरिशीलन, अनुमान, ध्यान के अभ्यास एवं रस—तन्मयता व अनुभूतिजनित आनन्दपूर्वक बुद्धि का प्रयोग करता हुआ, बुद्धि को संस्कारित बनाता हुआ साधक उत्तम योग प्राप्त करता है ।

[ ४१३ ]

आत्मा कर्माणि तद्योगः सहेतुरखिलस्तथा ।  
फलं द्विधा वियोगश्च सर्वं तत्तत्स्वभावतः ॥

आत्मा, कर्म तथा कारण पूर्वक होनेवाला उसका सम्बन्ध, शुभ एवं अशुभ फल, कर्मों का आत्मा से पार्थक्य—अलगाव यह सब उनके आत्मा और कर्म के स्वभाव से घटित होता है ।

[ ४१४ ]

अस्मिन् पुरुषकारोऽपि सत्येव सफलो भवेत् ।  
अन्यथा न्यायवैगुण्याद् भवन्नपि न शस्यते ॥

पुरुषार्थ भी तभी सफल होता है, जब वह आत्मा, कर्म आदि के स्वभाव के अनुरूप हो । वैसे न होने से—वस्तु-स्वभाव के विपरीत होने से यह न्यायानुमोदित नहीं है कि वह कार्यकर हो अर्थात् उसकी कार्यकारिता सिद्ध नहीं होती । अतः उसे प्रशस्त नहीं माना जाता ।

[ ४१५ ]

अतोऽकरणनियमात् तत्तद्वस्तुगतात्तथा ।  
वृत्तयोऽस्मिन्निरुद्ध्यन्ते तास्तास्तद्बीजसम्भवाः ॥

यदि विभिन्न वस्तुओं के स्वभाव को कार्य साधने में कारण न माना जाए, एक मात्र पुरुषार्थ को ही माना जाए तो आत्मा में विविध कर्मरूप बीजों से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ पुरुषार्थ द्वारा निरस्त हो जायेंगी ।

[ ४१६ ]

ग्रन्थिभेदे यथैवायं बन्धहेतुं परं प्रति ।  
नरकादिगतिष्वेवं ज्ञेयस्तद्धेतुगोचरः ॥

जिसका ग्रन्थि-भेद हो गया हो, वहाँ कर्मों के अति तीव्र बन्ध होने का कोई हेतु नहीं रहता, उक्त मान्यता से वहाँ भी बाधा उत्पन्न होती है । उसी प्रकार नरक आदि गतियों में भी हेतु की अकरणता रहती है ।

[ ४१७ ]

अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्युर्भूयस्तत्र गतिस्तथा ।  
न युज्यते हि सन्न्यायादित्यादि समयोदितम् ॥

अन्य कारणों की अकरणता मानी जाए तो आत्यन्तिक मृत्यु—मोक्ष तथा कर्मानुरूप बार-बार अनेक योनियों में जन्म लेना, जो आगम-प्रतिपादित है, घटित नहीं होता ।

[ ४१८ ]

हेतुमस्य परं भावं सत्त्वाद्यागोनिवर्तनम् ।  
प्रधानकरुणारूपं ब्रुवते सूक्ष्मर्वाशिनः ॥

सूक्ष्म-द्रष्टा ज्ञानियों का कथन है कि प्राणियों के प्रति असदाचरण, पापमय विचार पवित्र मनोभावों से अपगत होते हैं, जिनमें करुणा का प्रमुख स्थान है ।

[ ४१९ ]

समाधिरेष एवान्यैः सम्प्रज्ञातोऽभिधीयते ।  
सम्यक्प्रकर्षरूपेण वृत्त्यर्थज्ञानतस्तथा ॥

पातञ्जल योगियों द्वारा उपर्युक्त योगोत्कर्ष सम्प्रज्ञात समाधि के रूप में अभिहित हुआ है । शाब्दिक व्युत्पत्ति के अनुसार 'सम्' का अर्थ सम्यक्, 'प्र' का अर्थ प्रकृष्ट—उत्कृष्ट तथा 'ज्ञात' का अर्थ ज्ञानयुक्त है । इसका

अभिप्राय यह हुआ—योगी की वह स्थिति, जहाँ चित्त में इतनी स्थिरता आ जाती है कि अपने द्वारा ग्रहीत ग्राह्य—ध्येय सम्यक्तया, उत्कृष्टतया ज्ञात रहे, चित्त का एकमात्र वहीं टिकाव हो, वह और कहीं भटके नहीं, सम्प्रज्ञात समाधि है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि की चर्चा करते हुए लिखा है—

जिसकी राजस, तामस वृत्तियाँ क्षीण हो गई हों, उत्तम जाति के स्फटिक मणि के सदृश जो अत्यन्त निर्मल हो, ग्रहीतृ (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रिय) तथा (स्थूल, सूक्ष्म) ग्राह्य विषयों में तत्स्थता—एकाग्रता, तदञ्जनता—तन्मयता, तदाकारता निष्पन्न हो गई हो, चित्त की वह स्थिति समापत्ति (या सम्प्रज्ञात समाधि) है।<sup>१</sup>

[ ४२० ]

एवमासाद्य चरमं जन्माजन्मत्वकारणम् ।

श्रेणिमाप्य ततः क्षिप्रं केवलं लभते क्रमात् ॥

यों साधनारत पुरुष आयुष्य समाप्त कर पुनः जन्म प्राप्त करता है, जो उसके लिए अन्तिम होता है। वह (अन्तिम जन्म) अजन्म का कारण होता है अर्थात् वहाँ पुनः जन्म में लानेवाले कर्मों का बन्ध नहीं होता। साधक श्रेणि-आरोह करता है—क्षपक-श्रेणि स्वीकार करता है और शीघ्र ही केवलज्ञान—सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लेता है।

श्रेणि-आरोह के सम्बन्ध में ज्ञाप्य है—

जैन-दर्शन में चवदह गुणस्थानों के रूप में आत्मा का जो विकास क्रम व्याख्यात हुआ है, उन (गुणस्थानों) में आठवाँ निवृत्तिवादादर गुणस्थान है। मोह को ध्वस्त करने हेतु यहाँ साधक को अत्यधिक आत्मबल के साथ जूझना होता है। फलतः इस गुणस्थान में अभूतपूर्व आत्मविशुद्धि निष्पन्न होती है। इसे अपूर्वकरण भी कहा जाता है। इस गुणस्थान से विकास

१ क्षीणवृत्ते रभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ।

—पातञ्जल योगसूत्र १.४६

की दो श्रेणियाँ निःसृत होती हैं—१. उपशम-श्रेणि, २. क्षपकश्रेणि या क्षायक श्रेणि ।

उपशम-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को उपशान्त करता हुआ— दबाता हुआ ग्यारहवें— उपशान्त मोह गुणस्थान में पहुँचता है ।

क्षपक-श्रेणि द्वारा आगे बढ़ने वाला साधक नवम गुणस्थान में क्रोध, मान, माया को तथा दशम गुणस्थान में लोभ को क्षीण करता हुआ, दशम के बाद सीधा बारहवें—क्षीणमोह-गुणस्थान में पहुँचता है । उसके बाद क्रमशः तेरहवें सयोगकेवली तथा चवदहवें अयोग केवली गुणस्थान में पहुँच जीवन का चरम साध्य-मोक्ष पा लेता है ।

उपशम-श्रेणि द्वारा ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचने वाला साधक क्रोध, मान, माया व लोभ के उपशम द्वारा वहाँ पहुँचता है, क्षय द्वारा नहीं । क्षय सर्वथा नाश या ध्वंस है । उपशम में उन (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का अस्तित्व मूलतः मिटता नहीं, केवल कुछ समय के लिए उपशान्त होता है । इसे राख से ढकी अग्नि के उदाहरण से समझा जा सकता है । आग पर आई हुई राख की पर्त जब तक विद्यमान रहती है, आग जलाती नहीं । पर्त हटते ही आग का गुणधर्म प्रकट हो जाता है । वह जलाने लगती है । उपशान्त कषायों की यही स्थिति है । वे पुनः उभर आते हैं । अतः ग्यारहवें गुणस्थान में पहुँचे हुए साधक का अन्तर्मुहूर्त के भीतर नीचे के गुणस्थानों में पतन अवश्यम्भावी होता है । साधक को पुनः आत्मपराक्रम का सम्बल लिए आगे बढ़ना होता है । बढ़ते-बढ़ते जब भी वह क्षपक-श्रेणि पर आरूढ़ हो पाता है, आगे चलकर अपना साध्य साध लेता है ।

[ ४२१ ]

असम्प्रज्ञात एषोऽपि समाधिर्गीयते परैः ।  
निरुद्धाशेषवृत्त्यादि तत्स्वरूपानुबेधतः ॥

सर्वज्ञत्व, कैवल्य पा लेने के बाद आगे जो योग सधता है, वह पातंजल



योगियों द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। उसमें समग्र बाह्य वृत्तियाँ रुक जाती हैं, आत्मा स्वरूप-परिणत हो जाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि में एक ध्येय या आलम्बन रहता है। वह आलम्बन बीज कहा जाता है। अतएव सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज समाधि कहा गया है। असम्प्रज्ञात समाधि में आलम्बन नहीं होता। जैसाकि महर्षि पतञ्जलि ने बताया है, वहाँ सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। आलम्बन का अभाव करते-करते वृत्तियों का भी अभाव कर दिया जाता है। यह सर्व-वृत्ति निरोधात्मक तथा सर्वथा स्वरूपाधिष्ठानात्मक है, निर्बीज समाधि है।<sup>१</sup>

[ ४२२ ]

धर्ममेघोऽमृतात्मा च भवशक्रशिवोदयः ।  
सत्त्वानन्दः परश्चेति योज्योऽत्रैवार्थयोगतः ॥

धर्ममेघ, अमृतात्मा, भवशक्र, शिवोदय, सत्त्वानन्द तथा पर—ये नाम समाधि के ही विशेष स्थितिक्रम के सूचक हैं, जो भिन्न-भिन्न सैद्धान्तिकों ने अभिहित किये हैं। अर्थ-संगतिपूर्वक प्रस्तुत विषय के साथ इनका समन्वय करना चाहिए।

धर्ममेघ शब्द का विशेष रूप से पातञ्जल योग सूत्र में प्रयोग हुआ है ! वहाँ कहा गया है—

धनी जैसे पूँजी लगाकर उसके ब्याज की चिन्ता में लगा रहता है, उसी तरह जो योगी विवेकज्ञान की महिमा में भी अटका नहीं रहता, उसमें भी जिसे वैराग्य हो जाता है, विवेकख्याति जिसके निरन्तर समुदित रहती है, उसके धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है।<sup>२</sup>

योग सूत्र में आगे बताया गया है कि धर्ममेघ समाधि के सधने पर योगी के अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश ये पाँच क्लेश

१. तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।

—पातञ्जल योगसूत्र १५.१

२. प्रसंख्यानोऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।

—पातञ्जल योग सूत्र ४.२६

तथा शुक्ल, ऋण एवं मिश्रित ये तीन कर्म-संस्कार सर्वथा उच्छिन्न हो जाते हैं।<sup>१</sup>

धर्ममेघ शब्द बौद्ध परम्परा में भी प्रयुक्त है। बौद्ध धर्म की महायान शाखा में बुद्धत्वप्राप्ति के सन्दर्भ में विकास की दस भूमियाँ मानी गई हैं, जिनमें अन्तिम (भूमि) धर्ममेघ है। यह विकास या उन्नति की चरमावस्था है। इसमें बोधिसत्त्व सर्वविध समाधि स्वायत्त कर लेता है। इस भूमि का एक नाम अभिषेक भी है। जैसे कोई नृपति अपने कुमार को यौवराज्य में अभिषिक्त करता है, वैसे ही साधक यहाँ बुद्धत्व में अभिषिक्त हो जाता है। उसका साध्य सिद्ध हो जाता है, प्राप्य प्राप्त हो जाता है। यह साधना के पर्यवसान की स्वर्णिम बेला है।

[ ४२३ ]

मण्डूक-भस्म-न्यायेन वृत्तिबीजं महामुनिः ।  
योग्यतापगमाद् दग्ध्वा ततः कल्याणमश्नुते ॥

महान् साधक मण्डूक-भस्म-न्याय<sup>२</sup> से वृत्तियों के बीज को जला देता है। आत्मा की कर्म-बन्ध करने की योग्यता अपगत हो जाती है। वह कल्याण—मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

[ ४२४ ]

यथोदितायाः सामग्र्यास्तत्स्वभावनियोगतः ।  
योग्यतापगमोऽप्येवं सम्यग् ज्ञेयो महात्मभिः ॥

जब पूर्णवर्णित योग-साधन स्वभावानुगत हो जाते हैं, स्वायत्त हो जाते हैं तो आत्मा की कर्म-बन्ध की योग्यता का अपगम हो जाता है, जो योगी का लक्ष्य है। उद्बुद्धचेता पुरुषों को इसे समझना चाहिए।

१. ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । —पातञ्जल योगसूत्र ४.३०
२. मुदिता, विमला, प्रमाकरी, अचिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुक्ति, दूरंगमा, अचला, साधमती, धर्ममेघ ।  
—बौद्ध-दर्शन मीमांसा : पं० बलदेव उपाध्याय पृष्ठ १४०—१४२ (सन् १९५४, चौखम्बा विद्या भवन, चौक, बनारस—१)
३. इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत 'योग शतक' की ८६ वीं गाथा के सन्दर्भ में मण्डूक-भस्म-न्याय का विस्तृत विवेचन किया गया है।

सर्वज्ञवाद—

[ ४२५ ]

साक्षादतीन्द्रियानर्थान् दृष्ट्वा . केवलचक्षुषा ।  
अधिकारवशात् कश्चित् देशनायां प्रवर्तते ॥

केवली (सर्वज्ञ) केवलज्ञान—सर्वज्ञता-रूपी नेत्र से अतीन्द्रिय—  
इन्द्रियों द्वारा अगम्य पदार्थों को साक्षात् देखते हुए धर्म-देशना में धर्मोपदेश  
करने में प्रवृत्त होते हैं, जिसके लिए वे अधिकृत हैं ।

[ ४२६ ]

प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात् प्रातिहार्यसमन्वितः ।  
अवन्ध्यदेशनः श्रीमान् यथाभव्यं नियोगतः ॥

उत्कृष्ट पुण्य-प्रभाव के कारण केवली अनेक दिव्य चिन्हों से युक्त  
होते हैं । अतिशय शोभाशील होते हैं । उनका धर्मोपदेश व्यर्थ नहीं जाता ।  
भव्य प्राणी उससे उपकृत होते हैं ।

तीर्थकरों के निम्नांकित आठ प्रातिहार्य माने जाते हैं—

अशोक वृक्ष, देवों द्वारा आकाश से फूलों की वर्षा, दिव्यध्वनि—  
देवों द्वारा हर्षातिरेकवश आकाश में किये जाते जयनाद, सिंहासन, छत्र,  
चौवर, भामण्डल, दुन्दुभि—भेरी या नगाड़ा ।<sup>१</sup>

[ ४२७ ]

केचित् तु योगिनोऽप्येतदित्थं नेच्छन्ति केवलम् ।  
अन्ये तु मुक्त्यवस्थायां सहकारिवियोगतः ॥

कतिपय (बौद्ध) योगी इस प्रकार की सर्वज्ञता को असम्भव मानते  
हैं । दूसरे (सांख्य) योगी यों कहते हैं कि मोक्ष में सर्वज्ञत्व सम्भव नहीं है  
क्योंकि वहाँ अपेक्षित सहकारी कारण नहीं रहता ।

[ ४२८ ]

चेतन्यमात्मनो रूपं न च तज्ज्ञानतः पृथक् ।  
युक्तितो युज्यतेऽन्ये तु ततः केवलमाश्रिताः ॥

१. अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च ।  
भामण्डलं दुन्दुभिरात्रपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम् ॥

चैतन्य आत्मा का स्वरूप है। वह ज्ञान से पृथक् नहीं है। इसलिए सर्वज्ञता मुक्तावस्था से पूर्व तथा पश्चात् दोनों ही स्थितियों में सम्भव है। क्योंकि वह (सर्वज्ञत्व) ज्ञान का विशुद्ध एवं सर्वोत्कृष्ट रूप है, जो आत्मा का स्वभाव है।

यह जैन दार्शनिकों का अभिमत है।

[ ४२६ ]

अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिस्ततः सद्देशनागमः ।  
नान्यथा छिन्नमूलत्वादेतदन्यत्र दर्शितम् ॥

सर्वज्ञता से इन्द्रियातीत पदार्थों का साक्षात् ज्ञान होता है, जो प्रमाण-भूत है। अतः धर्म-देशना तथा आगम-संग्रहण का वह आधार है। यदि ऐसा न माना जाए तो धर्मोपदेश एवं आगम का मूल स्रोत ही उच्छिन्न हो जाए। यह विषय अन्यत्र चर्चित है।

[ ४३० ]

तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे संविदस्योपपद्यते ।  
एषां चानुभवात् सिद्धा प्रतिप्राण्येव देहिनाम् ॥

आत्मा को ज्ञानरूप मानने से उसमें संवित्—ज्ञानमयी प्रतीति, चिन्मयता सिद्ध होती है। यह अनुभवसिद्ध है कि प्रत्येक प्राणी को यत् किञ्चित् संवित् प्राप्त है।

[ ४३१ ]

अग्नेरुष्णत्वकल्पं तच्छानमस्य व्यवस्थितम् ।  
प्रतिबन्धकसामर्थ्यान्न स्वकार्ये प्रवर्तते ॥

जैसे अग्नि में उष्णता अभिन्न रूप में रहती है, उसी प्रकार आत्मा में ज्ञान अभिन्न रूप से व्यवस्थित है—विद्यमान है। प्रतिबन्धक—अवरोध या रुकावट करने वाले कारणों के रहने से वह कार्यकारी नहीं होता।

अग्नि का स्वभाव उष्णता है किन्तु अग्नि पर किसी ऐसी वस्तु का आवरण डाल दिया जाए, जो उष्णता को रोके रहे तो उष्णता अपने स्वभावानुरूप कार्य-प्रवृत्त नहीं होती, उसी प्रकार आत्मा का ज्ञान जब ज्ञानावर-

णीय कर्म से आवृत्त रहता है तो ज्ञेय पदार्थों के जानने में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती ।

[ ४३२ ]

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धके ।  
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यात् कथमप्रतिबन्धकः ॥

प्रतिबन्धक—बाधक का अभाव हो तो ज्ञ—जानने में सक्षम पुरुष ज्ञेय—जानने योग्य पदार्थ को जानने में कैसे असमर्थ रहे ? अप्रतिबन्ध—वाधारहित अग्नि जलाने योग्य वस्तु कैसे नहीं जलाए ? अर्थात् बाधक हेतु न होने पर अग्नि जिस प्रकार जलाने का कार्य करती है, उसी प्रकार ज्ञाता बाधक न होने पर जानने का कार्य करता है ।

[ ४३३ ]

न देशविप्रकर्षोऽस्य युज्यते प्रतिबन्धकः ।  
तथानुभवसिद्धत्वाद्गनेरिव सुनोतितः ॥

केवलज्ञान या सर्वज्ञता द्वारा जानने के उपक्रम में स्थान आदि का व्यवधान बाधक नहीं होता, जैसे अग्नि की दाहकता में होता है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि देशकाल आदि बाह्य प्रतिबन्धक हेतु केवलज्ञान की कार्यकारिता या गति को रोक नहीं सकते ।

[ ४३४ ]

अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो धर्ममात्रत्वदर्शकः ।  
अदाह्यादहनाद्येवमत एव न बाधकम् ॥ ।

यहाँ जो अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है, वह अंशतः व्याप्त है, आंशिक है । वह मात्र धर्म—स्वभाव का दिग्दर्शक है । जैसे अग्नि का धर्म जलाना है, उसी प्रकार ज्ञान का धर्म जानना है ।

कुछ ऐसी वस्तुएँ होती हैं, जो अग्नि द्वारा जलायी नहीं जा सकतीं, कुछ ऐसी स्थितियाँ होती हैं, जिनके कारण अग्नि जलाने योग्य वस्तुओं को भी जला नहीं सकती । अग्नि का यह अदाहकता, केवलज्ञान के प्रसंग में उसकी अकार्यकारिता ख्यापित नहीं करती । क्योंकि यह दृष्टान्त समग्रता लिये हुए नहीं है ।

[ ४३५ ]

सर्वत्र सर्वसामान्यज्ञानाज्ज्ञेयत्वसिद्धितः ।  
तस्याखिलविशेषेषु तदेतन्न्यायसङ्गतम् ॥

सर्वसामान्य ज्ञान से ज्ञेयत्व की सिद्धि होती है । अर्थात् सर्वसामान्य ज्ञान द्वारा सामान्यतः सभी जानने योग्य पदार्थ ज्ञाता की क्षमता के अनुसार जाने जा सकते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट ज्ञानयुक्त आत्मा सभी वस्तुओं की सभी विशेषताओं को जान सकती है ।

[ ४३६ ]

सामान्यवद् विशेषाणां स्वभावो ज्ञेयभावतः ।  
ज्ञायते स च साक्षात्त्वाद् विना विज्ञायते कथम् ॥

ज्ञेय भाव से—ज्ञेयत्व की अपेक्षा से विशेषों का स्वभाव भी सामान्य जैसा ही है । जब सामान्य प्रत्यक्ष रूप में जाने जाते हैं तो विशेषों का भी ज्ञान प्रत्यक्ष से ही सम्भव है । अतः ऐसी आत्मा भी होनी चाहिए, जो सर्वज्ञ हो । क्योंकि लोकगत समस्त पदार्थ अपनी विशेषताओं सहित सर्वज्ञ द्वारा ही जाने जा सकते हैं ।

[ ४३७ ]

अतोऽयं ज्ञस्वभावत्वात् सर्वज्ञः स्यान्नियोगतः ।  
नान्यथा ज्ञत्वमस्येति सूक्ष्मबुद्ध्या निरूप्यताम् ॥

ज्ञस्वभावत्व—ज्ञातृस्वभावता के कारण—स्वभावतः ज्ञाता होने के कारण कोई आत्मा निश्चय ही सर्वज्ञाता या सर्वज्ञ हो, यह युक्तियुक्त है । अन्यथा सबको सर्वथा जानने वाला कोई न होने से आत्मा का ज्ञातृत्व समग्रतया सिद्ध नहीं होता । सूक्ष्म बुद्धि से इस पर चिन्तन करें ।

[ ४३८-४४२ ]

एवं च तत्त्वतोऽसार यदुक्तं मतिशालिना ।  
इह व्यतिकरे किञ्चिच्चारुबुद्ध्या सुभाषितम् ॥

ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित् तदुक्तप्रतिपत्तये ।  
आज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभिः ॥

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।  
 कीटसङ्ख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥  
 हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।  
 यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥  
 दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्टं तु पश्यतु ।  
 प्रमाणं दूरदर्शी चेदेते शृध्रानुपास्महे ॥

बुद्धिशाली अन्य तार्किक ने इस प्रसंग में अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा मधुर शब्दों में जो मन्तव्य प्रकट किया है, वास्तव में वह सारहीन है ।

वह मन्तव्य इस प्रकार है—

“अज्ञानी पुरुष के उपदेश का अनुसरण कर कहीं बिडम्बना में न पड़ जाएँ, धोखा न खाएँ, ऐसी शंका कर समझदार लोग किसी ज्ञानी की खोज करते हैं, जिसके वचनों पर विश्वास किया जा सके ।

यों जिस ज्ञानी पुरुष की बात मानने को तैयार हों, उसके ज्ञान के सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि वह करणीय अनुष्ठान से सम्बद्ध है या नहीं । उसका ज्ञान तो कीड़ों की संख्या की गणना करने का भी हो सकता है । कीड़ों की संख्या बहुत बड़ी है । उनकी गणना करने का कार्य भी कम भारी नहीं है पर उसका हमारे लिए कहाँ उपयोग है ? हमारे लिए तो वह सर्वथा अनुपयोगी है । हमें उससे क्या लाभ ?

क्या हेय—त्यागने योग्य तथा क्या उपादेय—ग्रहण करने योग्य है, हेय को छोड़ने और उपादेय को अपनाने के क्या उपाय हैं—ऐसा करने का क्या विधिक्रम है—ऐसा जो जानता है, वही हमारे लिए वाञ्छनीय है, उपयोगी है, प्रमाणभूत है । जो और सब कुछ जानता हो, हमें वह इष्ट नहीं है ।

जो बहुत दूर की वस्तु को देख पाये या न देख पाए, हमें उससे क्या ? हमें तो उससे प्रयोजन है, जो इष्ट—अभीप्सित, वाञ्छनीय या उपयोगी तत्त्व को देखता है, जानता है । यदि दूरदर्शी—बहुत दूर तक देख सकने वाला ही प्रमाणभूत हो तो अच्छा है, हम गीधों की उपासना—पूजा करें, जिनमें बहुत दूर तक देखने की क्षमता होती है ।

उपर्युक्त अभिमत विख्यात बौद्ध तार्किक आचार्य धर्मकीर्ति का है, जिसकी उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ प्रमाणवार्तिक में चर्चा की है।

[ ४४३ ]

एवमाद्युक्तसन्नीत्या हेयाद्यपि च तत्त्वतः ।  
तत्त्वस्यासर्वदर्शी न वेत्यावरणभावतः ॥

उक्त मन्तव्य के समाधान के रूप में ग्रन्थकार का कथन है कि प्रस्तुत सन्दर्भ में युक्तिपूर्वक समीचीनतया चर्चा की जा चुकी है कि हेय तथा उपादेय के सम्बन्ध में सर्वथा यथावत् रूप में जान पाना वैसे किसी पुरुष के लिए सम्भव नहीं होता, जो सर्वज्ञ नहीं है। क्योंकि वैसे पुरुष के ज्ञान पर कर्मावरण रहता है, जिससे वह (ज्ञान) अप्रतिहतगति नहीं होता। फलतः वह पुरुष वैसे सब जानने में सक्षम नहीं होता, जैसा कि सर्वज्ञ द्वारा सम्भव है।

[ ४४४ ]

बुद्ध्यध्यवसितं यस्मादर्थं चेतयते पुमान् ।  
इतीष्टं चेतना चेह संवित् सिद्धा जगत्त्रये ॥

बुद्धि अपने द्वारा गृहीत पदार्थ पुरुष (आत्मा) की चेतना में प्रस्थापित करती है, जिससे पुरुष उसे जानता है। पर, यह कैसे सम्भव हो। क्योंकि चेतना ही ज्ञान है, यह तीनों लोकों में सिद्ध है। फिर बुद्धि द्वारा चेतना में रखा जाना, आत्मा द्वारा जाना जाना इत्यादि में समीचीन संगति प्रतीत नहीं होती।

यहाँ यह ज्ञातव्य है, सांख्य दर्शन के अनुसार अहंकार तथा मनरूप अन्तःकरणयुक्त बुद्धि सब विषयों को ग्रहण करती है। अतः बुद्धि, अहंकार तथा मन करण कहे जाते हैं। विषय-ग्रहण हेतु इन्हें प्रमुख द्वार के रूप में स्वीकार किया गया है। बाकी इन्द्रिय आदि उनके सहयोगी हैं, गौण हैं।

इसका कुछ और स्पष्टीकरण यों है—दीपक की तरह ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, अहंकार तथा मन पुरुष के लिए पदार्थों को प्रकाशित कर बुद्धि को देते हैं, बुद्धि में सन्निहित करते हैं। पुरुष द्वारा उनका ग्रहण बुद्धि से



साधित होता है। अर्थात् बुद्धि उन्हें पुरुष तक पहुँचाती है। वही पुरुष और प्रकृति का विषय-विभाग कराती है, उनकी सूक्ष्म भिन्नता सिद्ध करती है।<sup>१</sup>

चेतना तथा संवित् की समानता बताते हुए प्रस्तुत पद्य में इस मन्तव्य का निरसन किया गया है। आगे के पद्यों में विशेष स्पष्टीकरण है।

[ ४४५ ]

चैतन्यं च निजं रूपं पुरुषस्योदितं यतः ।  
अत आवरणाभावे नैतत् स्वफलकृत् कुतः ॥

सांख्य सिद्धान्त के अनुसार चेतना पुरुष या आत्मा का स्वरूप है। जब आवरण—पुरुष के स्वरूप-स्वभाव को आवृत करने वाले उसको रोकने वाले हेतु नहीं हैं तो फिर चेतना अपना कार्य कैसे न करे, समझ में नहीं आता।

[ ४४६-४४७ ]

न निमित्तवियोगेन तद्द्वयावरणसङ्गतम् ।  
न च तत्तत्स्वभावत्वात् संवेदनमिदं यतः ॥  
चैतन्यमेव विज्ञानमिति नास्माकमागमः ।  
किंतुतन्महतो धर्मः प्राकृतश्च महानपि ॥

सांख्य दार्शनिकों का यह तर्क है कि मोक्ष प्राप्त हो जाने पर पुरुष को पदार्थों का ज्ञान नहीं होता। क्योंकि ज्ञान होने के निमित्त कारण मन का वहाँ अस्तित्व नहीं होता, जो (मन) प्रकृति से उत्पन्न है। मोक्षावस्था में

१. सान्तःकरणा बुद्धिः सर्वं विषयमवगाहते यस्मात् ।  
तस्मात् त्रिविधं करणं द्वारि द्वाराणि शेषाणि ॥  
एते प्रदीपकल्पाः परस्परविलक्षणा गुणविशेषाः ।  
कृत्स्नं पुरुषस्यार्थं प्रकाश्य बुद्धौ प्रयच्छन्ति ॥  
सर्वं प्रत्युपभोगं यस्मात् पुरुषस्य साधयति बुद्धिः ।  
सैव च विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषान्तरं सूक्ष्मम् ॥

प्रकृति और पुरुष का सर्वथा वियोग हो जाता है। प्रकृति का जब पुरुष से पार्थक्य हो जाता है तो तत्प्रसूत सभी तत्त्व सहज ही पुरुष से पृथक् हो जाते हैं।

ज्ञानना आत्मा का स्वभाव है अतः मोक्ष होने पर भी उसे ज्ञान रहता है, ऐसा नहीं माना जा सकता। हम (सांख्यवादी) चैतन्य—चेतना ही ज्ञान है, ऐसा नहीं मानते। चेतना और ज्ञान दोनों भिन्न हैं। चेतना पुरुष का धर्म है तथा ज्ञान बुद्धि का धर्म है। बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न है।

[ ४४८ ]

बुद्ध्यध्यवसितस्यैवं कथमर्थस्य चेतनम् ।  
गीयते तत्र नन्वेतत् स्वयमेव निभाल्यताम् ॥

यदि ज्ञान और चेतना भिन्न-भिन्न हैं, तब बुद्धि अपने द्वारा गृहीत जो विषय पुरुष तक पहुँचाती है, उसके सम्बन्ध में आप कैसे कह पायेंगे कि पुरुष चेतना द्वारा ग्रहण कर उसे जानता है। यों कहना संगत नहीं होता। इस पर स्वयं ही विचार करें।

[ ४४९-४५० ]

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम् ।  
मनः करोति सान्निध्यादुपाधि स्फटिकं यथा ॥  
विभक्ते दृषपरिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते ।  
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

प्रतिवादी सांख्यों की यह दलील हो सकती है—पुरुष अविकृत—विकाररहित है। जैसे स्फटिक पत्थर का अपना कोई विशेष रंग नहीं होता, जिस रंग की वस्तु उसके समीप आती है, उसकी परछाईं द्वारा वह उसी रंग में परिणत दिखाई पड़ता है। उसी प्रकार अचेतन मन पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है। पुरुष में जो विकार दृष्टिगोचर होता है, वह वास्तविक नहीं है, मन की सन्निधि के कारण है।

स्वच्छ जल में चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो चन्द्रमा जल में समाया हो। उसी प्रकार बुद्धि द्वारा गृहीत विषय

पुरुष में प्रतिबिम्बित होता है तो बाह्य दृष्टि से ऐसा लगता है, वह मानो पुरुष का ही हो ।

[ ४५१ ]

स्फटिकस्य तथानामभावे तदुपधेस्तथा ।  
विकारो नान्यथाऽसौ स्यादन्धाश्मन इव स्फुटम् ॥

ग्रन्थकार के अनुसार इसका समाधान यों है—उक्त स्थिति तभी घटित होती है, जब स्फटिक तथा तश्समीपवर्ती किसी रंगीन वस्तु का अपने स्वभावानुरूप परिणत होने का गुण है । यदि ऐसा नहीं हो, स्फटिक के स्थान पर कोई धुंधला, मटमैला पत्थर हो तो यह सम्भव नहीं होता । वैसे ही पुरुष का उस रूप में परिणत होने का स्वभाव है, तभी वैसे होता है, अन्यथा नहीं ।

[ ४५२ ]

तथा नामैव सिद्धं च विक्रियाऽप्यस्य तत्त्वतः ।  
चेतन्यविक्रियाऽप्येवमस्तु ज्ञानं च साऽऽत्मनः ॥

उपर्युक्त उदाहरण से सिद्ध होता है कि आत्मा में यथार्थतः विक्रिया—परिणति या परिणमन भी होता है । इसी प्रकार चेतना में भी परिणमन होता है, जो आत्मा की ज्ञानरूपात्मक अवस्था है ।

[ ४५३ ]

निमित्ताभावतो नो चेन्नित्तमखिलं जगत् ।  
नान्तःकरणमिति चेत् क्षोणशेषस्य तेन किम् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि वहाँ निमित्त का अभाव होता है । ऐसा जो कहते हो, उसका उत्तर यह है कि समस्त जगत् ही तो निमित्त है, जो मोक्ष-प्राप्ति के बाद भी विद्यमान रहता है । यदि कहो कि वहाँ अन्तःकरण नहीं रहता तो उसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जिसके राग, द्वेष आदि समस्त दोष मिट गये हैं, उसे अन्तःकरण की कोई आवश्यकता नहीं होती ।

१. बुद्धि, अहंकार तथा मन ।

[ ४५४ ]

निरावरणमेतद् यद् विश्वमाश्रित्य विक्रियाम् ।  
न याति यदि तत्त्वेन न निरावरणं भवेत् ॥

यदि चेतना (आत्मा) निरावरण—सर्वथा आवरणरहित है तो फिर वह जगत को आश्रित कर विक्रिया—विकार—परिणमन कैसे प्राप्त करती है ? यदि निरावरण चेतना विकारग्रस्त होती हो तो उसे निरावरण कैसे कहा जाए ?

[ ४५५ ]

दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि नेच्छामात्रनिवर्तनात् ।  
पुरुषस्यापि युक्तये स च चिद्रूप एव वः ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर ज्ञान नहीं रहता क्योंकि तब तक तो इच्छा मात्र समाप्त हो जाती है, देखने-जानने की भी इच्छा मिट जाती है, ऐसा जो कहा जाता है, उसका समाधान यह है कि यदि ऐसा हो तो पुरुष (आत्मा) की अपने आपको देखने—जानने की इच्छा भी मिटनी चाहिए पर ऐसा नहीं होता। शब्द से चाहे उसे इच्छा न कहा जाए, स्वभाव या वर्तन कहा जाए, पर वैसी स्थिति वहाँ विद्यमान रहती है। सांख्यवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि आत्मा चेतना के रूप में है और चेतना अपने को जानना कभी बन्द नहीं करती।

[ ४५६ ]

चैतन्यं चेह संशुद्धं स्थितं सर्वस्य वेदकम् ।  
तन्त्रे ज्ञाननिषेधस्तु प्राकृतापेक्षया भवेत् ॥

मोक्ष प्राप्त हो जाने पर चैतन्य का विशुद्ध रूप रहता है और वह सभी ज्ञेय पदार्थों को जानता है। सांख्य-शास्त्र में मुक्तावस्था में ज्ञान का जो निषेध किया है, वह साधारण सांसारिक ज्ञान को लेकर किया हुआ होना चाहिए, जिसे अयथार्थ समझा जाता है।

[ ४५७ ]

आत्मदर्शनतश्च स्यान्मुक्तिर्यत् तन्त्रनीतितः ।  
तवस्य ज्ञानसद्भावस्तन्त्रयुक्त्यैव साधितः ॥

शास्त्रों में आये विवेचन से यह प्रकट है कि आत्मदर्शन से मुक्ति होती है। शास्त्रीय युक्ति द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि मोक्ष प्राप्त करने के बाद भी आत्मा ज्ञानयुक्त होती है।

[ ४५८ ]

नैरात्म्यदर्शनादन्ये निबन्धननियोगतः ।  
दोषप्रहाणमिच्छन्ति सर्वथा न्याययोगिनः ॥

कतिपय विचारक, जो मुख्यतः तर्क का आधार लिये चलते हैं, ऐसा मानते हैं कि नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त को स्वीकार करने से ही आध्यात्मिक दोष सर्वथा मिट सकते हैं। अर्थात् समग्र रूप में दोषों के मिटने की जो बात परिकल्पित की जाती है, वह तो तभी सध सकती है, जब दोषों के आधार का ही शाश्वत अस्तित्व न हो। क्योंकि आत्मा, जिसमें दोष टिकते हैं, रहेगी तो यत्किञ्चित ही सही, दोष भी रहेंगे।

[ ४५९ ]

समाधिराज एतत् तत् तदेतत् तत्त्वदर्शनम् ।  
आग्रहच्छेदकार्येतत् तदेतदमृतं परम् ॥

समाधिराज (नामक ग्रन्थ) में उल्लेख है कि नैरात्म्यवाद से यथार्थ तत्त्व-दर्शन प्राप्त होता है, दुराग्रह विच्छिन्न होता है—आग्रहशून्य दृष्टि प्राप्त होती है, जो साधक के लिए दिव्य अमृत है—परम शान्तिप्रद है।

‘समाधि’ योग का सुप्रचलित शब्द है। यह अष्टांगयोग का आठवाँ—अन्तिम अंग है, जहाँ योग परिपूर्णता पाता है। यही देखकर योगबिन्दु के कुछ टीकाकारों ने समाधिराज का अर्थ ‘उत्कृष्टतम समाधि’ कर दिया है। यह भ्रान्ति रही है।

दिवंगत विद्वद्रत्न पं० सुखलालजी संघवी ने ‘समाधिराज’ के सम्बन्ध में बड़ी महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ की हैं। उनके अनुसार यह एक ग्रन्थ का नाम है। ‘समाधिराज’ नामक ग्रन्थ है भी, जो बहुत प्राचीन है। इसके प्राप्त होने का इतिहास बड़ा रोमांचक है। इस ग्रन्थ की प्राचीनता कनिष्क के समय जितनी है। भिन्न-भिन्न समयों में चीनी भाषा में इसके तीन रूपान्तर हुए, जो प्राप्त हैं। चौथा रूपान्तर तिब्बती भाषा में हुआ। मूल ग्रन्थ आकार

में छोटा था, पर वह क्रमशः वृद्धि पाता गया। ग्रन्थ का जो तिब्बती रूपान्तर है, वह तो मूल ग्रन्थ के अन्तिम परिवर्द्धित रूप का भाषान्तर है। अन्तिम परिवर्द्धित रूप वाला 'समाधिराज' नेपाल में मूल रूप में प्राप्त है। समाधिराज की भाषा संस्कृत है, परन्तु वह ललित-विस्तर और महावस्तु की तरह संस्कृत-पालि-मिश्रित है। यह ग्रन्थ भारत में प्राप्त नहीं था, पर गिलगित प्रदेश में एक चरवाहे के लड़के को बकरियाँ चराते समय यह ग्रन्थ मिला। उसके साथ और भी कुछ एक ग्रन्थ थे। इन ग्रन्थों का सम्पादन कलकत्ता विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० नलिनाक्ष दत्त ने सुन्दर रीति से किया है और उसकी अंग्रेजी में विस्तृत भूमिका लिखी है। चीन और तिब्बत में पहले से ही ग्रन्थ का जाना, वहाँ उसकी प्रतिष्ठा, काश्मीर के एक प्रदेश में उसकी प्राप्ति, इसमें सूचित कनिष्क के समय तक हुई तीन धर्म-संगीतियों का निर्देश, इसकी पालि-संस्कृत-मिश्रित भाषा, इसमें लिया गया शून्यवाद का आशय—ये सब बातें देखते हुए ऐसा लगता है कि यह काश्मीर के किसी भाग में अथवा पश्चिमोत्तर भारत के किसी भाग में रचा गया हो। समाधिराज की प्रतिष्ठा और इसका प्रचार कभी इतना अधिक रहा हो कि उसने हरिभद्र जैसे महान् जैन आचार्य का ध्यान अपनी ओर खींचा।

[ ४६०-४६२ ]

तृष्णा यज्जन्मनो योनिध्रुवा सा चात्मदर्शनात् ।  
तदभावान्न तद्भावस्तत् ततो मुक्तिरित्यपि ॥

न ह्यपश्यन्नहमिति स्निह्यत्यात्मनि कश्चन ।  
न चात्मनि बिना प्रेम्णा मुखकामोऽभिधावति ॥

सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि न वैराग्यस्य संभवः ।  
न च रागवतो मुक्तिर्दातव्योऽस्या जलाञ्जलिः ॥

तृष्णा जन्म का निश्चय ही मूल है। वह आत्मदर्शन—आत्मा को एक स्वतन्त्र तत्त्व मानने से टिकती है। यदि आत्मा का अस्तित्व स्वीकार न किया जाये तो तृष्णा भी नहीं रहेगी। यों तृष्णा के अभाव में मोक्ष—दुःखों का आत्यन्तिक अभाव, दुःखों से छुटकारा प्राप्त होगा।

‘मैं हूँ’, ऐसा देखना बन्द कर देने पर—आत्मास्तित्वमूलक इस मन्यता का अभाव हो जाने पर कोई अपने में स्नेह—आसक्ति नहीं रखता। जब आत्मा में आसक्तिमूलक प्रेम नहीं होता तो मनुष्य भौतिक सुख की कामना से नहीं भटकता।

यदि आत्मा में प्रेम या आसक्ति स्थिर होगी तो वैराग्य—विरति कभी संभव नहीं होगी। रागयुक्त की कभी मुक्ति नहीं होती। अतः मोक्ष के सिद्धान्त को छोड़ ही देना पड़ेगा।

[ ४६३ ]

नैरात्म्यमात्मनोऽभावः क्षणिकोवाऽयमित्यदः ।

विचार्यमाणं नो युक्ताया द्वयमप्युपपद्यते ॥

उपर्युक्त अभिमत के उत्तर में ग्रन्थकार का कथन है—

नैरात्म्य का अर्थ आत्मा का अभाव अथवा आत्मा की क्षणिक स्थिति है। विचार करने पर ये दोनों ही बातें युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होतीं।

[ ४६४ ]

सर्वथैवात्मनोऽभावे सर्वा चिन्ता निरर्थका ।

सति धर्मिणि धर्मा यच्चिन्त्यन्ते नीतिमद्वचः ॥

यदि आत्मा का सर्वथा अभाव माना जाए तो सभी चिन्ताएँ— पुण्य, पाप, बन्धन, मुक्ति आदि से सम्बद्ध सब प्रकार के चिन्तन निरर्थक होंगे। नीति या न्यायवेत्ताओं का वचन है कि धर्मी—धर्मवान् या गुणवान का अस्तित्व होने पर ही धर्मों का विचार होता है। अर्थात् धर्मी होगा, तभी धर्म होंगे। धर्मी के अभाव में धर्मों का अस्तित्व ही कहाँ टिकेगा।

[ ४६५ ]

नैरात्म्यदर्शनं कस्य को वाऽस्य प्रतिपादकः ।

एकान्ततुच्छतायां हि प्रतिपाद्यस्तथेह कः ॥

जब आत्मा का आत्यन्तिक अभाव हो तो नैरात्म्यवाद के सिद्धान्त की सचाई का कौन अनुभव करे, क्योंकि अनुभव तो आत्मा करती है,

और इस मत के अनुसार उसका अस्तित्व है नहीं। इसी प्रकार कौन इस (नैरात्म्यवाद के) सिद्धान्त का प्रतिपादन करे तथा एकान्ततः साररहित यह विषय किसके समक्ष प्रतिपादित किया जाए, किसे समझाया जाए।

[ ४६६-४६७ ]

कुमारीसुतजन्मादिस्वप्नबुद्धिसमोदिता ।

भ्रान्तिः सर्वेयमिति चेन्ननु सा धर्म एव हि ॥

। कुमारी भाव एवेह यदेतदुपपद्यते ।

वन्ध्यापुत्रस्य लोकेऽस्मिन्न जातु स्वप्नदर्शनम् ॥

स्वप्न में कुमारिका को पुत्र-जन्म की अनुभूति एक भ्रान्ति है, उसी प्रकार यह (नैरात्म्यवादी सिद्धान्त) एक भ्रान्ति है, ऐसा कहा जाता है। इसमें भी थोड़े संशोधन की गुंजाइश है। भ्रान्ति मिथ्यामूलक ही सही, एक धर्म या विषय तो है, जिसका आधार या धर्म कुमारिका अस्तित्व लिए है। इसके स्थान पर यदि वन्ध्यापुत्र को स्वप्न आने की बात कही जाए तो वह सर्वथा असंभव होगी। क्योंकि वन्ध्या-पुत्र का कहीं अस्तित्व ही नहीं होता। यह उदाहरण नैरात्म्यवाद के साथ सर्वथा संगत है। नैरात्म्यवाद वन्ध्या-पुत्र की तरह सर्वथा निराधार एवं अस्तित्व शून्य है।

[ ४६८ ]

क्षणिकत्वं तु नैवास्य क्षणाद्ूर्ध्वं विनाशतः ।

अन्यस्याभावतोऽसिद्धे रन्यथान्वयभावतः ॥

आत्मा का क्षणिकत्व भी सिद्ध नहीं होता। क्षणिक या क्षणवर्ती आत्मा अपने उद्भव के क्षण के नष्ट होते ही नष्ट हो जाती है। यों जो आत्मा नष्ट हो गई हो, उससे दूसरी का उद्भव नहीं हो सकता। वैसा होने के लिए आगामी क्षण में भी उसकी विद्यमानता माननी होगी। दूसरे प्रकार से यदि यों माना जाए कि अगले क्षण सर्वथा अन्य—पूर्ववर्ती आत्मा से बिल्कुल असम्बद्ध आत्मा उद्भूत होती है, तब फिर पूर्ववर्ती एवं उत्तरवर्ती आत्मा में अन्वय-संगति घटित नहीं होती। प्रत्येक सन्दर्भ में दोनों की असम्बद्धता सिद्ध होती है, जो वस्तुस्थिति के प्रतिकूल है।



[ ४६६ ]

भावाविच्छेद एवायमन्वयो गीयते यतः ।

स चानन्तरभावित्वे हेतोरस्यानिवारितः ॥

पदार्थों में भावों या पर्यायों की अविच्छिन्नता—पर्याय-शृंखलाबद्धता उनकी अन्वय-संगति का हेतु है। उसी के द्वारा पदार्थों के पूर्व-भाव तथा उत्तर-भाव की पारस्परिक सम्बद्धता संयोजित एवं सुस्थिर रहती है।

[ ४७० ]

स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे क्षणस्य नापरोदयः ।

अन्यजन्मस्वभावत्वे स्वनिवृत्तिसंगता ॥

यदि कोई पदार्थ उत्पन्न होकर मिट जाने का स्वभाव लिए हुए हो अर्थात् पहले क्षण उत्पन्न हुआ, अगले क्षण नष्ट हुआ, यदि ऐसा हो तो वह अगले क्षण दूसरा पदार्थ उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि वह अन्य को उत्पन्न करने का स्वभाव लिये हुए माना जाए तो उसकी निवृत्ति—नाश असंगत ठहरता है। जो स्वयं उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाए, वह अन्य को कैसे उत्पन्न करे।

[ ४७१ ]

इत्थ द्वयैकभावत्वे न विरुद्धोऽन्वयोऽपि हि ।

व्यावृत्त्याद्येकभावत्वयोगतो भाव्यतामिदम् ॥

यदि एक पदार्थ में दोनों भाव—पूर्व पर्याय की व्यावृत्ति—व्यपगम या विनाश तथा दूसरे पर्याय का उत्पाद स्वीकार किया जाए तो अन्वय-संगति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। इस पर चिन्तन करें।

[ ४७२ ]

अन्वयोऽर्थस्य न आत्मा चित्रभावो यतो मतः ।

न पुनर्नित्य एवेति ततो दोषो न कश्चन ॥

आत्मा एकान्त रूप में नित्य नहीं है। मूल रूप में नित्य होने के बावजूद उसमें चित्र-भाव पर्यायों की दृष्टि से विविधता—विभिन्न रूपात्मकता है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता। ऐसा हमारा दृष्टिकोण है।

[ ४७३ ]

न चात्मदर्शनादेव स्नेहो यत् कर्महेतुकः ।  
नैरात्म्येऽप्यन्यथाऽयं स्याज्ज्ञानस्यापि स्वदर्शनात् ॥

आत्मा के दर्शन से आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानने से स्नेह—आसक्ति उत्पन्न होती है, ऐसा कहना संगत नहीं है। आसक्ति तो कर्म-जनित है।

नैरात्म्यवादी दर्शन में जहाँ आत्मा को क्षणिक माना जाता है, वहाँ उस क्षण में ज्ञान द्वारा आत्म-दर्शन या आत्म-स्वीकार अपने आपका स्वीकार तो होता ही है। यदि यही आसक्ति का कारण हो तो नैरात्म्यवादी के लिए भी वैसा ही होगा। वह आसक्तिग्रस्त बनेगा। वास्तव में आत्म-दर्शन से आसक्ति होने का खतरा बताकर आत्मा की स्वतन्त्र शाश्वत सत्ता स्वीकार न करना समुचित नहीं है।

[ ४७४ ]

अध्रुवेक्षणतो नो चेत् कोऽपराधो ध्रुवेक्षणे ।  
तद्गता कालचिन्ता चेन्नासौ कर्मनिवृत्तितः ॥

अध्रुवेक्षण—क्षणवादी दर्शन से—आत्मा को क्षणिक मानने से आसक्ति नहीं होती, यों मानते हो तो ध्रुवेक्षण—शाश्वत आत्मवादी दर्शन ने क्या अपराध किया है, उसके सन्दर्भ में भी कुछ चिन्तन करो। आत्मवाद के स्वीकार से काल-चिन्ता—भविष्य में आसक्ति होने का जो भय देखते हो, वैसा कुछ नहीं है। ज्योंही कर्मों की निवृत्ति हो जाती है, आसक्ति, स्नेह, ममता—सब मिट जाते हैं।

[ ४७५ ]

उपप्लववशात् प्रेम सर्वत्रैवोपजायते ।  
निवृत्तो तु न तत् तस्मिन् ज्ञाने ग्राह्यादिरूपवत् ॥

सर्वत्र उपप्लव—मोह, माया आदि के कारण प्रेम उत्पन्न होता है। जब मोह नहीं रहता, माया नहीं रहती तो प्रेम या आसक्ति नहीं होती।

संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं। ग्राह्य पदार्थ ज्ञान में विप्रतिपत्ति पैदा नहीं करते। आत्मा आसक्तिग्रस्त नहीं होती।

[ ४७६ ]

स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो यतो मुख्यस्य युज्यते ।  
ततो वैराग्यसंसिद्धेर्मुक्तिरस्य नियोगतः ॥

प्रेम, जिसे बन्धन का मुख्य हेतु माना जाता है, अपने आप में स्थिर नहीं है। वह तो जैसा कहा गया है, मोह आदि से जनित है। उनके मिट जाने पर वैराग्य—रागातीत या अनासक्त भाव उत्पन्न हो जाता है। फलतः मुक्ति प्राप्त होती है।

[ ४७७ ]

बोधमात्रेऽद्वये सत्ये कल्पिते सति कर्मणि ।  
कथं सदाऽस्याभावादि नेति सम्यग् विचिन्त्यताम् ॥

बोध को ही एकमात्र सत्य—तत्त्वरूप में स्वीकार किया जाए तो कर्म कल्पित—अयथार्थ सिद्ध होता है। वैसा होने पर वैराग्यादि से प्रतिफलित मुक्ति, शुभ, अशुभ, क्रिया से प्रतिफलित सुख-दुःख आदि या तो सदा प्राप्त रहें या अप्राप्त रहें। क्योंकि जब कर्म है ही नहीं, मात्र ज्ञान है तो उस (ज्ञान) की अनुकूल प्रतिकूल स्थिति के अनुरूप सब होगा। पर, इस जगत् में वस्तुस्थिति वैसी है नहीं। इस पर सम्यक् रूप में विचार करें।

[ ४७८ ]

एवमेकान्तनित्योऽपि हन्तात्मा नोपपद्यते ।  
स्थिरस्वभाव एकान्ताद् यतो नित्योऽभिधोयते ॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानना भी युक्तिसंगत नहीं है। एकान्त-नित्य का तात्पर्य आत्मा का स्थिर—अपरिवर्तनशील, अपरिणमनशील स्वभाव-युक्त होना है।

[ ४७९ ]

तदयं कर्तृभावः स्याद् भोक्तृभावोऽथवा भवेत् ।  
उभयानुभयभावो वा सर्वथाऽपि न युज्यते ॥

आत्मा को एकान्त-नित्य मानने से उसमें या तो एकान्ततः कर्तृभाव होगा या भोक्तृभाव होगा। अर्थात् वैसे स्थिति में आत्मा या तो एकान्त-रूपेण कर्ता होगी या भोक्ता। कर्तृत्व, भोक्तृत्व—दोनों भाव उसमें एक साथ घटित नहीं होंगे।

[ ४८० ]

एकान्तकर्तृभावत्वे कथं भोक्तृत्वसंभवः ।  
भोक्तृभावनियोगेऽपि कर्तृत्वं ननु दुःस्थितम् ॥

एकान्त रूप में कर्तृ-भाव होने से भोक्तृ-भाव सम्भव नहीं होता। उसी प्रकार एकान्ततः भोक्तृ-भाव होने पर कर्तृ-भाव का होना कठिन है—कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता।

[ ४८१ ]

न चाकृतस्य भोगोऽस्ति कृतं वाऽभोगमित्यपि ।  
उभयानुभयभावत्वे विरोधासंभवौ ध्रुवौ ॥

अकृत—नहीं किये हुए का भोग नहीं होता—जो किया ही नहीं गया है, उसे भोगना कैसे सम्भव हो। कृत—किये हुए का अभोग नहीं होता—जो किया गया है, उसको भोगना ही होगा। वह अभुक्त कैसे रहेगा? यदि आत्मा में उभय—कर्तृत्व तथा भोक्तृत्व—दोनों ही स्थितियाँ मानी जायें तो सिद्धान्त में विरोध आयेगा। उसका यों मानना उसके कथन के विरुद्ध होगा। यदि आत्मा में अनुभय—दोनों ही स्थितियाँ न मानी जायें तो यह एक असम्भव बात होगी।

[ ४८२ ]

यत्तथोभयभावत्वेऽप्यभ्युपेतं विरुध्यते ।  
परिणामित्वसंगत्या न त्वागोऽत्रापरोऽपि वः ॥

आत्मा का उभय भावत्व—आत्मा कर्ता है, भोक्ता है—यों उसके दोनों स्वरूपों का स्वीकार प्रतिवादी के विरुद्ध जाता है, जो उसे एकान्त-नित्य मानता है। अतएव आत्मा का परिणामित्व—परिणमनशीलता मानना संगत है। ऐसा मानने से कहीं कोई दोष नहीं आता।

[ ४८३ ]

एकान्तनित्यतायां तु तत्तथैकत्वभावतः ।  
भवापवर्गभेदोऽपि न मुख्य उपपद्यते ॥

आत्मा की एकान्त-नित्यता मान लेने पर वह सर्वथा एक ही भाव में अवस्थित रहेगी । वैसी स्थिति में संसार और मोक्ष—आत्मा की संसारावस्था तथा मुक्तावस्था के रूप में कोई भेद घटित नहीं होता, जो वस्तुतः मुख्य भेद है ।

[ ४८४ ]

स्वभावापगमे यस्माद् व्यक्तैव परिणामिता ।  
तयाऽनुपगमे त्वस्य रूपमेकं सदैव हि ॥

अपेक्षा-भेद से आत्मा अपने स्वभाव का (अंशतः) परित्याग कर दूसरे स्वभाव को ग्रहण करती है । अथवा जब आत्मा मोक्ष प्राप्त करती है तो संसारावस्था रूप स्वभाव का परित्याग होता है, तत्प्रतिकूल शुद्ध्यात्मक स्वभाव का अधिगम होता है । इससे आत्मा की परिणामिता—परिणमनशीलता स्पष्ट है । यदि आत्मा परिणमनशील न हो तो सदा उसका एक ही रूप रहे ।

यहाँ स्वभाव शब्द आत्मा के पर्यायात्मक स्वरूप के अर्थ में प्रयुक्त है, जो परिवर्तनशील है ।

[ ४८५ ]

तत् पुनर्भाविकं वा स्यादापवर्गिकमेव वा ।  
आकालमेकमेतद्वि भवमुक्तो न सङ्गते ॥

उपर्युक्त रूप में यदि यह स्वीकार किया जाये कि आत्मा सदा एक ही रूप में रहती है तो उसका प्रतिफल यह होगा कि या तो वह सदा सांसारिक रूप में रहेगी या मोक्षावस्था में रहेगी । संसारावस्था में आना या उससे छूटना—ये दोनों ही बातें वहाँ घटित नहीं होतीं । क्योंकि यदि वह संसार में है तो सदा से है, सदा रहेगी । यदि वह मोक्ष में है तो वहाँ भी वैसी ही स्थिति होगी ।

[ ४८६ ]

बन्धाच्च भवसंसिद्धिः सम्बन्धश्चित्रकार्यतः ।  
तस्यैकान्तैकभावत्वे न त्वेषोऽप्यनिबन्धनः ॥

कर्म-बन्ध से संसारावस्था प्राप्त होती है । कर्म-बन्ध विविध प्रवृत्तियों के कारण होता है, जिसका प्रतिफल आत्मा के सांसारिक अस्तित्व की भिन्न-भिन्न दशाओं तथा अनभूतियों में प्राप्य है । यदि आत्मा में एकान्त रूप में एकभावात्त्व—एकभावात्मकता—अपरिवर्तनशीलता मानी जाये तो सांसारिक रूपों, अनुभवों आदि की भिन्नता का फिर कोई कारण उपलब्ध नहीं होगा । कारण के बिना कार्य हो, यह असम्भव है ।

[ ४८७ ]

नृपस्येवाभिधानाद् यः साताबन्धः प्रकीर्त्यते ।  
अहिशङ्काविषज्ञाताच्चेतरोऽसौ निरर्थकः ॥

किसी को केवल नाम से राजा होने के कारण राजोचित सुख नहीं मिल सकते । इसी प्रकार किसी को साँप काट गया हो, मात्र ऐसी शंका से उसके विष नहीं चढ़ जाता । ये मिथ्या कल्पनाएँ हैं । ऐसी ही स्थिति आत्मा के एकान्त-नित्यत्व - सिद्धान्त की है । कहने भर को कोई चाहे वैसा कहे पर वास्तव में वैसा होता नहीं ।

[ ४८८ ]

एवं च योगमार्गोऽपि मुक्तये यः प्रकल्प्यते ।  
सोऽपि निर्विषयत्वेन कल्पनामात्रभद्रकः ॥

यदि एकान्त-नित्यत्व का सिद्धान्त मान लिया जाए तो मुक्ति के लिए जो योग-मार्ग बताया जाता है, उसका फिर कोई लक्ष्य नहीं रह जायेगा । वह केवल कहने भर के लिए सुन्दर होगा ।

[ ४८९ ]

दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि पूर्वसूर्युदितं तथा ।  
आत्मनोऽपरिणामित्वे सर्वमेतदपार्थक्यम् ॥

पुरुष की दिदृक्षा—देखने की इच्छा की निवृत्ति हेतु प्रकृति सृष्टि-

क्रम में प्रवृत्त होती है, ऐसा सांख्य - योग के पूर्ववर्ती आचार्यों ने कहा है ।

यह भी पुरुष (आत्मा) के अपरिणामी होने पर निरर्थक सिद्ध होता है ।

जैसाकि सांख्याचार्य ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में उल्लेख किया है, सृष्टि-क्रम के सम्बन्ध में सांख्य-दर्शन में माना गया है कि पुरुष के दर्शनार्थ, पुरुष—प्रकृति, महत्, अहंकार, पाँच तन्मात्राएँ, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा पाँच महाभूत—इन सबको देखे, इस हेतु तथा पुरुष के कैवल्य—मोक्ष हेतु प्रकृति की प्रवृत्ति होती है ।<sup>१</sup>

इसका अभिप्राय यह है—यों पुरुष की दिदृक्षा निवृत्त होगी, अपने स्वरूप का उसे भान होगा । (पञ्चीस) तत्त्वों का सम्यक् ज्ञान कर वह मुक्त हो जायेगा ।<sup>२</sup>

महर्षि पतंजलि ने भी इसी आशय की ओर संकेत किया है कि द्रष्टा (पुरुष या आत्मा) को दर्शन में प्रवृत्त करने हेतु, उसका अपवर्ग—मोक्ष साधने हेतु दृश्य—प्रकृति आदि का प्रयोजन है ।<sup>३</sup>

इन सन्दर्भों को दृष्टि में रखते हुए ग्रन्थकार का प्रतिपादन है कि पुरुष यदि अपरिणामी है तो यह सब असिद्ध होता है । पुरुष के परिणमन-शील होने पर ही ऐसा संभाव्य है ।

[ ४६० ]

परिणामिन्यस्तो नीत्या चित्रभावे तथाऽऽत्मनि ।

अवस्थाभेदसंगत्या योगमार्गस्य संभवः ॥

आत्मा परिणामी तथा विविध भावापन्न है, यह न्याय-संगत है । ऐसा होने से ही उसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ संगत ठहरती हैं । तभी योग-मार्ग की संभावना घटित होती है ।

१. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।  
पङ्गवन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥ —सांख्यकारिका २१
२. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे वसन् ।  
जटी मुण्डी शिखी वापि मुच्यते नात्र संशयः ॥—सांख्यकारिका १ गोडपादभाष्य
३. तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।  
—पातञ्जल योग सूत्र २.२१

[ ४६१ ]

तत्त्वभावत्वतो यस्मादस्य तात्त्विक एव हि ।  
क्लिष्टस्तदन्यसंयोगात् परिणामो भवावहः ॥

आत्मा का ऐसा अपना स्वभाव है, अतएव उसकी परिणमनशीलता तात्त्विक—वास्तविक है। अन्य—विजातीय पदार्थों के संयोग से आत्मा क्लेशमय संसारावस्था में परिणत होती है।

। अविद्या—अज्ञान, अस्मिता—मोह, राग—महामोह, द्वेष—द्विष्ट-भाव एवं अभिनिवेश—सांसारिक विषयासक्ति तथा मृत्यु द्वारा सांसारिक विषयों के वियोग की भीति—योग में ये पाँच क्लेश कहे गये हैं।

[ ४६२ ]

स योगाभ्यासजेयो यत्तत्क्षयोपशमादितः ।  
योगोऽपि मुख्य एवेह शुद्ध्यवस्थास्वलक्षणः ॥

योगाभ्यास द्वारा आत्मा के क्लेशात्मक परिणामों का उपशम एवं क्षय होता है। आत्मशुद्धि की अवस्था योग का लक्षण है—योग से आत्म-शुद्धि अधिगत होती है।

[ ४६३ ]

ततस्तथा तु साध्वेव तदवस्थान्तरं परम् ।  
तदेव तात्त्विकी मुक्तिः स्यात् तदन्यवियोगतः ॥

योग द्वारा आत्मा क्रमशः विकास करती हुई परं साधु—परम उत्तम—अत्यन्त उत्कर्षमय अवस्था प्राप्त करती है। तत्त्वतः वही मुक्ति है। क्योंकि तदन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व कर्म आदि से उसका वियोग हो जाता है—बन्धन से छुटकारा हो जाता है।

[ ४६४ ]

अत एव च निर्दिष्टं नामास्यास्तत्त्ववेदिभिः ।  
वियोगोऽविद्यया बुद्धिः कृत्स्नकर्मक्षयस्तथा ॥

यही कारण है, तत्त्ववेत्ताओं ने अविद्या से वियोग, बुद्धि (बोध) तथा सर्वकर्मक्षय आदि विशेषतामूलक नामों से इसे अभिहित किया है।



ये संज्ञाएँ क्रमशः वेदान्त, बौद्ध तथा जैन दर्शन से सम्बद्ध हैं ।

[ ४६५ ]

शं शैशीसंज्ञिताच्चेह समाधेरुपजायते ।  
कृत्स्नकर्मक्षयः सोऽयं गीयते वृत्तिसंक्षयः ॥

विकास के पथ पर आगे बढ़ती हुई आत्मा अन्ततः शैलेशी समाधि—  
पर्वतराज मेरु के सदृश अडोल, अप्रकम्प, स्वनिष्ठ एवं सुस्थिर अवस्था प्राप्त  
कर लेती है । समग्र कर्म क्षीण हो जाते हैं । उसे वृत्तिसंक्षय कहा जाता है ।

[ ४६६ ]

तथा तथा क्रियाविष्टः समाधिरभिधीयते ।  
निष्ठाप्राप्तस्तु योगज्ञं मुक्तिरेष उदाहृतः ॥

कर्म-पार्थक्य साधने, शुद्धावस्था प्राप्त करने, आत्मस्थ होने का क्रम  
समाधि—आत्मलीनता है । परिपक्वावस्था पा लेने पर—सर्वकर्मनिवृत्ति-  
रूप परम शुद्धावस्था निष्पन्न हो जाने पर उसे योगवेत्ताओं ने मुक्ति कहा है ।

[ ४६७ ]

संयोगयोग्यताभावो यदिहात्मतदन्ययोः ।  
कृतो न जातु संयोगो भूयो नैवं भवस्ततः ॥

यह वह अवस्था है जहाँ आत्मा के कर्म के साथ संयोग की—कर्म  
बाँधने की योग्यता का अभाव हो जाता है । फिर आत्मा का कर्मों के साथ  
संयोग या सम्बन्ध नहीं होता । इसीलिए उसे पुनः कभी संसार में—जन्म-  
मरण के चक्र में आना नहीं पड़ता ।

[ ४६८ ]

योग्यताऽऽत्मस्वभावस्तत् कथमस्या निवर्तनम् ।  
तत्तत्स्वभावतायोगादेतल्लेशेन दर्शितम् ॥

योग्यता जब आत्मा का स्वभाव है, तब उसकी निवृत्ति कैसे  
सम्भव है ?

इसका उत्तर है—प्रस्तुत योग्यता का निवर्तन—अपगम करना भी  
आत्मा का स्वभाव है, जिसके कारण योग्यता निवृत्त हो जाती है ।

थोड़ा और प्रकाश इसी विषय पर डाला जा रहा है।

परिणामित्व

[ ४६६-५०० ]

स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेदेवमस्य प्रसज्यते ।  
अस्त्वेवमपि नो दोषः कश्चिदत्र विभाव्यते ॥

परिणामित्व एवेतत् सम्यगस्योपपद्यते ।  
आत्माभावेऽन्यथा तु स्यादात्मसत्तेत्यदश्च न ॥

एक ओर कर्म बाँधने की योग्यता आत्मा का स्वभाव है, दूसरी ओर उस योग्यता का निवर्तन भी उसका स्वभाव है। प्रश्न उपस्थित होता है, योग्यता का निवर्तन क्या स्वनिवृत्ति—अपने स्वभाव का—स्वरूप का निवर्तन नहीं है ?

इसका उत्तर है, किसी अपेक्षा से वैसा हो, उसमें कोई दोष नहीं आता।

आत्मा के परिणामनशील स्वभाव के कारण वह उपयुक्त ही है। आत्मा का कभी सर्वथा अभाव नहीं होता। सत्ता रूप में वह सदा सुस्थिर है। पर एक अवस्था छोड़ना, दूसरी में जाना, ऐसा तो उसके होता ही है। जब एक अवस्था छोड़ी जाती है तो आत्मा के उस अवस्थावर्ती भाव का अपगम होता है। वह अपगम आत्मा के ध्रुव अस्तित्व का अभाव नहीं है।

[ ५०१ ]

स्वभावविनिवृत्तिश्च स्थितस्दापीह दृश्यते ।  
घटादेर्नवतात्यागे तथा तद्भावसिद्धितः ॥

जो वस्तु स्थित है—स्थिरतया विद्यमान है, उसमें स्वभाव-विशेष का परित्याग दिखाई देता ही है। जैसे घट आदि पदार्थ नवीनता को छोड़ते हैं—अपने नवीन भाव का व्यतीत होते समय के साथ परित्याग करते हैं, दूसरे भाव को स्वीकार करते हैं पर उनका मूल भाव—मौलिक अस्तित्व विद्यमान रहता है।

[ ५०२ ]

नवताया न चात्यागस्तथा नातस्त्वभावता ।  
घटादेर्न न तद्भाव इत्यत्रानुभवः प्रमा ॥

घड़ा अपनी नवीनता नहीं त्यागता हो, ऐसा नहीं है । नवीनता उसका स्वभाव नहीं है, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता । नवीनता छोड़ने पर घड़ा घड़ा नहीं रहता, उसका अस्तित्व मिट जाता हो, ऐसा भी नहीं है अर्थात् नवीनता घड़े का स्वभाव-विशेष है, जिसका वह परित्याग करता है, फिर भी घड़ा रहता है । प्रत्यक्ष अनुभव से यह ज्ञान होता ही है—यह साक्षात् अनुभव-सिद्ध है ।

[ ५०३ ]

योग्यतापगमेऽप्येवमस्य भावो व्यवस्थितः ।  
सर्वोऽत्सुक्यन्निर्मुक्तः स्तिमितोदधिसन्निभः ॥

कर्म-सम्बद्ध होने की अपनी योग्यता का त्याग कर देने पर भी आत्मा का अस्तित्व रहता है, जो उत्सुकता, आकांक्षा, चिन्ता आदि से रहित, समुद्र की तरह शान्त एवं सुस्थिर बना रहता है ।

[ ५०४ ]

एकान्तक्षीणसंक्लेशो निष्ठितार्थस्ततश्च सः ।  
निराबाधः सदानन्दो मुक्तावात्माऽवतिष्ठते ॥

कर्म-बद्ध होने की योग्यता का परित्याग कर देने पर—कर्म-बन्ध का क्रम अवरुद्ध हो जाने पर आत्मा, जिसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश रूप क्लेश क्षीण हो गये हों, जो कृतकृत्य हो, जो करने योग्य था, उसे जो कर चुकी हो, विघ्न-बाधाओं से रहित हो, शाश्वत आनन्द से युक्त हो, मोक्ष में संस्थित हो जाती है—मुक्तावस्था प्राप्त कर लेती है ।

[ ५०५ ]

अस्यावाच्योऽयमानन्दः कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।  
अयोगी न विजानाति सम्यग् जात्यन्धवद् घटम् ॥

मुक्तात्मा द्वारा जो आनन्दानुभव किया जाता है, वह अवाच्य—अनि-  
र्वचनीय—वाणी द्वारा न कहे जा सकने योग्य है। जैसे एक कुमारिका स्त्री-  
सुख नहीं जानती, एक जन्मान्ध पुरुष घट (आदि) को भलीभाँति नहीं  
जानता, उसी प्रकार अयोगी—योगसाधनाशून्य पुरुष मुक्ति का आनन्द नहीं  
जानता।

[ ५०६ ]

योगस्यैतत् फलं मुख्यमैकान्तिकमनुत्तरम् ।  
आत्यन्तिकं परं ब्रह्म योगविद्भिर्ब्रूदाहृतम् ॥

योग का मुख्य—वास्तविक फल परं ब्रह्म प्राप्ति या मुक्तावस्थारूप  
आनन्द है, जो ऐकान्तिक—निश्चित रूप में अवश्य टिकने वाला, आत्य-  
न्तिक—नित्य टिकने वाला, अनुत्तर—जिससे बढ़कर दूसरा कोई नहीं—  
सर्वोत्तम होता है। योगवेत्ताओं ने ऐसा बतलाया है।

[ ५०७ ]

सद्गोचरादिसंशुद्धिरेषाऽऽलोच्येह धीधनैः ।  
साध्वी चेत् प्रतिपत्तव्या विद्वत्ताफलकाङ्क्षिभिः ॥

प्रज्ञा ही जिनकी संपत्ति है, जो अपनी विद्वत्ता का यथार्थ फल चाहते  
हैं, ऐसे सुयोग्य पुरुषों को योग द्वारा साध्य लक्ष्य-शुद्धि—शुद्धिपूर्वक लक्ष्य-  
प्राप्ति के सन्दर्भ में, जो प्रस्तुत ग्रन्थ में व्याख्यात है, आलोचन—चिन्तन-  
विमर्श करना चाहिए। उन्हें समीचीन प्रतीत हो तो उसे अपनाना चाहिए।

[ ५०८ ]

विद्वत्तायाः फलं नान्यत् सद्योगाभ्यासतः परम् ।  
तथा च शास्त्रसंसार उक्तो विमलबुद्धिभिः ॥

उत्तम योग का अभ्यास ही विद्वत्ता का महान् फल है, दूसरा नहीं।  
यदि ऐसा नहीं हो तो निर्मलचेता सत्पुरुषों के कथनानुसार शास्त्र संसार है।

[ ५०९ ]

पुत्रदारादिसंसारः पुंसां समूढचेतसाम् ।  
विदुषां शास्त्रसंसारः सद्योगरहितात्मनाम् ॥

माया-मोह से विभ्रान्तचेता पुरुषों के लिए पुत्र, स्त्री आदि का संसार है और उन विद्वानों के लिए, जो योगसाधना-रहित हैं, शास्त्र संसार है ।

[ ५१० ]

कृतमत्र प्रसङ्गेन प्रायेणोक्तं तु वाञ्छितम् ।  
अनेनैवानुसारेण विज्ञेयं शेषमन्यतः ॥

अब विस्तार में जाना अपेक्षित नहीं है । जो वाञ्छित—अभीष्ट था—कहना चाहते थे, प्रायः कह दिया है । इसी के अनुसार, अन्यान्य स्रोतों से और जानना चाहिए, समझना चाहिए ।

[ ५११ ]

एवं तु मूलशुद्धयेह योगभेदोपवर्णनम् ।  
चारुमात्रादिसत्पुत्रभेदव्यावर्णनोपमम् ॥

मूल शुद्धि के आधार पर योग के भिन्न-भिन्न भेदों का यहाँ उत्तम माता-पिता के श्रेष्ठ पुत्र की विशेषताओं का ज्यों विवेचन किया गया है ।

[ ५१२ ]

अन्यद् वान्धयेयभेदोपवर्णनकल्पमित्यतः ।  
न मूलशुद्ध्यभावेन भेदसाम्येऽपि वाचिके ॥

अन्य परम्पराओं में भी योग के ऐसे भेद व्याख्यात हुए हैं पर वहाँ मूल शुद्धि का अभाव है अतः शाब्दिक दृष्टि से वे हमारे सदृश होते हुए भी बन्ध्या-पुत्र की विशेषताओं के वर्णन की तरह कल्पना-मात्र—निःसार हैं ।

बन्ध्या के पुत्र होता ही नहीं, फिर उस (पुत्र) की विशेषताओं की बात ही कहाँ फलित हो । [इसी प्रकार जहाँ मूलतः ही शुद्धि नहीं है, वहाँ योग कैसे सध, फिर उसके भेदों की विवेचना का प्रश्न ही कहाँ ?

[ ५१३ ]

यथेह पुरुषाद्वैते बद्धमुक्ताविशेषतः ।  
तदन्याभावनान्देव तद् द्वैतेऽपि निरूप्यताम् ॥  
अद्वैतवादी दर्शन में केवल 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म' के अनुसार केवल

एक ही आत्मा का स्वीकार है। वहाँ कर्मबद्ध आत्मा तथा कर्ममुक्त आत्मा—ऐसा भेद घटित नहीं होता। यदि बद्ध, मुक्त का भेद किया जाये तो अद्वैत खण्डित होता है, वह द्वैत बन जाता है।

यह सिद्धान्त संगत नहीं है। द्वैतवादी सिद्धान्त में भी इसी प्रकार अपनी कोटि की असंगति है।

[ ५१४ ]

अंशावतार एकस्य कुत एकत्वहानितः ।

निरंश एक इत्युक्तः स चाद्वैतनिबन्धनम् ॥

अद्वैतवादी सिद्धान्त में ऐसा नहीं माना जाता कि एक ही आत्मा में अंश रूप में अनेक भाग हैं। यदि ऐसा माना जाये तो मात्र एक ही आत्मा या केवलाद्वैत की वास्तविकता नहीं ठहरती। सिद्धान्ततः आत्मा निरंश या अखण्ड है। यह निरंशता या अखण्डता ही अद्वैतवाद का आधार है।

[ ५१५ ]

मुक्तांशत्वे विकारित्वमंशानां नोपपद्यते ।

तेषां चेहाविकारित्वे सन्नोत्या मुक्तांशिनः ॥

यदि ऐसा माना जाये कि भिन्न-भिन्न आत्माएँ मुक्तात्मा—परमात्मा की अंश रूप हैं तो उनमें विकार संगत नहीं होता। मुक्तात्मा अविकारी है। अविकारी के अंश अविकारी ही होते हैं, विकारी नहीं। यदि कहा जाये कि वे अंशरूप आत्माएँ अविकारी हैं तो तर्क-युक्ति पूर्वक यह सिद्ध करना होगा कि आत्मा की मुक्ति व्यष्टिरूप अंशों से निष्पन्न समष्टि रूप में होती है।

[ ५१६ ]

समुद्रोमिसमत्वं च यदंशानां प्रकल्प्यते ।

न हि तद्भेदकाभावे सम्यग् युक्त्योपपद्यते ॥

परमात्मा के अंशरूप में अभिमत आत्माएँ एक ही समुद्र से उठती विभिन्न लहरों के समान हैं, उपमा द्वारा ऐसा जो विवेचन किया जाता है, तद्गत तथ्य भी संगत नहीं है। जैसे समुद्र लहरों से विभक्त या प्रभावित प्रतीत होता है, वैसे परमात्मा इन आत्माओं से विभक्त या प्रभावित नहीं होता।

[ ५१७ ]

सदाद्यमत्र हेतुः स्यात् तात्त्विके भेद एव हि ।  
प्रागभावादिसंसिद्धेर्न सर्वथाऽन्यथा त्रयम् ॥

आद्य—निर्विकार—शुद्ध सत्, अंश तथा भेदक—ये तीन तत्त्वतः जहाँ विद्यमान रहते हैं, वहाँ प्रागभाव<sup>१</sup> आदि की सिद्धि होती है। वस्तु के भावत्व की सिद्धि इन अभावों के होने, न होने के चिन्तन पर आधृत है।

[ ५१८ ]

सत्त्वाद्यभेद एकान्ताद् यदि तद्भेददर्शनम् ।  
भिन्नार्थमसदेवेति तद्वेद्वं तदर्शनम् ॥

यदि सत्त्व—अस्तित्व, सत्ता आदि एकान्त रूप में अभिन्न हो अर्थात् जिस वस्तु का जैसा अस्तित्व है, वह सदा एकान्ततः उसी रूप में रहे तो जगत् में जो भिन्न-भिन्न पदार्थ, प्रयोजन तथा उद्देश्य-गत भेद दिखाई देते हैं, वे असत्—अयथार्थ, कल्पित या मिथ्या हैं, उसी प्रकार अद्वैत दर्शन भी। क्योंकि वह भी आत्मैक्य की ऐकान्तिक मान्यता पर अवस्थित है।

[ ५१९ ]

यदा नार्थान्तरं तत्त्वं विद्यते किञ्चिदात्मनम् ।  
मालिन्यकारि तत्त्वेन न तदा बन्धसंभवः ॥

यदि अर्थान्तर—कोई विजातीय पदार्थ आत्मा को मलिन—कलुषित बनाने वाला नहीं है तो आत्मा के बद्ध होने की—बन्ध में आने की सम्भावना नहीं रहती।

[ ५२० ]

असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिर्बन्धाभावनिबन्धना ।  
मुक्तमुक्तिर्न यन्न्याय्या भावेऽस्यातिप्रसङ्गिता ॥

बन्धन के न होने पर मुक्ति कहाँ से होगी। वह तो बन्धन के अपगत होने या मिटने पर होती है। जब बन्धन है ही नहीं, तब अपगत होने या

१. अभाव न्यायदर्शन द्वारा स्वीकृत सात पदार्थों में एक है। उसके चार भेद हैं—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव, अन्योन्याभाव।

—तर्क भाषा पृष्ठ २२१-२२४ (चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-१)

मिटने का प्रसंग नहीं होता। जो मुक्त हैं, उनका पुनः मुक्त होना न्यायसंगत नहीं है। वैसा न मानना अर्थात् मुक्त की पुनः मुक्ति मानना अप्रासंगिक है, तत्त्व-व्यवस्था में बाधक है।

[ ५२१ ]

कल्पितादन्यतो बन्धो न जातु स्यादकल्पितः ।

कल्पितश्चेत् ततश्चिन्त्यो ननु मुक्तिरकल्पिता ॥

। किसी अन्य कल्पित—कल्पनाप्रसूत—अयथार्थ हेतु से अकल्पित—यथार्थ बन्ध नहीं हो सकता। यदि कहा जाए कि बन्ध भी कल्पित ही है तो यह चिन्त्य—दोषपूर्ण है, बाधित है, क्योंकि जब मुक्ति निश्चित रूप से अकल्पित है तो बन्ध भी अकल्पित ही होगा। बन्ध से छूटना ही तो मुक्ति है। वह अकल्पित होगा तभी उससे छूटकारा सम्भव होगा। कल्पित से, जिसकी कोई वास्तविक सत्ता ही नहीं है, कैसा छूटकारा !

[ ५२२-५२३ ]

नान्यतोऽपि तथाभावादृते तेषां भवादिकम् ।

ततः किं केवलानां तु ननु हेतुसमत्वतः ॥

मुक्तस्येव तथाभावकल्पना यन्निरर्थका ।

स्यादस्यां प्रभवन्त्यां तु बीजादेवाङ्कुरोदयः ॥

अन्य—आत्मेतर विजातीय तत्त्व—कर्म अपना सांसारिक अस्तित्व लिए हुए हैं। फलतः वह तद्गत परिणमन से संपृक्त है। यदि आत्मा में तत्सम्बद्ध भावों में परिणत होने की योग्यता न मानी जाये तो भिन्न-भिन्न संसारावस्थाओं का अनुभव करना उसके लिए सम्भव नहीं होता।

यदि कहा जाये कि विजातीय तत्त्व की सम्बद्धता के बिना ही आत्मा की ऐसी योग्यता है तो इसका उत्तर यों है—विजातीय तत्त्व (कार्य) के सम्बन्ध के बिना आत्मा में ऐसी योग्यता स्वीकार करना संगत नहीं होता। उदाहरणार्थ—जैसे मुक्तात्मा में ससारावस्था में आने की योग्यता नहीं मानी जाती; जिसका कारण उसका कर्मों से असम्बद्ध होना है। इसका फलित यह हुआ, ऐसी योग्यता, अयोग्यता का आधार कर्मों से सम्बद्धता या असम्बद्धता है। फिर अमुक्त आत्माएँ कर्मों से असम्बद्ध होती हुई



भी ऐसी योग्यता रखें, यह सर्वथा असम्भव है। बीज से ही अंकुर फूटता है, पत्थर से नहीं, उसी प्रकार कर्मरूप बीज के कारण ही आत्मा में वैसी योग्यता निष्पन्न होती है, अन्यथा नहीं।

[ ५२४ ]

एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञस्तत्त्वतः स्वहितोद्यतेः ।  
माध्यस्थ्यमवलम्ब्योच्चैरालोच्यं स्वयमेव तु ॥

वस्तुतः अपना हित—कल्याण साधने में समुद्यत शास्त्रवेत्ताओं को चाहिए, वे माध्यस्थ्य-भाव का अवलम्बन कर—तटस्थ होकर प्रस्तुत विषय—योग पर विशेष रूप से चिन्तन-विमर्श करें।

[ ५२५ ]

आत्मीयः परकीयो वा कः सिद्धान्तो विपश्चिताम् ।  
दृष्टेष्टाबाधितो यस्तु युक्तस्तस्य परिग्रहः ॥

विद्वानों के लिए कौन सिद्धान्त अपना है और कौन पराया है। जो दृष्ट—निरीक्षण-परीक्षण द्वारा बाधित न हो, इष्ट—अपने अभीप्सित लक्ष्य के प्रतिकूल न हो, उसे ग्रहण करना उनके लिए युक्त—समुचित है।

[ ५२६ ]

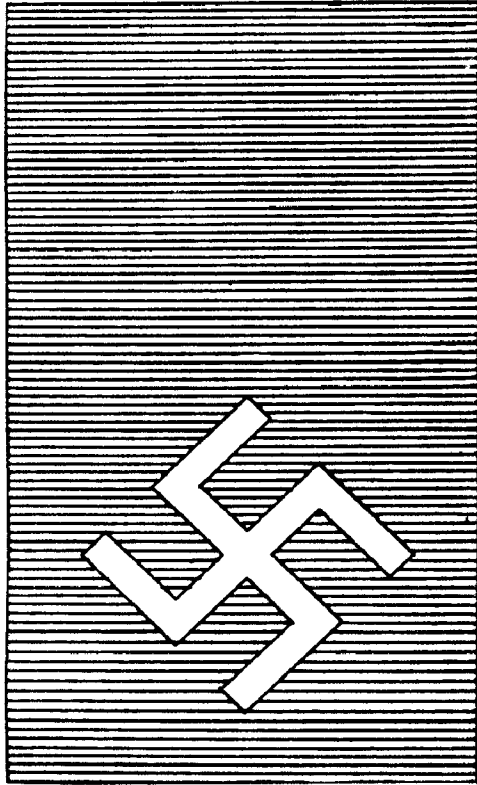
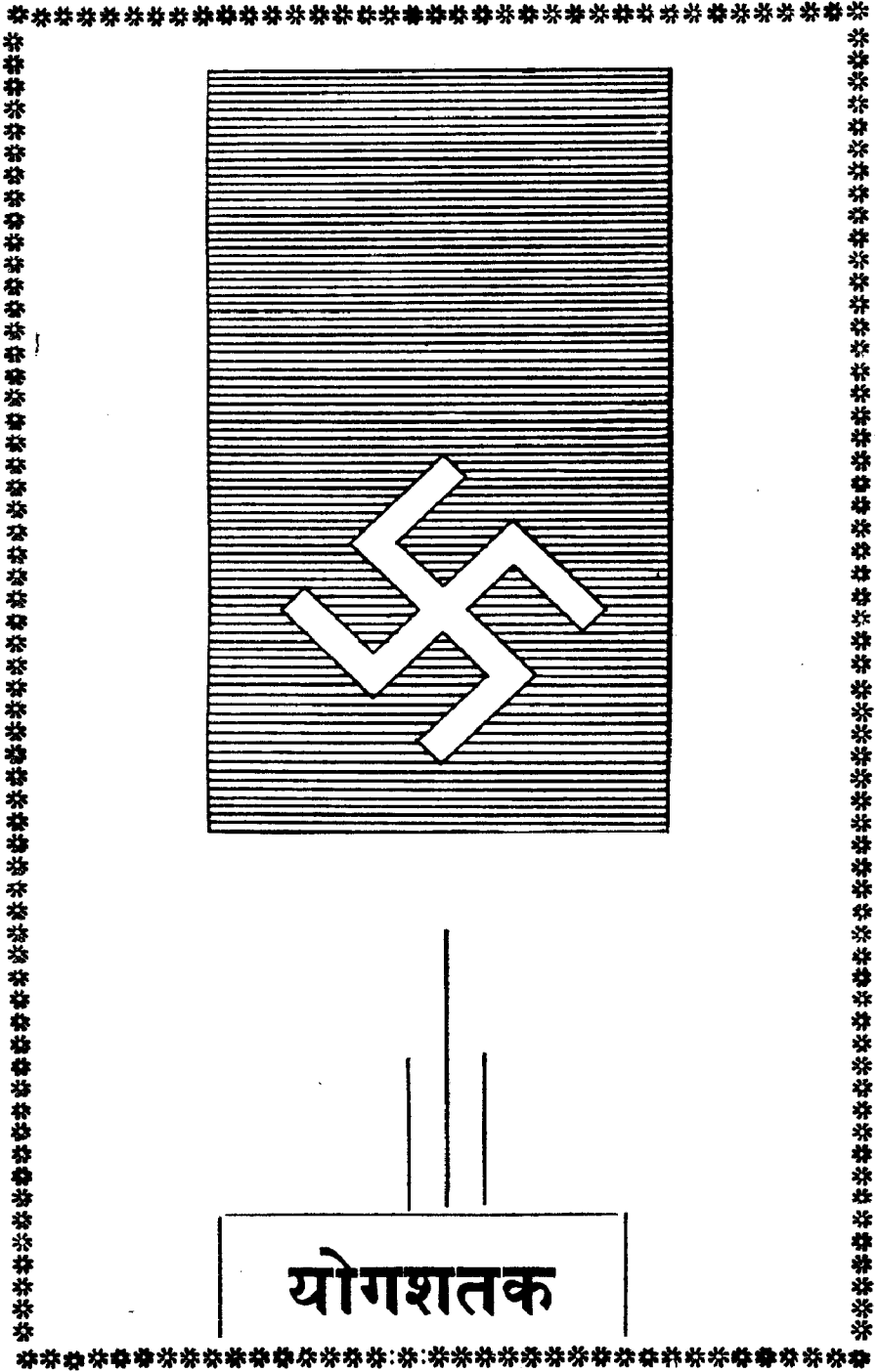
स्वल्पमत्यनुकम्पायै योगशास्त्रमहार्णवात् ।  
आचार्यहरिभद्रेण योगबिन्दुः समुद्धृतः ॥

सामान्य बुद्धि युक्त पुरुषों पर अनुग्रह करने हेतु, उन्हें लाभ पहुँचाने हेतु आचार्य हरिभद्र ने योगशास्त्ररूप महासागर से योग बिन्दु—योग की बूँद समुद्धृत की—निकाली।

[ ५२७ ]

समुद्धृत्याजितं पुण्यं यदेनं शुभयोगतः ।  
भवान्ध्यविरहात् तेन जनः स्ताद् योगलोचनः ॥

यों योगबिन्दु समुद्धृत कर शुभ योग द्वारा उन्होंने जो पुण्य अर्जित किया, उनकी भावना है, उसके फलस्वरूप मानव-समुदाय का भवभ्रमणरूप अन्धता से विरह हो—जन्म-मरण के चक्र में डालने वाला अज्ञान छूटे, उसे योगरूप नेत्र प्राप्त हो। □



योगशतक



## योगशतक

भंगलाचरण—

[ १ ]

नमिऊण जोगिनाहं सुजोगसंदसंगं महावीरं ।  
बोच्छामि जोगलैसं जोगज्जयणाणुसारेण ॥

योगियों के स्वामी —परम आराध्य, सुयोग-संदर्शक—आत्मोत्थान-कारी उत्तम योग-मार्ग दिखानेवाले भगवान् महावीर को नमस्कार कर मैं (अपने द्वारा किये गये) योगशास्त्रों के अध्ययन के अनुरूप संक्षेप में योग का विवेचन करूँगा ।

निश्चय-योग—

[ २ ]

निश्चयओ इह जोगो सन्नाणाईण तिण्ह संबधो ।  
मोक्खेण जोगिणाओ निहिट्ठो जोगिनाहेहि ॥

निश्चय-दृष्टि से सद्ज्ञान—सम्यक्ज्ञान आदि अर्थात् सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र—इन तीनों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना योग है, ऐसा योगीश्वरों ने बतलाया है । वह आत्मा का मोक्ष के साथ योजन—योग करता है—आत्मा को मोक्ष से जोड़ता है, इसलिए उसकी 'योग' संज्ञा है ।

[ ३ ]

सन्नाणं वत्थुगओ बोहो सहंसणं तु तत्थ रूई ।  
सच्चरणमणुट्ठाणं विहिपरिसेहाणुगं तत्थ ॥

वस्तुगत बोध—वस्तुस्वरूप का यथार्थ बोध सम्यक्ज्ञान है । उसमें

रुचि—आन्तरिक स्पृहा, निष्ठा सम्यक्दर्शन है। शास्त्रोक्त विधि-निषेध के अनुरूप उसका आचरण—जीवन में क्रियान्वयन सम्यक्चारित्र है। अर्थात् शास्त्रों में जिन कार्यों के करने का विधान है, उन्हें यथाविधि करना तथा जिनका निषेध है, उन्हें न करना—सम्यक्चारित्र कहा जाता है।

व्यवहार-योग—

[ ४ ]

व्यवहारो य एसो विन्नेओ एयकारणाणं पि ।  
जो संबंधो सो वि य कारणकज्जोवयाराओ ॥

कारण में कार्य के उपचार की दृष्टि से सम्यक्ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्चारित्र के कारणों का आत्मा के साथ सम्बन्ध भी व्यवहारतः योग कहा जाता है।

[ ५ ]

गुरुविणओ सुस्ससाइया य विहिणा उ धम्मसत्थेसु ।  
तह चेवाणुट्ठाणं विहिपडिसेहेसु जह सत्ती ॥

धर्मशास्त्रों में बतायी गयी विधि के अनुरूप गुरुजनों का विनय, शुश्रूषा—सेवा, परिचर्या, उनसे तत्त्व-ज्ञान सुनने की उत्कंठा तथा अपनी क्षमता के अनुरूप शास्त्रोक्त विधि-निषेध का पालन अर्थात् शास्त्रविहित आचरण करना और शास्त्रनिषिद्ध आचरण न करना व्यवहार-योग है।

[ ६ ]

एतो चिय कालेणं नियमा सिद्धी पगिट्ठरूवाणं ।  
सन्नाणाईण तहा जायइ अणुबंधभावेणं ॥

इससे—व्यवहार-योग के अनुसरण से कालक्रम से प्रकृष्टरूप—उत्तरोत्तर विशेष शुद्धि प्राप्त करते सम्यक्ज्ञान आदि की—निश्चय-योग की सिद्धि अविच्छिन्न रूप में निष्पन्न होती है।

[ ७ ]

अद्धेणं गच्छंतो सम्मं सत्तीए इट्ठपुरपहिओ ।  
जह तह गुरुविणयाइसु पयट्ठओ एत्थ जोगित्ति ॥

अपने इष्ट—इच्छित—लक्षित नगर की ओर यथाशक्ति जाता हुआ पुरुष जैसे इष्टपुरपथिक कहा जाता है, उसी प्रकार गुरु विनय आदि में प्रवृत्त साधक, जो सम्यक्ज्ञान आदि की परिपूर्ण उपलब्धिरूप योग को आत्मसात् नहीं कर सका है, पर उस पर यथाशक्ति गतिशील होने के नाते योगी कहा जाता है।

योग के अधिकारी—

[ ८ ]

अहिगारिणो उवाएण होइ सिद्धो समत्थवत्थुम्मि ।

फलपगरिसभावाओ विसेसओ जोगमग्गम्मि ॥

अधिकारी—योग्य प्रयोक्ता को समर्थ वस्तु में—जो वस्तु जो कार्य निष्पन्न करने में सक्षम है, उपाय द्वारा सिद्धि—सफलता प्राप्त होती है। उसका उत्तम परिणाम आता है। विशेषतः योग-मार्ग में तो ऐसा ही है। अर्थात् योग-साधना में योग्य अधिकारी या साधक को उपायरत रहने से सिद्धि प्राप्त होती है तथा आत्म-अभ्युदय के रूप में उसकी उत्तम फल-निष्पत्ति प्रस्फुटित होती है।

[ ९ ]

अहिगारी पुण एत्थं विन्नेओ अपुणबंधगाइ त्ति ।

तह तह नियत्तपयई अहिगारोऽण्णेगभेओ त्ति ॥

जहाँ योग-मार्ग में अपुनर्बन्धक—चरम पुद्गलावर्त में अवस्थित अथवा संसार का अपना अन्तिम कालखण्ड बिताने की स्थिति में विद्यमान जीव अधिकारी है, ऐसा जानना चाहिए। कर्म-प्रकृति की निवृत्ति या क्षयोपशम आदि की स्थिति के अनुसार वह अधिकार अनेक प्रकार का होता है।

अपुनर्बन्धक जैन पारिभाषिक शब्द है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जीव कर्म-बन्ध करता है। कर्मों की अवधि तथा फल देने की शक्ति आदि का आधार कषाय की तीव्रता या मन्दता है। कषाय जितनी तीव्रता या मन्दता लिये होगा, फल उतना ही कटु या मधुर होगा, अवधि उतनी ही लम्बी या छोटी होगी।

जैन-दर्शन में प्रत्येक कर्म की जघन्य—कम से कम तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक दो प्रकार की आवधिक स्थितियाँ मानी गयी हैं। आठों कर्मों में मोहनीय कर्म प्रधान है। मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ा-कोड़ सागरोपम है। इसका अभिप्राय यह हुआ, जो जीव अत्यन्त तीव्र कषाय से युक्त होता है, वह सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति का मोहनीय कर्म बाँधता है। कई जीव ऐसे होते हैं, जिनका कषाय मन्द होता जाता है, वे कम अवधि का कर्म-बन्ध करते हैं। कषाय-मन्दता के क्रम की एक ऐसी स्थिति होती है, जहाँ कर्म-बन्ध बहुत हलका होता है।

जीव चरम-पुद्गल-परावर्त-स्थिति में होता है, उस समय कषाय बहुत ही मन्द रहता है। वह जीव तीव्रतम कषाय या संक्लेशमय परिणाम-युक्त नहीं बनता। फलतः वह फिर सत्तर कोड़ाकोड़ सागरोपम स्थिति के मोहनीय कर्म का बन्ध नहीं करता। जैन-दर्शन की भाषा में उसे अपुनर्बन्धक कहा जाता है। उसकी दूसरी संज्ञा शुक्लपाक्षिक भी है, क्योंकि मोहनीय कर्म के तीव्र भाव का अन्धेरा या कालिमा वहाँ रह नहीं जाती। आत्मा के सहज गुणों का उदय—उज्ज्वलता या शुक्लता प्रकाश में आने लगती है। अपुनर्बन्धकता की स्थिति पा लेने के बाद जीवन सन्मार्गाभिमुख हो जाता है। उसकी मोहरागमयी कर्मग्रन्थि टूट जाती है। सम्यक्दर्शन प्राप्त हो जाता है। फिर क्रमशः आत्मरति तथा परविरति के पथ पर आगे बढ़ता हुआ वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य साध लेता है।

यहाँ प्रयुक्त चरम पुद्गलावर्त शब्द को भी समझ लेना चाहिए। यह भी जैन पारिभाषिक शब्द है। जैन-दर्शन की ऐसी मान्यता है कि जीव अनादि काल से शरीर, मन, वचन आदि द्वारा संसार के पुद्गलों का किसी न किसी रूप में ग्रहण तथा विसर्जन करता आ रहा है। कोई जीव विश्व के समस्त पुद्गलों का एक बार किसी न किसी रूप में ग्रहण व विसर्जन कर चुकता है—सबका भोग कर लेता है, वह एक पुद्गल-परावर्त कहा जाता है।

यह पुद्गलों के ग्रहण-त्याग का क्रम जीव के अनादि-काल से चलता आ रहा है। यों सामान्यतः जीव इस प्रकार के अनन्त पुद्गल-परावर्तों में

से गुजरता रहा है। यही दीर्घ-संसार की श्रृंखला या चक्र है। इस चक्र में भटकते हुए जीवों में कई भव्य या मोक्षाधिकारी जीव भी होते हैं, जिनका कषाय-मान्द्य बढ़ता जाता है, मोहात्मक कर्म-प्रकृति की शक्ति घटती जाती है। जीव का शुद्ध स्वभाव कुछ-कुछ उद्भाषित होने लगता है। ऐसी स्थिति आजाने पर जीव की संसार में भटकने की स्थिति परिमित या सीमित हो जाती है। संसार के समस्त पुद्गलों को केवल एक बार किसी न किसी रूप में भोग सके, मात्र इतनी अवधि बाकी रह जाती है। उसे चरम-पुद्गलावर्त या चरमावर्त कहा जाता है।

[ १० ]

अनियत्ते पुण तोए एगंते णेव हंदि अहिगारो ।  
तप्परतंतो भवरागओ दढं अणहिगारित्ति ॥

यदि तीव्र कर्म-प्रकृति निवृत्त नहीं हुई हो, व्यक्ति तत्परतन्त्र—उसके वशंगत हो—उस द्वारा परिचालित हो तो वह निश्चय ही योग का अधिकारी नहीं है, क्योंकि उस पर भव-राग—सांसारिक रागात्मकतामय भाव छाया रहता है।

[ ११ ]

तप्पोगलाण तगज्झसहावावगमओ य एयं ति ।  
इय दट्ठव्वं इहरा तह बंधाई न जुज्जंति ॥

जीव द्वारा गृहीत होना तथा उससे अपगत होना—पृथक होना कर्म-पुद्गलों का स्वभाव है। इसी कारण ऊपर वर्णित अधिकार-अनधिकार संगत है। यदि ऐसा न हो—कर्म आत्मा द्वारा गृहीत न हों, आत्मा से वियुक्त न हों तो बन्ध आदि की स्थिति घटित ही नहीं होती।

[ १२ ]

एयं पुण निच्छयओ अइसयणाणी वियाणई नवरं ।  
इयरो वि य लिगेहि उवउत्तो तेण भणिएणं ॥

आत्मा तथा कर्म के सम्बन्ध के विषय में निश्चित रूप से अतिशय ज्ञानी—पूर्णज्ञानी या सर्वज्ञ ही जानते हैं। दूसरे—छद्मस्थ—असर्वज्ञ



अनुमान आदि द्वारा तथा सर्वज्ञ-भाषित—शास्त्र-ज्ञान द्वारा उसके विषय में जानते हैं ।

अपुनर्बन्धक आदि की पहिचान—

[ १३ ]

पावं न तिक्वभावा कुणइ न बहु मन्नई भवं घोरं ।  
उचियट्टिइं च सेवइ सत्वत्थ वि अपुणबंधो त्ति ॥

जो तीव्र भाव—उत्कट कलुषित भावना-पूर्वक पाप-कर्म नहीं करता, जो घोर—भीषण, भयावह संसार को बहुत नहीं मानता—उसमें आसक्त या रचा-पचा नहीं रहता, जो लौकिक, पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक—सभी कार्यों में उचित स्थिति, न्यायपूर्ण मर्यादा का पालन करता है, वह अपुनर्बन्धक है ।

[ १४ ]

सुस्सुस धम्मराओ गुरुइवाणं जहासमाहीए ।  
वेयावच्चे नियमो सम्मदिट्ठिस्स लिगाइं ॥

धार्मिक तत्त्व मुनने की इच्छा, धर्म के प्रति अनुराग, आत्मसमाधि—आत्मशान्ति या श्रद्धासंभृत सुस्थिर भाव से नियमपूर्वक गुरु तथा देव की सेवा, परिचर्या—ये सम्यक्दृष्टि जीव के चिन्ह हैं ।

[ १५ ]

मग्गणुसारी, सद्धो पन्नवणिज्जो क्रियावरो चेव ।  
गुणरागी सक्कारंभसंगओ तह य चारित्ती ॥ १

सन्मार्ग का अनुसरण करने वाला, श्रद्धावान्, धर्मोपदेश के योग्य, क्रियाशील—धर्मक्रिया में अनुरत, गुणों में अनुरागी, यथाशक्ति अध्यात्म-साधना में यत्नशोल व्यक्ति चारित्री कहा जाता है ।

[ १६ ]

एसो सामाइयसुद्धिभेयओऽण्णेगहा मुण्येव्वो ।  
आणापरिणइभेया अंते जा वीयरारो त्ति ॥

यह चारित्री वीतरागदशा प्राप्त होने तक सामायिक—समत्व की

शुद्धि के भेद से—समत्व-साधना की तरतमता से तथा वीतराग-आज्ञा—शास्त्रज्ञान की परिणति—जीवन में क्रियान्विति के अनुसार अनेक प्रकार का होता है, यह जानना चाहिए।

सामायिक : शुद्धि, अशुद्धि—

[ १७ ]

पडिसिद्धेसु य देसे विहिएसु य ईसिरागभावे वि ।

सामाइयं असुद्धं सुद्धं समयाए दोसुं पि ॥

शास्त्र में जिनका निषेध किया गया है, ऐसे विषयों में द्वेष—अप्रीति, जिन विषयों का शास्त्र में विधान किया गया है, उनके सम्बन्ध में थोड़ा भी राग—इनके कारण सामायिक अशुद्ध हो जाती है। जो इन दोनों में—निषिद्ध और विहित में समभाव रखता है, उसके सामायिक शुद्ध होती है।

[ १८ ]

एयं विसेसनाणा आवरणावगमभेयओ चेव ।

इय दट्ठव्वं पढमं भूसणठाणाइपत्तिसमं ॥

विशेष ज्ञान के कारण तथा कर्मावरण हटने की तरतमता के कारण वह शुद्ध सामायिक, सम्यक्दर्शन के लाभ के परिणाम-स्वरूप जीवन में फलित होने वाले शुभ चिन्हों में से कौशल, तीर्थसेवन, भक्ति, स्थिरता तथा प्रभावना, जो भूषण कहे जाते हैं, के सिद्ध होने पर एवं आसन आदि के सिद्ध होने पर प्रथम सामायिक अथवा सम्यक्त्व-सामायिक है, ऐसा जानना चाहिए।

ग्रन्थकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने सम्बोधप्रकरण नामक अपने एक दूसरे ग्रन्थ में तथा उत्तरवर्ती उपाध्याय यशोविजयश्री ने अपनी 'सम्यक्त्व प्राप्ति' नामक कृति में इस सन्दर्भ में विशेष रूप से चर्चा की है। उनके अनुसार सम्यक्दर्शन, जिसे पातञ्जल योग की भाषा में विवेकख्याति कहा जा सकता है, जो सामायिक शुद्धि की पहली सीढ़ी है, प्राप्त हो जाने पर जीवन में सहजतया एक परिवर्तन आ जाता है। जीवन की दिशा बदल जाती है। फलस्वरूप जीवन-व्यवहार में, चिन्तन-क्रम में कुछ ऐसी विशेष-

तायें आ जाती हैं, जिससे विवेक-प्रसूत पवित्रता का दिग्दर्शन होता है। वहाँ वे सम्यक्त्व के सङ्गठ चिन्हों के रूप में व्याख्यात हुई हैं। उनमें उपर्युक्त कौशल आदि पाँच 'भूषण' संज्ञा से अभिहित हुए हैं।

[ १६ ]

किरिया उ दंडजोगेण चक्कभमणं व होइ एयस्स ।

आणाजोगा पुव्वाणुवेहो चेव नवरं ति ॥

चक्र को डण्डे से घुमा देने पर जैसे वह चलने लगता है, उसी प्रकार उक्त साधक की जीवन-चर्या, व्यावहारिक क्रिया-प्रक्रिया शास्त्रयोग से—शास्त्रानुशीलन से प्राप्त पूर्व संस्कारों द्वारा चलती रहती है।

[ २० ]

वासीचंदणकप्पो समसुहदुक्खो मुणो समक्खाओ ।

भवमोक्खापडिबद्धो अओ य पाएण सत्थेसु ॥

शास्त्रों में मुनि को वासि-चन्दनसदृश कहा गया है— जो वसूला, कुल्हाड़ा चन्दन के वृक्ष को काटता है, वह वृक्ष उसको भी सुगन्धित करता है। उसी प्रकार साधु बुरा करने वाले का भी भला करता है। वह सुख-दुःख में समान भाव रखता है। जैसे कोई उसकी देह को वसूले से छीलता है, कोई उसकी देह पर चन्दन का लेप करता है, वह दोनों को ही समान मानता है। न वह देह छीलने वाले पर क्रुद्ध होता है तथा न वह चन्दन का लेप करने वाले पर प्रसन्न होता है। वह मुनि न संसार में आसक्त होता है और न मोक्ष में ही आसक्ति रखता है। वह अनासक्त भाव से मोक्षोन्मुख क्रिया में तत्पर रहता है।

अधिकारी-भेद—

[ २१ ]

एएसि नियनियभूमिगाए उच्चियं जमेत्थऽणुट्ठाणं ।

आणामयसंजुत्तं तं सर्व्वं चेव जोगो ति ॥

यों जो अपनी-अपनी उपर्युक्त भूमिकाओं के योग्य तथा आज्ञा—

शास्त्राज्ञा रूपी अमृत से युक्त है—शास्त्रनिरूपित दिशा के अनुरूप है, वह सभी योग है ।

[ २२ ]

तल्लक्षणजोगाओ चित्तध्वत्तीनिरोहओ चेव ।  
तह कुसलपवित्तीए मोक्खम्मि य जोअणाओ त्ति ॥

चित्तवृत्ति का निरोध, कुशल—पुण्यात्मक प्रवृत्ति, मोक्ष से योजन—जोड़ना—इत्यादि योग के लक्षण भिन्न-भिन्न श्रेणी, परम्परा आदि के व्यक्तियों के समुचित अनुष्ठान में घटित हैं—संगत हैं ।

[ २३ ]

एएसि पि य पायंसपज्जाणाजोगओ उ उच्चियम्मि ।  
अणुट्ठाणम्मि पवित्ती जायइ तह सुपरिसुद्धि त्ति ॥

दूषित ध्यान एवं संक्लेशमय संस्कारों के न होने के कारण इन भिन्न-भिन्न अधिकारियों—योग्य साधकों की अपने-अपने अनुष्ठान में प्रवृत्ति—योगाभ्यास आदि साधनाक्रम सुपरिशुद्ध होता है ।

[ २४ ]

गुरुणा लिगेहि तओ एएसि भूमिगं मुणेऊणं ।  
उवएसो दायव्वो जहोच्चियं ओसहाहरणा ॥

गुरु को चाहिए कि वे उनके लक्षणों से उनकी भूमिका पहचानें और उनके लिए जैसा उचित समझें, उपदेश करें, जैसे सुयोग्य चिकित्सक भिन्न-भिन्न रोगियों की दैहिक स्थिति, प्रकृति आदि देखते हुए औषधि, औषधि की मात्रा, अनुपान, पथ्य आदि सब बातों का ध्यान रखकर जिस रोगी को जिस प्रकार जो औषधि देनी हो, देता है ।

प्रथम श्रेणी का साधक—

[ २५ ]

पढमस्स लोकधम्मे परपीडावज्जणाइ ओहेणं ।  
गुरुदेवातिहिपूयाइ दीणदाणाइ अहिगिच्च ॥

अपुनर्बन्धक जैसे प्रथम भूमिका के साधारण साधक को पर-पीड़ा-वर्जन—दूसरों को कष्ट न देना, गुरु, देव तथा अतिथि की पूजा—सत्कार, सेवा आदि, दीन जनों को दान, सहयोग आदि—ये कार्य करते रहने का उप-देश करना चाहिए ।

[ २६ ]

एवं चिय अबयारो जायइ मग्गम्मि हंदि एयस्स ।  
रण्णे पहपब्भट्ठो वट्टाए वट्टमोयरइ ॥

जैसे वन में मार्ग भूले हुए पथिक को पगडण्डी बतला दी जाये तो वह उससे अपने सही मार्ग पर पहुँच जाता है, वैसे ही वह साधक लोक-धर्म के माध्यम से अध्यात्म में पहुँच जाता है ।

द्वितीय श्रेणी का साधक—

[ २७-२८ ]

बीयस्स उ लोगुतरधम्मम्मि अणुव्वयाइ अहिगिच्च ।  
परिसुद्धाणाजोगा तस्स तहाभावमासज्ज ॥  
तस्साऽऽसन्नतणओ तम्मि दढं पक्खवायजोगाओ ।  
सिग्घं परिणामाओ सम्मं परिपालणाओ य ॥

विशुद्ध आज्ञा-योग शास्त्रीय विधिक्रम के आधार पर दूसरी श्रेणी के साधक (सम्यक्दृष्टि) के भाव—परिणाम आदि की परीक्षा कर उसे लोकोत्तर धर्म—अध्यात्म-धर्म—अणुव्रत आदि का उपदेश करना चाहिए ॥ यही उपदेश परिपालन की दृष्टि से उसके सन्निकट है । इसी में उसकी विशेष अभिरुचि संभावित है । इसका फल शीघ्र प्राप्त होता है तथा सरलता से इसका पालन किया जा सकता है ।

तृतीय श्रेणी का साधक—

[ २९ ]

तइयस्स पुण विचित्तो तदुत्तरसुजोगसाहणो भणिओ ।  
साम्माइयाइविसओ नयनिउणं भावसारो त्ति ॥

तीसरी श्रेणी के साधक (चारित्री) को नीति-युक्तिपूर्वक सामायिक आदि से सम्बद्ध परमार्थोद्दिष्ट भावप्रधान उपदेश देना चाहिए, जिससे वह उत्तम योगसिद्धि की ओर बढ़ता जाये ।

गृही साधक —

[ ३०-३२ ]

स धम्माणुवरोहा वित्ती दाणं च तेण सुविसुद्धं ।  
जिणपूय-भोयणविही संज्ञानियमो य जोगं तु ॥  
चियवंदण-जइविस्सामणा य सवणं च धम्मविसयंति ।  
गिहिणो इमो वि जोगो किं पुण जो भावणामग्गो ॥  
एमाइ वत्थुविसओ गहीणमुवएसमो मुण्येवओ ।  
जइणो पुण उवएसो सामायारी तहा सव्वा ॥

सद्धर्म के अनुरोध से—धर्माराधना में बाधा न आये, यह ध्यान में रखते हुए गृही साधक अपनी आजीविका चलाये, विशुद्ध—निर्दोष दान दे, वीतराग की पूजा करे, यथाविधि भोजन करे, सन्ध्याकालीन उपासना के नियमों का पालन करे । यह योग के अन्तर्गत है ।

चैत्य-वन्दन, यति—त्यागी साधु को स्थान, पात्र आदि का सहयोग, उनसे धर्म-श्रवण—गृही के लिए यह सब योग है । फिर भावना-मार्ग का अभ्यास करे—मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ्य तथा अनित्यत्व, अशरणत्व, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्मस्वाख्यातत्व, लोक, बोधिदुर्लभत्व—मन में ये उत्तम भावनाएँ लाने, उनसे अनुभावित एवं अनुप्राणित होने की तो बात ही क्या, वह तो योग का पावन पथ है ही ।

यह जो उपदेश किया गया है, गृहस्थ के लिए समझना चाहिए । साधु के लिए उपदेश समाचारी—आचार—विधि में आ जाता है ।

समाचारी—

[ ३३-३५ ]

गुरुकुलवासो गुरुतंतथाए उचियविणयस्स करणं च ।  
वसहीपमज्जणाइसु जत्तो तह कालवेक्खाए ॥

अणिगूहणा बलम्भी सव्वत्थ पवत्तणं पसंतीए ।  
 नियलाभचित्तणं सइ अणुगगहो मे त्ति गुरुवयणे ॥  
 संवरनिच्छिड्डत्तं सुद्धुञ्छाजीवणं सुपरिसुद्धं ।  
 विहिसज्झाओ मरणादवेक्खणं जइज्जणुवएसो ॥

गुरु के तन्त्र—आज्ञा में रहते हुए गुरुकुल में निवास करना, यथोचित रूप में विनय-धर्म का पालन करना, यथासमय अपने रहने के स्थान के प्रमार्जन आदि में यत्नशील रहना, अपना बल छिपाये बिना—मैं क्यों इतना कष्ट करूँ, इस संकीर्ण भावना से अपना बल न छिपाते हुए अर्थात् अपनी पूरी शक्ति लगाते हुए सभी कार्यों में शान्तभाव से प्रवृत्त रहना, गुरु के वचनों का पालन करने में मेरा लाभ—कल्याण है, यों सदा चिन्तन करना, निर्दोष रूप में संयम का पालन करना, विशुद्ध भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह करना, यथाविधि स्वाध्याय करना तथा मृत्यु जैसे कष्टों का सामना करने को समुद्यत रहना—यह यति-धर्म है ।

उपदेश : नियम—

[ ३६ ]

उवएसो विसयम्भी विसए वि अणीइसो अणुवएसो ।  
 बंधनिमित्तं नियमा जहोइओ पुण भवे जोगो ॥

सुयोग्य साधक को उचित विषय में करने योग्य कार्यों का उपदेश देने के साथ-साथ उसमें बाधा उत्पन्न करने वाली हेय बातों से बचने का उपदेश न दिया जाये तो ऊपर योग-साधना का जो विधिक्रम बताया गया है, वह अवश्य ही बन्धन का कारण बनता है ।

[ ३७ ]

गुरुणो अजोगिजोगो अच्चंतविवागदारुणो नेओ ।  
 जोगिगुणहीलणा-नट्टनासणा-धम्मलाघवओ ॥

उपदेष्टा गुरु यदि अयोग्य व्यक्ति को योग का उपदेश करते हैं तो

वह अत्यन्त विपाक-दारुण—परिणाम में अत्यधिक कष्टप्रद होता है, ऐसा जानना चाहिए। क्योंकि उससे योगी के गुणों की अवहेलना होती है, वह अयोग्य पुरुष स्वयं अपना नाश करता है तथा औरों का भी नाश करता है। इससे धर्म का हलकापन दीखता है।

[ ३८ ]

एयम्मि परिणयम्मी पवत्तमाणस्स अहियठाणेसु ।  
एस विही भइनिउणं पायं साहारणो नेओ ॥

यों जीवन में परिपक्वता पा लेने के बाद उत्तरवर्ती उत्तम गुणस्थानों में प्रवर्तन करते हुए—चढ़ते हुए साधकों के लिए अत्यन्त निपुणता—सूक्ष्मता-पूर्वक कहे जाते नियमों को प्रायशः साधारण—सर्वग्राह्य मानना चाहिए।

[ ३९ ]

निययसहावालयण-जणवायावगम-जोगसुद्धेहिं ।  
उच्चियत्तं नाळणं निमित्तओ सय पयट्टेज्जा ॥

अपने स्वभाव—प्रकृति का अवलोकन करते हुए, जनवाद—लोकवाद—लोकपरंपरा को जानते हुए शुद्ध योग के आधार पर प्रवृत्ति का औचित्य समझकर बाह्य निमित्त—शकुन—स्वर, नाड़ी, अंगस्फुरण आदि का अंकन करते हुए उनमें (नियमों के अनुसरण में) प्रवृत्त होना चाहिए।

[ ४० ]

गमणाइएहिं कायं निरवज्जेहिं वयं च भणिएहिं ।  
सुहचिंतणेहिं य मणं सोहेज्जा जोगसिद्धि त्ति ॥

निर्दोष गमन आदि—यत्नपूर्वक—यतना सहित जाना, आना, उठना, बैठना, खाना, पीना आदि क्रियाओं द्वारा शरीर का, निरवद्य—पापरहित वाणी द्वारा वचन का तथा शुभ चिन्तन द्वारा मन का शोधन करना योगसिद्धि है।

[ ४१ ]

सुहसंठाणा अन्ने कायं वायं च सुहसरेणं तु ।  
सुहसुविणेहिं च मणं जाणेज्जा साहुसिद्धि त्ति ॥



इस सम्बन्ध में ऐसा भी अभिमत है—शुभ संस्थान—वरिष्ठ आकार-प्रकार द्वारा शरीर की, शुभ—मधुर, मनोज्ञ स्वर द्वारा वाणी की, शुभ स्वप्न द्वारा मन की उत्तम सिद्धि समझनी चाहिए ।

[ ४२ ]

एत्थ उवाओ य इमो सुहदव्वाइसमवायमासज्ज ।  
आसज्जइ गुणठाणं सुगुरुसमीवम्मि विहिणा उ ॥

शुभ द्रव्यादि समवाय—शुभ द्रव्य, शुभ क्षेत्र, शुभ काल आदि का अवलम्बन कर सद्गुरु के सान्निध्य में विधिपूर्वक प्रस्तुत उपाय—क्रिया-समुदय स्वीकार किया जाता है, तभी विकासोन्मुख गुणस्थान प्राप्त होता है ।

[ ४३ ]

वंदणमाई उ विही निमित्तसुद्धीपहाणमो नेओ ।  
सम्मं अवेक्खियव्वो एसा इहरा विही न भवे ॥

वन्दन आदि की विधि में निमित्त-शुद्धि की प्रधानता है, ऐसा जानना चाहिए । अतः अपेक्षित है कि साधक इसका भलीभाँति अवेक्षण—अवलोकन करे—इस पर चिन्तन-विमर्श करे अन्यथा यह विधि परिशुद्ध नहीं होती ।

[ ४४ ]

उड्ढं अहियगुणोह तुल्लगुणोह च निच्चसंवासो ।  
तग्गुणठाणोच्चियकिरियपालणा सइसमाउत्ता ॥ ।

जो अपने से गुणों में ऊँचे हों, समान हों, उनका सदा सहवास करना चाहिए—उनकी सन्निधि में रहना चाहिए । स्मृति-समायुक्त होते हुए—अपनी आचार-विधि को स्मरण रखते हुए अपने गुणस्थान के अनुरूप क्रियाओं का पालन करना चाहिए ।

[ ४५ ]

उत्तरगुणबहुमाणो सम्मं भवरूवचिन्तणं चित्तं ।  
अरई य अहियगुण तहा तहा जत्तकरणं तु ॥

उत्तर गुणों का—अहिंसा आदि मूल गुणों के परिपोषक गुणों का बहुमान करना चाहिए—उनका आदरपूर्वक पालन करना चाहिए । स्वीकार किये हुए गुणों में अरति—अरुचि हो तो उसका निवारण करने का प्रयत्न करना चाहिए ।

अरति-निवारण—

[ ४६-४८ ]

अकुसलकम्मोदयपुव्वरूवमेसा जओ समबखाया ।  
 सो पुण उवायसज्जो पाएण भयाइसु पसिद्धो ॥  
 सरणं भए उवाओ रोगे किरिया विसम्मि मंतो त्ति ।  
 एए वि पावकम्मावक्कमभेया उ तत्तेण ॥  
 सरणं गुरु उ एत्थं किरिया उ तओ त्ति कम्मरोगम्मि ।  
 मंतो पुण सज्जाओ मोह्विसविणासणो पयरो ॥

बताया गया है कि अरति अशुभ कर्मों के उदय का पूर्वरूप—कारण है । पर भय आदि अशुभ कर्मोदय रूप अरति का निवारण प्रायः उपायसाध्य है—उपाय द्वारा उसे मिटाया जा सकता है ।

भय उत्पन्न होने पर समर्थ की शरण, रोग हो जाने पर चिकित्सा, पथ्य, परहेज आदि क्रिया तथा विष से दुष्प्रभावित होने पर मन्त्र शरण है—उन द्वारा ये विकार दूर हो सकते हैं, उसी प्रकार अशुभ कर्म का निवारण करने के लिए भी तात्त्विक उपाय हैं ।

प्रस्तुत प्रसंग में भयाक्रान्त के लिए गुरु शरण है, कर्म-रोग को मिटाने में तप क्रिया—चिकित्सा है तथा मोहरूप विष का प्रभाव नष्ट करने में स्वाध्याय श्रेष्ठ मन्त्र है ।

[ ४९ ]

एएसु जत्ताकरणा तस्सोवक्कमणभावओ पायं ।  
 नो होइ पच्चवाओ अवि य गुणो एस परमत्थो ॥

इन उपायों में प्रयत्नशील रहने से, पाप-कर्म के अपक्रम से—पाप-बल घटने से, मिटने से साधना में प्रायः कोई बिघ्न नहीं आता । वस्तुतः

यह प्रयत्न पारमार्थिक है—साधक की उन्नति की दृष्टि से विशेष लाभ-प्रद है ।

[ ५० ]

चउसरणगमण-दुक्कडगरिहा सुकयाणुमोयणा चेव ।  
एस गणो अणवरयं कायव्वो कुसलहेउ त्ति ॥

अहंत्, सिद्ध, साधु तथा धर्म—इन चार की शरण, दुष्कृत-गर्हा—पापों की निन्दा तथा सुकृत-अनुमोदना—शुभ कर्मों का समर्थन, प्रशंसा—इन क्रियाओं को पुण्य-हेतु—श्रेयस्कर मानते हुए निरन्तर करते रहना चाहिए ।

नवाभ्यासी की प्रमुख ध्यायां—

[ ५१-५२ ]

चरमाणपवत्ताणं जोगीणं जोगसाहणोवाओ ।  
एसो पहाणतरओ नवर पवत्तस्स विन्नेओ ॥  
भावण-सुयपाढो तित्थसवणमसयं तयत्थजाणम्मि ।  
तत्तो य आयपेहणमइनिउणं दोसवेक्खाए ॥

ऊपर वर्णित तथ्य चरमपुद्गलावर्त में विद्यमान योगियों के लिए योग-साधना का उपाय—आचरणीय विधि है । साधना में प्रवृत्त मात्र योगियों के लिए—नवाभ्यासी साधकों के लिए यहाँ प्रतिपादित किया जा रहा कार्यक्रम प्रमुख उपाय के रूप में समझा जाना चाहिए ।

ऐसे साधक को भावना—अनुचिन्तना, सञ्चिचारणा, शास्त्र-पाठ, तीर्थ-सेवन, बार-बार शास्त्र-श्रवण, उसके अर्थ का ज्ञान, तत्पश्चात् सूक्ष्मता-पूर्वक आत्मप्रेक्षण—अपने दोषों तथा कमियों का बारीकी से अवलोकन—इन कार्यों में अभिरत रहना चाहिए ।

कर्म-प्रसंग—

[ ५३ ]

राणो दोसो मोहो एए एत्थाऽऽयदूसणा दोसा ।  
कम्मोदयसंजणिया विन्नेया आयपरिणामो ॥

आत्मा को दूषित—कलुषित करने के कारण राग, द्वेष तथा मोह दोष कहे गये हैं। वे कर्मों के उदय से जनित आत्मपरिणाम हैं।

[ ५४ ]

कम्मं च चित्तपोऽगलरूवं जीवस्सऽणाइसंबद्धं ।

मिच्छताइनिमित्तं नाएणमईयकालसमं ॥

कर्म विविध पुद्गलमय हैं। वे जीव के साथ अनादि काल से सम्बद्ध हैं। मिथ्यात्व, प्रमाद, कषाय तथा योग द्वारा वे आत्मा के साथ संपृक्त होते हैं। भूतकाल के उदाहरण से इसे समझना चाहिए।

[ ५५ ]

अणुभूयवत्तमाणो सव्वोवेसो पवाहोऽणाइ ।

जह तह कम्मं नेयं कयकत्तं वत्तमाणसमं ॥

जो भी भूतकाल है, वह वर्तमान का अनुभव किये हुए है—कभी वह वर्तमान के रूप में था। फिर भूत के रूप में परिवर्तित हुआ। इस अपेक्षा से वह सादि है पर प्रवाह रूप से अनादि है। कर्म को भी वैसा ही समझना चाहिए। वह कृतक—कर्ता द्वारा कृत—किया हुआ होने के कारण वर्तमान के समान है, सादि है, प्रवाहरूप में अनादि है।

[ ५६ ]

मुत्तेणममुत्तिमओ उवघायाणुग्गहा वि जुज्जंति ।

अह विन्नाणस्स इहं मइरापाणोसहाईंहि ॥

जैसे मदिरा-पान, औषधि-सेवन आदि का चेतना पर प्रभाव पड़ता है—मदिरा पीने से मनुष्य अपना होश गँवा बैठता है, सशक्त रसायनमय औषधि से मरणोन्मुख, मूर्च्छित रोगी भी एक बार होश में आ जाता है; बोल तक लेता है; उसी प्रकार मूर्त्ति—रूपी कर्म का अमूर्त्त आत्मा पर प्रतिकूल-अनुकूल—बुरा, भला प्रभाव पड़ता है।

[ ५७ ]

एवमणाई एसो संबन्धो कंचणोवलाणं व ।

एयाणमुवाएणं तह वि वियोगो वि हवइ त्ति ॥

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध स्वर्ण तथा मृत्तिका-पिण्ड के सम्बन्ध की तरह अनादि है। खान में सोना और मिट्टी के ढेले कब से मिले हुए हैं, यह नहीं कहा जा सकता। यही स्थिति आत्मा और कर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की है। ऐसा होते हुए भी उपाय द्वारा उनका वियोग—पार्थक्य साध्य हैं।

[ ५८ ]

एवं तु बंधमोक्खा विणोवयारेण दो वि जुज्जंति ।

सुहदुक्खाइ य दिट्ठा इहरा ण कयं पसंगेण ॥

यों बन्ध तथा मोक्ष दोनों ही आत्मा के साथ यथार्थतः घटित होते हैं। यदि ऐसा न हो तो अनुभव में आने वाले सुख तथा दुःख आत्मा में घटित नहीं हो सकते।

दोष-चिन्तन—

[ ५९-६० ]

तत्थाभिस्संगो खलु रागो अप्पीइलक्खणो दोसो ।

अन्नाणं पुण मोहो को पीडइ मं दढमिमेसि ॥

नाऊण तओ तव्विसय-तत्त-परिणय-विवाग-दोसे त्ति ।

चिन्तेज्जाऽऽणाइ दढं पइरिक्के सम्ममुवउत्तो ॥

दोषों में राग—अभिसंग या आसक्ति रूप है, द्वेष का लक्षण अप्रीति है, मोह अज्ञान है। इनमें से मुझे डटकर—अत्यधिक रूप में कौन पीड़ा दे रहा है, यह समझकर उन दोषों के विषय में—उनके स्वरूप, परिणाम, विपाक आदि का एकान्त में एकाग्र मन से भलीभाँति चिन्तन करे।

[ ६१ ]

गुरु देवयापमाणं काउं पउमासणाइठाणेणं ।

दंसमसगाइ काए अगणंतो तग्गयऽज्जप्पो ॥

चिन्तनीय विषय में मन को अनुस्यूत कर—भलीभाँति लगाकर,

पद्मासन आदि में संस्थित होकर शरीर पर होते डांस, मच्छर आदि के उपद्रव को न गिनता हुआ साधक गुरु तथा देव की साक्षी से चिन्तन करे ।

[ ६२ ]

गुरुदेवयाहि जायइ अणुगहो अहिगयस्स तो सिद्धी ।  
एसो य तन्निमित्तो तहाऽऽयभावाओ विन्नेओ ॥

गुरु तथा देव के अनुग्रह से प्रारम्भ किये हुए कार्य में सफलता प्राप्त होती है । यह अनुग्रह उनके प्रति उत्तम आत्म-परिणाम रखने से प्राप्त होता है ।

[ ६३ ]

जह चैव मंतरयणाइएहि विहिसेवगस्स भव्वस्स ।  
उवगाराभावम्मि वि तेसिं होइ त्ति तह एसो ॥

मन्त्र, रत्न आदि स्वयं अपना उपकार नहीं करते हुए, जो यथाविधि उनका सेवन—प्रयोग करता है, उनका हित साधते हैं । यही स्थिति गुरु तथा देव के साथ है । उनमें हितसाधकता की असाधारण क्षमता है पर उसका उपयोग दूसरों का उपकार करने में होता है ।

[ ६४ ]

ठाणा कायनिरोहो तक्कारीसु बहुमाणभावो य ।  
दंसा य अगणणम्मि वि वीरियजोगो य इट्ठफलो ॥

आसन साधने से देह का निरोध होता है । देह का निरोध करने वाले इन्द्रियजयी साधकों के प्रति लोगों में अत्यधिक आदरभाव उत्पन्न होता है । वे जीव-जन्तुओं द्वारा लगाये गये डंक आदि की परवाह नहीं करते । इससे उनमें इच्छित फलप्रद वीर्य योग—योगिक पराक्रम का उदय होता है ।

[ ६५ ]

तग्गयच्चिरास्स तहोवओगओ तत्ताभासणं होइ ।  
एयं एत्थ पहाणं अंगं खलु इट्ठसिद्धीए ॥

चिन्तन-मनन-योग्य विषय में तन्मयता तथा उपयोग द्वारा तत्त्व भासित होता है—वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रकाश में आता है। सत्य का उद्भास—भान या प्रतीति ही इष्ट-सिद्धि का मुख्य अंग है।

[ ६६ ]

एयं ह्यु तत्तानाणं असप्पवित्ति-विणिवित्ति-संजणं ।

थिरचित्तगारि लोगदुगसाहगं बिंति समयन्नु ॥

शास्त्रज्ञ बतलाते हैं—तत्त्व-ज्ञान से असत् प्रवृत्ति का निवारण होता है, चित्त में स्थिरता आती है, ऐहिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकार के हित सघते हैं।

[ ६७ ]

थीरागम्मि तत्तां तांसि चित्तेज्ज सम्मबुद्धीए ।

कलमलगमंससोणियपुरीसकंकालपायं ति ॥

यदि नारी के प्रति राग हो तो रागासक्त पुरुष सम्यक् बुद्धिपूर्वक यों चिन्तन करे—अत्यन्त सुन्दर देखने वाली नारी की देह उदरमल, मांस, रुधिर, विष्ठा, अस्थि-कंकाल मात्र ही तो है। इसमें कैसा राग! कैसी आसक्ति!

[ ६८ ]

रोगजरापरिणामं नरगाइविवागसंगयं अहवा ।

चलरागपरिणयं जीयनासणविवागदोस ति ॥

एक समय आता है, वही सुन्दर देह रोग तथा वृद्धावस्था से ग्रस्त हो जाती है, नरक गति आदि कठोर फलप्रद होती है। कितना आश्चर्य है, ऐसी देह के प्रति चंचलतापूर्ण राग उत्पन्न होता है, जो जीवन को नष्ट कर देने वाला है, तथा जिसका परिणाम दोषपूर्ण है।

[ ६९ ]

अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइहुक्खसयसंकुलं तत्तां ।

गमणपरिणामजुत्तां कुगइविवागं च चित्तेज्जा ।

यदि धन के प्रति राग हो तो इस रूप में चिन्तन करना चाहिए—  
धन के अर्जन रक्षण आदि में सैकड़ों प्रकार के दुःख हैं। धन सदा नहीं  
रहता। उसका विनाश भी हो जाता है। धन का फल दुर्गति है। क्योंकि  
अक्सर उसके आने पर मनुष्य उन्मत्त बन जाता है।

[ ७० ]

दोसम्मि उ जीवाणं विभिन्नयं एव पोग्गलाणं च ।

अणवट्ठियं परिणहं विवागदोसं च परलोए ॥

यदि द्वेष का भाव हो तो साधक यह चिन्तन करे—जीव और पुद्-  
गल—भौतिक वस्तु-समुदाय भिन्न हैं। उन (पुद्गलों) का परिणमन अनव-  
स्थित—अस्थिर है—जिस रूप में वे अभी हैं, कालान्तर में वह रूप नहीं  
रहेगा।

द्वेष का परिणाम परलोक में बड़ा अनिष्टकर होता है।

[ ७१ ]

चित्तेज्जा मोहम्मी ओहेणं ताव वत्थुणो तत्तं ।

उप्पाय-वय-ध्रुवजुवं अणुहवजुत्तीए सम्मं ति ॥

साधक पहले अनुभव तथा युक्तिपूर्वक वस्तु-स्वरूप का भली भाँति  
चिन्तन करे कि वह (वस्तु) उत्पाद—उत्पत्ति, व्यय—विनाश तथा ध्रुवता—  
अविनश्वरता या शाश्वतता युक्त है। अर्थात् उसका मूल स्वरूप ध्रुव है पर  
बाह्य रूप, आकार-प्रकार आदि की दृष्टि से वह परिवर्तनशील है। ऐसी  
वस्तु के प्रति, जिसका रूपात्मक अस्तित्व ही स्थिर नहीं, कैसा मोह !

[ ७२ ]

नाभावो च्चिय भावो अहूपसंगेण जुज्जइ कया वि ।

न य भावोऽभावो खलु तहासहावत्तभावाओ ॥

वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है कि अभाव भावरूप में घटित नहीं हो  
सकता, उसी प्रकार भाव अभाव का रूप नहीं ले सकता। ऐसा होने से—  
अभाव का भाव के रूप में तथा भाव का अभाव के रूप में परिणत होने से



अतिप्रसंग दोष आता है, वस्तु-तत्त्व की व्यवस्था ही अनवस्थित हो जाती है।

[ ७३ ]

एयस्स उ भावाओ निवित्ति-अणुवित्तिजोगओ होति ।

उत्पायाई नेयं अविकारी अणुहवविरोहो ॥

वस्तु में स्वभावतः निवृत्ति-अनुवृत्ति—एक पर्याय का त्याग, दूसरे का ग्रहण—एक पर्याय से दूसरे पर्याय में जाना—ऐसा क्रम चलता रहता है। पर साथ ही साथ वस्तु का मूल तत्त्व स्थिर रहता है। इससे वस्तु में उत्पाद, विनाश तथा ध्रुवता—ये तीनों ही सिद्ध होते हैं। अतः वस्तु को अविकारी—परिणमन या परिवर्तन रहित, कूटस्थ मानना अनुभव-विरुद्ध है।

[ ७४ ]

आणाए चितणम्मी तत्तावगमो निओगओ होइ ।

भावगुणागरबहुमाणओ य कम्मक्खओ परमो ॥

शास्त्रानुसार चिन्तन करने से निश्चय ही तत्त्व-बोध होता है। भाव-पूर्वक गुणों का, गुणी जनों का बहुमान करने से परम—अत्यन्त कर्म-क्षय होता है।

[ ७५ ]

पइरिक्के वाघाओ न होइ पाएण जोग वसिया य ।

जायइ तहा पसत्था हंदि अणभत्थजोगाणं ॥

जिन्होंने योग का अभ्यास नहीं किया है, उनको भी एकान्त में चिन्तन करने से प्रायः कोई व्याघात—विघ्न, प्रातिकूल्य नहीं होता। प्रत्युत इससे उनका उत्तम योग पर अधिकार होता है। दूसरे शब्दों में वे योग-साधना के पथ पर आरूढ़ होने के अधिकारी हो जाते हैं।

[ ७६ ]

उद्योगो पुण एत्थं बिन्नेओ जो समीवजोगो त्ति ।  
विहियकिरियागओ खलु अवितहभावो उ सव्वत्थ ॥

प्रस्तुत सन्दर्भ में समागत उपयोग शब्द को उप=समीप, योग=व्यापार, प्रवर्तन—इस अर्थ में लेते हैं तो इसका अभिप्राय शास्त्र-प्रतिपादित क्रिया में सत्य भाव रखना—उसे सत्य मानना, वैसी निष्ठा लिये गन्तव्य पथ पर अग्रसर होना निष्पन्न होता है ।

[ ७७ ]

एवं अडभासाओ तत्तं परिणमय चित्तथेज्जं च ।  
जायइ भावाणुगामी सिव सुहसंसाहगं परमं ॥

इस प्रकार अभ्यास करने से भावानुरूप तत्त्व-परिणति—तत्त्व-साक्षात्कार होता है, चित्त में स्थिरता आती है तथा परम—सर्वोत्तम, अनुपम मोक्ष-सुख प्राप्त होता है ।

सच्चिन्तन—

[ ७८ ]

अहवा ओहेणं चिय भणियविहाणाओ चैव धवेज्जा ।  
सत्ताइएसु मित्ताइए गुणे परमसंविग्गो ॥

चिन्तन का एक और (उपयोगी तथा सुन्दर) प्रकार है—परम संविग्न—अत्यन्त संवेग या वैराग्य युक्त साधक शास्त्र-प्रतिपादित विधान के अनुसार सामष्टिक रूप में प्राणी मात्र के प्रति मैत्री आदि गुणनिष्पन्न भावनाओं से अनुभावित रहे ।

[ ७९ ]

सत्तेसु ताव मेत्तिं तहा पमोयं गुणाहिएसुं त्ति ।  
करुणामज्जत्थत्ते किलिस्समाणाविणीएसु ॥

सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भाव, गुणाधिक—गुणों के कारण विशिष्ट

—सद्गुण सम्पन्न पुरुषों के प्रति प्रमोद-भाव—उन्हें देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव करना, दुःखियों के प्रति करुणा-भाव, अविनीत—उट्टण्ड या उद्धत जनों के प्रति उदासीन भाव रखना चाहिए ।

[ ८० ]

एसो च्चेवेत्थ कमो उच्चियपवित्तीए वन्निओ साहू ।  
इहरा ऽ समंजसत्तं तथा तथाऽठाणविणिओगा ॥

उचित प्रवृत्ति—योगाभ्यासानुकूल आचरणीय विधि-विधान, भावना-नुभावन आदि के सन्दर्भ में यहाँ जो क्रम वर्णित हुआ है, साधकों के लिए वह ग्रहण करने योग्य है । यदि समुचित क्रमानुरूप अभ्यास न चले, विपरीत रीति से चले तो साधना में सामंजस्य नहीं रह पाता ।

आहार—

[ ८१ ]

साहारणो पुण विही सुक्काहारो इमस्स विन्नेओ ।  
अन्नत्थ ओयएसो सव्वासंपदकरी भिक्खा ॥

वैराग्यवान् पुरुष के लिए सामान्यतः रूखा-सूखा भोजन करने का विधान है । साथ ही साथ सर्वसम्पन्नताप्रद-परम श्रेयस्कर—आत्मोन्मुखी जीवन की निर्बन्ध पोषिका भिक्षा का भी विधान है, जिसका अन्यत्र वर्णन है ।

[ ८२ ]

वणसेवो धम्मणेण उच्चियत्तं तग्गयं निओगेण ।  
एत्थं अवेक्खियव्वं इहरा जोगो त्ति दोसफलो ॥

भिक्षा व्रण-लेप के समान है । फोड़े पर, उसे मिटाने हेतु जैसे किसी दवा का लेप किया जाता है, उसी प्रकार भूख, प्यास आदि मिटाने हेतु भिक्षा ग्रहण की जाती है । दवा चाहे कितनी ही कीमती क्यों न हो, फोड़े पर उतनी ही लगाई जाती है, जितनी आवश्यक हो । उसी प्रकार भिक्षा में प्राप्त हो रहे खाद्य, पेय आदि पदार्थ कितने ही सुस्वादु एवं सरस क्यों न

हों, वे अनासक्त भाव से उतने ही स्वीकार किये जाएँ, क्षुधा, तृषा आदि की निवृत्ति हेतु जितनी उनकी आवश्यकता हो। योगी को भिक्षा का समुचित विधि-क्रम यथार्थ रूप में समझ लेना चाहिए। ऐसा न होने पर भिक्षा निर्दोष नहीं होगी। फलतः साधक का योग सदोष हो जायेगा।

योगिक लब्धियाँ—

[ ८३ ]

जोगाणुभावओ चिय पायं न य सोहणस्स वि य लाभो ।

लद्धीण वि संपत्ती इमस्स जं वन्निया समए ॥

योग के प्रभाव से योगी के पाप-कर्म—अकुशल या अशुभ कर्म नहीं बँधता प्रत्युत उसे शुभ का लाभ होता है, उसके पुण्य बन्ध होता है। शास्त्रों में योगियों को लब्धियाँ प्राप्त होने का जो वर्णन है, वह इस तथ्य का सूचक है। अर्थात् योगी के विपुल पुण्य-संभार से स्वतः अद्भुत विभूतियाँ आविर्भूत होती हैं।

[ ८४ ]

रणणई लद्धीओ अणिमाईयाओ तह चित्ताओ ।

आमोसहाइयाओ तहा तहा जोगवुड्ढीए ॥

ज्यों-ज्यों योगी के जीवन में योग-वृद्धि—योग-साधना का विकास होता जाता है, त्यों-त्यों रत्न आदि, अणिमा आदि एवं आमोसहि आदि लब्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

ये योगिक शक्तियाँ जैन परम्परा में लब्धियाँ कही जाती हैं। योगसूत्र के रचनाकार महर्षि पतञ्जलि ने इन्हें विभूतियाँ कहा है। बौद्ध परम्परा में ये अभिज्ञाएँ कही गई हैं।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में इन विभूतियों का यथास्थान वर्णन किया है, जहाँ उन्होंने बताया है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—योग के इन आठ अंगों के सिद्ध हो जाने पर अमुक अमुक विभूतियाँ—असामान्य शक्तियाँ संप्राप्त हो जाती हैं।

योगसूत्र में उल्लेख है कि अस्तेय यम के सध जाने पर सब दिशाओं में स्थित, पृथ्वी में कहीं भी गुप्त स्थानों में गड़े हुए रत्न योगी के समक्ष प्रकट हो जाते हैं।<sup>१</sup> वे योगी को प्रत्यक्ष दीखने लगते हैं। प्रस्तुत गाथा में रत्न लब्धि का जो उल्लेख है, वह इस कोटि में संभावित है।

योगसूत्र में धारणा, ध्यान तथा समाधि—इन तीनों का किसी एक ध्येय में एकत्र होना संयम कहा गया है।<sup>२</sup> संयम द्वारा योगी विकास की अनेक कोटियाँ प्राप्त करता है। पातञ्जलि ने बताया है कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय तथा अर्थवत्त्व—भूतों की इन पाँच अवस्थाओं में संयम द्वारा योगी भूतजय प्राप्त करता है<sup>३</sup>—भूतों पर उसका अधिकार हो जाता है। भूत-जयसे उसके अणिमा—अणुसदृश सूक्ष्म रूप धारण कर लेना, लघिमा—शरीर को अत्यन्त हलका बना लेना, महिमा—शरीर को बहुत बड़ा कर लेना, गरिमा—शरीर को बहुत भारी बना लेना, प्राप्ति—चाहे गये जिस किसी भौतिक पदार्थ का संकल्प मात्र से प्राप्त हो जाना, प्राकाम्य—भौतिक पदार्थ सम्बन्धी कामना का निर्बाध, अनायास पूरा हो जाना, वशित्व—पाँच भूतों तथा तन्निष्पन्न पदार्थों का वंशगत हो जाना, ईशित्व—भूतों तथा भौतिक पदार्थों को नाना रूपों में परिणत करने की, उन पर शासन करने की क्षमता प्राप्त कर लेना—ये आठों सिद्धियाँ सध जाती हैं।<sup>४</sup> प्रस्तुत गाथा में अणिमा शब्द इसी आशय से प्रयुक्त है।

जैन परम्परा में भी संयम के परिणामस्वरूप प्राप्त होने वाली अनेक लब्धियों का वर्णन आया है। वहाँ आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लमोसहि आदि की चर्चा है। 'आमोसहि' का अभिप्राय यह है—जिस

१. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

—योगसूत्र २.३७

२. त्रयमेकत्र संयमः ।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४

३. स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४४

४. ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च ।

—पातञ्जल योगसूत्र ३.४५

योगी को यह लब्धि प्राप्त हो जाती है, उसके स्पर्श मात्र से रोग दूर हो जाते हैं। योगी का विष्प—मल-मूत्र, खेल—कफ आदि, जल्ल—शरीर का मेल भी, जब वह (योगी) विष्पोसहि, खेलोसहि तथा जल्लमोसहि संज्ञक लब्धियाँ प्राप्त कर लेता है, रोग पर औषधि-सदृश काम करते हैं।

प्रस्तुत गाथा में प्रयुक्त 'आमोसहि' इन्हीं में से एक है।

[ ८५ ]

एईय एस जुत्तो सम्मं अमुहस्स खवगमो नेओ ।

इयरस्स बंधगो तह सुहेणमिय मोक्खगामि त्ति ॥

इन लब्धियों से युक्त साधक सम्यक्तया अशुभ कर्मों का क्षय करता है, शुभ कर्मों का बन्ध करता है। यों शुभ या पुण्य में से गुजरता हुआ, शुभ, अशुभ से अतीत हो मोक्षगामी बन जाता है।

मनोभाव का वैशिष्ट्य—

[ ८६ ]

कायकिरियाए दोसा खविया मंडुक्कचुन्नतुल्ल त्ति ।

ते चेव भावणाए नेया तच्छारसरिस त्ति ॥

शारीरिक क्रिया द्वारा—मात्र देहाश्रित बाह्य तप द्वारा नष्ट किये गये दोष मेंढक के चूर्ण के समान हैं। यही दोष यदि भावना—मनोभाव—अन्तर्वृत्ति की पवित्रता द्वारा क्षीण किये गये हों तो उन्हें मेंढक की भस्म या राख के सदृश समझना चाहिए।

ग्रन्थकार ने यहाँ दार्शनिक साहित्य में सुप्रसिद्ध 'मण्डूक-चूर्ण' तथा 'मण्डूक-भस्म' के उदाहरण से कायिक क्रिया एवं भावनानुगत क्रिया का भेद स्पष्ट किया है।

ऐसा माना जाता है कि मेंढक के शरीर के टुकड़े-टुकड़े होकर मिट्टी में मिल जाँएँ तो भी नई वर्षा का जल गिरते ही मिट्टी में मिले हुए वे शरीर के अंग परस्पर मिलकर सजीव मेंढक के रूप में परिणत हो जाते हैं।

यदि मेंढक का शरीर जलकर राख हो गया हो तो फिर कितनी ही वर्षा क्यों न हो, वह सजीव नहीं होता ।

योगसूत्र के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने भी तत्त्ववैशारदी (योगसूत्र की टीका) में यह उदाहरण प्रस्तुत किया है ।

वस्तुतः तथ्य यह है, सद्बोधमय निष्ठा तथा भावपूर्वक जो सत् क्रिया की जाती है, वह दोषों को सर्वथा क्षीण कर देती है, जिससे वे पुनः नहीं उभर पाते, जैसे भस्म के रूप में बदला हुआ मेंढक का शरीर फिर कभी जीवित नहीं होता ।

बाह्य क्रिया द्वारा दोषों का सर्वथा क्षय नहीं होता, उपशम मात्र होता है, जिससे वे अनुकूल स्थिति पाकर फिर उभर आते हैं, जैसे टुकड़े-टुकड़े बना, मिट्टी में मिला मेंढक का शरीर वर्षा होने पर जीवित हो जाता है ।

[ ८७ ]

एवं पुन्नं पि दुहा मिम्मयकणगकलसोवमं भणियं ।  
अग्नेहि वि इह मग्गे नामखिवज्जासभेएण ॥

अन्य परम्परा के आचार्यों—शास्त्रकारों (बौद्धों) ने योग-मार्ग में इसका नाम-विपर्यास से—मात्र कथन-भेद से मिट्टी के घड़े तथा सोने के घड़े की उपमा द्वारा आख्यान किया है । भावना-वर्जित बाह्य क्रिया—तपः कर्म मिट्टी के घट के सदृश है एवं भावनानुप्राणित क्रिया स्वर्ण-कलश के सदृश है । हैं दोनों घट ही पर दोनों की मूल्यवत्ता में भारी अन्तर है ।

यहाँ केवल विवेचन की शब्दावली में भिन्नता है, मूल तत्त्व एक ही है ।

[ ८८ ]

तह कायपायणो न पुण चित्तमहिगिच्च बोहिसत्त त्ति ।  
होति तह भावणाओ आसयजोगेण सुद्धाओ ॥

बौद्ध परम्परा में बोधिसत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि वे काय-

पाती होते हैं, चित्तपाती नहीं होते। क्योंकि उत्तम आशय—अभिप्राय के कारण उनकी भावना—चित्तस्थिति शुद्ध होती है।

वास्तव में चित्त की परिशुद्धि नितान्त आवश्यक है। शरीर लोक-व्यापृत हो सकता है क्योंकि शरीर का, इन्द्रियों का वैसा गुण-धर्म है पर चित्त में यह आसंग नहीं आना चाहिए। बौद्ध दर्शन में प्रतिपादित हुआ है, चित्त की रक्षा के लिए स्मृति तथा संप्रजन्य की रक्षा अपेक्षित है। धर्म में, जिनका विधान किया गया है, जिनका निषेध किया गया है, उन्हें यथा-वत् स्मरण रखना स्मृति है। स्मृति को घर की रक्षा करने वाले द्वारपाल से उपमित किया गया है। द्वारपाल अवाञ्छित व्यक्ति को घर में प्रविष्ट नहीं होने देता, उसी प्रकार स्मृति अकुशल या पाप को नहीं आने देती। संप्रजन्य का अर्थ प्रत्यवेक्षण—काय और चित्त का निरीक्षण, संप्रेक्षण है। खाते, पीते, उठते, बैठते, सोते, जागते—हर क्रिया करते वैसा करना नितान्त आवश्यक माना गया है। इससे शम उत्पन्न होता है, जिसके प्रभाव से चित्त समाहित होता है। चित्त के समाहित होने से यथाभूत-दर्शन होता है। बौद्ध आचार्यों ने बड़ा जोर देकर कहा है, चित्त के अधीन सर्वधर्म हैं तथा बोधि धर्म के अधीन है।

[ ८६ ]

एमाइ जहोचियभावणाविसेसाओ जुज्जए सव्वं ।

मुक्काभिणिवेसं खलु निरुवियव्वं सबुद्धीए ॥

प्रस्तुत विवेचन यथोचित रूप में भावना की विशेषता ख्यापित करता है। सद्बुद्धिशील योगाभ्यासी किसी भी प्रकार का दुराग्रह न रख उसे निरूपित करे—उसकी चर्चा करे, जिज्ञासु जनों तक उसे पहुँचाये।

विकास : प्रगति

[ ९० ]

एएण पंगारेणं जायइ सामाइयस्स सुद्धि त्ति ।

तत्तो सुक्कज्झाणं कमेण तह केवलं चेव ॥

इस प्रकार सामायिक की—समत्व-भाव की शुद्धावस्था प्रकट होती



है। उससे शुक्लध्यान सिद्ध होता है। फिर क्रमशः केवल-ज्ञान प्राप्त होता है।

[ ६१ ]

वासीचंबणकप्पं तु एत्थ सिद्धं भओ च्चिय बुहेहिं ।  
आसयरयणं भणियं अओऽन्नहा ईसि दोसा वि ॥

योगवेत्ताओं ने आशय-रत्न—अभिप्राय, रूप रत्न को—उत्तम भाव को वासि-चन्दन के सदृश कहा है। यदि अभिप्राय इस कोटि का—ऐसे पवित्र स्तर का न हो तो वहाँ किञ्चित् दोष भी बताया गया है।

[ ६२ ]

जइ तब्भवेण जायइ जोगसमत्ती अजोगयाए तओ ।  
जम्माइदोसरहिया होइ सदेगंतसिद्धि त्ति ॥

यदि योगी के उसी भव में, जिसमें वह विद्यमान है, योग-समाप्ति—योग-साधना की सम्पन्नता या सम्पूर्णता सध जाए तो अयोग—मन, वचन तथा शरीर के योग—प्रवृत्तिक्रम से वह उपरत हो जाता है और निश्चित रूप से सिद्धि प्राप्त कर लेता है।

[ ६३ ]

असमत्ती य उ चित्तेसु एत्थ ठाणेंसु होइ उप्पाओ ।  
तत्थ वि य तयणुबंधो तस्स तहब्भासओ चेव ॥

यदि उसी भव में योगी की योग-साधना समाप्त नहीं होती तो उसका अनेक स्थानों में जन्म होता है। पूर्वभव के अभ्यास के कारण विभिन्न स्थानों में उसके निरन्तर योग-संस्कार बना रहता है।

[ ६४ ]

जह खलु दिवसब्भत्थं राईए सुविणयम्मि पेच्छंति ।  
तह इह जम्मब्भत्थं सेवंति भवंतरे जीवा ॥

मनुष्य को दिन में जिसका अभ्यास रहा हो—जिसमें वह बार-बार प्रवृत्त रहा हो, रात में उसी (विषय) को वह स्वप्न में देखता है। उसी

प्रकार एक जन्म में जीवों को जिसका अभ्यास रहा हो, जन्मान्तर में वे संस्कार रूप में उसे प्राप्त करते रहते हैं ।

[ ६५ ]

ता सुद्धजोगमगोच्चियम्मि ठाणम्मि एत्थ वट्टेज्जा ।  
इह परलोगेसु वढं जीवियमरणेसु य समाणो ॥

योगी को चाहिए कि वह शुद्ध योग मार्गोचित स्थान में प्रवृत्त हो— वह ऐसे कार्य करे, जो निर्दोष योग-मार्ग के अनुरूप हों । वह इस लोक तथा परलोक में, जीवन तथा मृत्यु में स्थिर भाव से समान बुद्धि रखे ।

[ ६६ ]

परिसुद्धच्चित्तरयणो चएज्ज वेहं तहंतकाले वि ।  
आसन्नमिणं नाउं अणसणविहिणा विसुद्धेणं ॥

जिसका चित्त रूपी रत्न परिशुद्ध—अत्यन्त निर्मल है, ऐसा योगी अपना अन्त समय समीप जानकर विशुद्ध अनशन-विधि से—आमरण अनशन स्वीकार कर देह का त्याग करे ।

काल-ज्ञान—

[ ६७ ]

नाणं चागमदेवयपइभासुविणंधराय दिट्ठीओ ।  
नासच्छित्तरगादंसणाओ कन्नगसवणाओ ॥

आगम—अष्टांग निमित्त विद्या, ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र आदि के सहारे, देव-सूचित संकेत द्वारा, प्रतिभा—स्वयं आविर्भूत अन्तर्-आभास द्वारा, स्वप्न द्वारा तथा नासिका, नेत्रतारक व कर्ण से सम्बद्ध विशेष लक्षणों द्वारा मृत्यु के समय का ज्ञान होता है ।

आंगिक चिन्ह तथा शकुन आदि के आधार पर मृत्यु-काल-ज्ञान आदि के सन्दर्भ में भारतीय वाङ्मय में काफी चिन्तन-मन्थन हुआ है । वैदिक, जैन, बौद्ध आदि सभी धर्म-परम्पराओं में इस पर पुष्कल साहित्य रचा गया । जैन आगम वाङ्मय के बारहवें अंग दृष्टिवाद में, जो अब लुप्त है, यह विषय

विस्तार से व्याख्यात था, ऐसा उत्तरवर्ती आचार्यों ने उल्लेख किया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के पाँचवें प्रकाश में नाड़ी, बाह्य लक्षण, नेत्र, कान, मस्तक, शकुन, उपश्रुति, लग्न, यन्त्र, विद्या-प्रयोग आदि द्वारा मृत्यु-काल के निर्णय का विस्तृत वर्णन किया है।

इस प्रसंग में आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र की स्वोपज्ञ टीका में अन्य आचार्यों का अभिमत उपस्थित करते हुए दो श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनका आशय इस प्रकार है—

“जिनकी आयु क्षीण हो चुकती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल नहीं देख पाते। यहाँ अरुन्धती जिह्वा, ध्रुव नासिका के अग्रभाग, विष्णुपद दूसरे के नेत्र की कनीनिका देखने पर दीखने वाली अपनी कनीनिका तथा मातृमण्डल भ्रुवों के अर्थ में प्रयुक्त है।”

[ ६८ ]

सुहसावयाइभक्खण-समणायमणुद्धरा आट्ठदीओ ।

गंधपरिट्टाओ तहा कालं जाणंति समयन्नु ॥

स्वप्न में हिंसक—शिकारी जानवरों द्वारा कोई अपने को खाया जाता देखे, स्वप्न में निर्ग्रन्थ यति, संन्यासी या तापस को देखे, देह से एक विशेष प्रकार की गन्ध आने लगे अथवा उसकी नासिका गन्ध-ग्रहण करने में अशक्त हो जाये—इनके आधार पर शास्त्रवेत्ता मृत्यु का समय जान जाते हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में स्वप्न के सन्दर्भ में सूचित किया

१. अरुन्धतीं ध्रुवं चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।  
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थं मातृमण्डलम् ॥  
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुवं नासाप्रमुच्यते ।  
तारा विष्णुपदं प्रोक्तं भ्रुवः स्यान्मातृमण्डलम् ॥

—योगशास्त्र ५वें प्रकाश के १३६वें श्लोक की व्याख्या के अन्तर्गत उद्धृत।

है कि यदि कोई स्वप्न में अपने को कुत्ते, गीध, कौए का दूसरे निशाचर प्राणियों द्वारा खाया जाता देखे अथवा गधे, ऊँट आदि पर अपने को सवार देखे तो उसकी (एक वर्ष में) मृत्यु हो जाती है ।<sup>१</sup>

ज्ञातव्य है कि मृत्यु के समय की जानकारी उस समय विशेष उप-योगी तथा हितावह होती है, जब व्यक्ति आमरण अनशन स्वीकार किये हुए अत्यन्त शुद्ध परिणामों के साथ मृत्यु का स्वागत करने को [उद्यत हो । मृत्यु के ठीक समय का ज्ञान होने पर उसका मनोबल मजबूत होता है, आत्मपरिणाम और सुस्थिर बनते हैं । क्योंकि उसके समक्ष यह तथ्य प्रकट रहता है कि इतने से समय के लिए उसे इस देह से इस जगत् में और रहना है । यह थोड़ा-सा समय, जो उसके हाथ में है, जितने उज्ज्वल, निर्मल एवं पवित्र परिणामों के साथ व्यतीत करेगा, उतना ही वह सौभाग्यशाली होगा, वह धन्य हो जायेगा ।

अनशन-शुद्धि में आत्मपराक्रम—

[ ६६ ]

अणसणसुद्धीए इहं जत्तोऽतिसएण होइ कायव्वो ।

जल्लेसे मरइ जओ तल्लेसेसुं तु उववाओ ॥

अनशन स्वीकार करने के बाद उसकी शु्ि हेतु साधक को विशेष प्रयत्नशील रहना चाहिए । क्योंकि कोई व्यक्ति जिस लेश्या—अध्यवसाय या परिणामों की धारा में प्राण छोड़ता है, वह वैसे ही लेश्यायुक्त स्थान में उत्पन्न होता है ।

[ १०० ]

लैसा य वि आणाजोगओ उ आराहगो इहं नेओ ।

इहरा असइं एसा वि हंतण्णाइम्मि संसारे ॥

उत्तम लेश्या में आज्ञायोग—जिन महापुरुषों ने जीवन में सत्य का साक्षात्कार किया, उनके अनुभव-प्रसूत पथ दर्शनरूप शास्त्र द्वारा निरूपित

१ स्वप्ने स्वं भक्ष्यमाणं श्वगृध्रकाकनिशाचरैः ।

उह्यमानं खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृतिः ॥

—योगशास्त्र ५. १३७

विधि-निषेधमूलक भाव जुड़ा हो, सहज रूप में अनुत्सृ हो, तभी व्यक्ति मोक्ष का आराधक कहा जा सकता है, अन्यथा वैसी'लेश्या तो इस अनादि जगत् में अनेक बार आती ही है। अर्थात् यदि लेश्या उत्तम भी हो, तो भी आज्ञा-योग के बिना जीवन का साध्य सधता नहीं।

[ १०१ ]

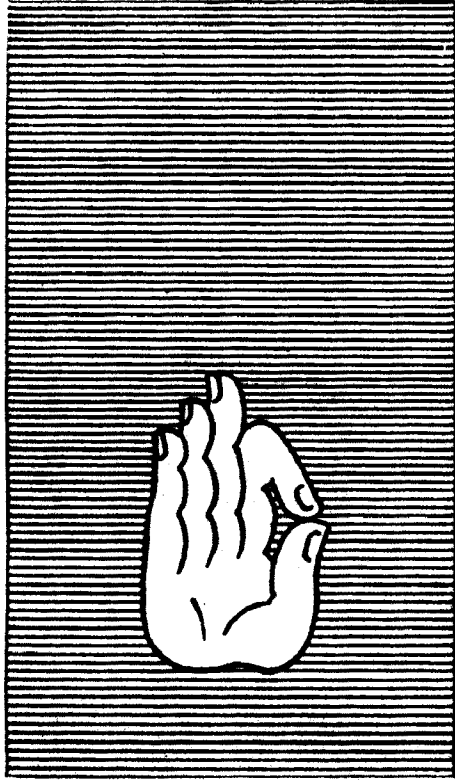
ता इय आणाजोगो जइयव्वमजोगयत्थिणा सम्मं ।

एसो न्चिय भवविरहो सिद्धीए सया अविरहो य ॥

अतएव अयोग—अयोगी गुणस्थान, जहाँ मानसिक, वाचिक तथा कायिक योग—प्रवृत्ति सर्वथा निरस्त हो जाती है, चाहने वाले साधक को आज्ञायोग में सम्यक्तया प्रयत्नशील रहना चाहिए—तदनु रूप विधि-निषेध का यथावत् पालन करते रहना चाहिए। इससे भव—संसार—जन्ममरण के चक्र से विरह—वियोग या पार्थक्य तथा सिद्धि—सिद्धावस्था—मोक्ष से शाश्वत काल के लिए अविरह—योग—संयोग हो जाता है—साधक मोक्ष से योजित हो जाता है; जुड़ जाता है।

‘भवविरह’ शब्द द्वारा ग्रन्थकार ने अपने अभिधान का भी सूचन किया है। □

॥ योग शतक समाप्त ॥



# योगविंशिका



## योग-विंशिका

योग की परिभाषा—

[ १ ]

मोक्खेण<sup>१</sup> जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो ।  
परिसुद्धो विन्नेओ ठाणाइगओ विसेसेणं ॥

मोक्ष से जोड़ने के कारण यद्यपि सभी प्रकार का विशुद्ध धर्म-व्यापार—धार्मिक उपक्रम, क्रिया-कलाप योग है पर यहाँ विशेष रूप से स्थान—आसन आदि से सम्बद्ध धर्म-व्यापार को योग समझना चाहिए। अर्थात् प्रस्तुत सन्दर्भ में योग शब्द से आसन, ध्यान आदि का अभिप्राय है।

योग के भेद—

[ २ ]

ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ तन्तम्मि पंचहा एसो ।  
दुगमित्थकम्मजोगो तहा तियं नाणजोगो उ ॥

तन्त्र—योगप्रधान शास्त्र में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन—योग के ये पाँच भेद बतलाये गये हैं। इन पहले दो—स्थान और ऊर्ण को कर्मयोग तथा उनके पश्चाद्द्वर्ती तीन—अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन को ज्ञानयोग कहा गया है।

स्थान—इसका तात्पर्य स्थित होना है। योग में आसन शब्द जिस अर्थ में प्रचलित है, यहाँ स्थान शब्द का उसी अर्थ में प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ पद्मासन, पर्यकासन, कायोत्सर्ग आदि का स्थान में समावेश है।

वास्तव में आसन के लिए स्थान शब्द का प्रयोग विशेष संगत है।

१ 'मुक्खेण' पाठान्तर ।



आसन का अर्थ बैठना है। सब आसन बैठकर नहीं किये जाते। कुछ आसन बैठकर, कुछ सोकर तथा कुछ खड़े होकर किये जाते हैं। देह की विभिन्न स्थितियों में अवस्थित होना स्थान शब्द से अधिक स्पष्ट होता है।

ऊर्ण—योगाभ्यास के सन्दर्भ में प्रत्येक क्रिया के साथ जो सूत्र—संक्षिप्त शब्द-समवाय का उच्चारण किया जाता है, उसे ऊर्ण कहा जाता है।

अर्थ—शब्द-समवाय-गर्भित अर्थ के अवबोध का व्यवसाय—प्रयत्न यहाँ अर्थ शब्द से अभिहित हुआ है।

आलम्बन—ध्यान में बाह्य प्रतीक आदि का आधार आलम्बन है।

अनालम्बन—ध्यान में रूपात्मक पदार्थों का सहारा न लेना अनालम्बन कहा गया है। यह निर्विकल्प, चिन्मात्र अथवा समाधिरूप है।

इस विवेचन से स्पष्ट है, क्रमशः स्थान-आसन तथा ऊर्ण—सूत्रोच्चारण में संस्थित एवं क्रियाशील होने के कारण—क्रिया-प्रधानता से इन दोनों की संज्ञा क्रिया योग है।

अर्थ, आलम्बन और अनालम्बन का सम्बन्ध ज्ञान या चिन्तन से है, इस कारण इनका ज्ञानयोग में समावेश किया गया है।

[ ३ ]

वैसे सव्वे य तहा नियमेणेतो चरित्तिणो होइ ।

इयरस्स बीयमित्तं इत्तु च्चिय केइ इच्छंति ॥

यह पाँच प्रकार का योग निश्चय-दृष्टि से उसी के सधता है, जो चारित्र-मोहनीय के क्षयोपशम से अंशतः या सम्पूर्णतः चारित्र-सम्पन्न होता है, जो वैसा नहीं होता, उसके यह बीजमात्र केवल योग-बीज रूप होता है। व्यवहार-दृष्टि से यह कुछ विद्वानों द्वारा योग भी कहा जाता है।

अभिप्राय यह है कि यह वस्तुतः योगावस्था प्राप्त करने में कारणभूत होता है।

[ ४ ]

इविकवको य चउद्धा इत्थं पुण तत्तओ मुणेयव्वो ।  
इच्छापवित्तिथिरसिद्धिभेयओ समयनीई ए ॥

तात्त्विक दृष्टि योगशास्त्र-प्रतिपादित परिपाटी के अनुसार इन पाँचों में से प्रत्येक के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता तथा सिद्धि—ये चार-चार भेद हैं। अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन—इन पाँचों की ये चार-चार कोटियाँ—क्रमिक विकासोन्मुख स्थितियाँ, रूप या प्रकार हैं।

[ ५-६ ]

तज्जुत्तकहापीईइ संगया विपरिणामिणी इच्छा ।  
सव्वत्थुवसमसारं तप्पालणमो पवत्ती उ ॥  
तह चेव एयबाहग-चित्तारहियं थिरत्तणं नेयं ।  
सव्वं परत्थसाहग-रूवं पुण होइ सिद्धि त्ति ॥

योगयुक्त—योगाराधक पुरुषों की कथा—चर्चा में प्रीति, आन्तरिक उल्लास आदि उत्तम, अद्भुत भावों से युक्त इच्छा—स्पृहा, उत्कण्ठा योग का इच्छा संज्ञक भेद है।

जिसमें उपशम-भावपूर्वक योग का यथार्थतः पालन हो, वह प्रवृत्ति संज्ञक भेद है।

बाधाजनक विघ्नों की चिन्ता से रहित योग का सुस्थिर परिपालन स्थिरता कहा जाता है।

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन, अनालम्बन रूप योग साधक की आत्मा में तो शान्ति उत्पन्न करता ही है, जब वह उस योगी के सम्पर्क में आने वाले अन्यान्य लोगों को भी सहज रूप में उत्प्रेरित करे, तब सिद्धि-योग कहा जाता है।

[ ७ ]

एए य चित्तरूवा तहाखओवसमजोगओ हुंति ।  
तस्स उ सद्धापीयाइ जोगओ भव्वसत्ताणं ॥

श्रद्धा, प्रीति या उत्साह के कारण भव्य—मोक्षगमनयोग्य प्राणियों के इच्छा-योग, प्रवृत्ति-योग, स्थिरता-योग तथा सिद्धि-योग, जो भिन्न-भिन्न रूप लिए हुए हैं—परस्पर भिन्न हैं, क्षयोपशम की तरतमता के कारण अनेक—असंख्य प्रकार के होते हैं ।

अनुभाव-प्राकट्य—

[ ८ ]

अणुकंपा निव्वेओ संवेगो होइ तह य पसमु त्ति ।  
एएसि अणुभावा इच्छाईणं जहासंखं ॥

इच्छा-योग आदि के सध जाने पर क्रमशः अनुकम्पा—दुःखित प्राणियों को देखकर उन पर कृपा, निर्वेद—आत्मस्वरूप का बोध हो जाने से जगत् से विरक्ति, संवेग—मोक्ष प्राप्त करने की तीव्र उत्कण्ठा तथा प्रशम—क्रोध, विषय-वासना आदि का उपशम—ये अनुभाव—अन्तःस्थिति के ज्ञापक, सूचक कार्य स्वयं उद्भासित होते हैं ।

सम्यक्त्व का उद्भव होने पर भी अनुकम्पा, निर्वेद आदि उत्पन्न होते हैं, फिर यहाँ उनके उद्भूत होने का क्या विशेष अभिप्राय है, यह प्रश्न होना स्वाभाविक है । इस सन्दर्भ में ज्ञाप्य है कि सम्यक्त्व होने पर इनकी जो प्रतीति होती है, वह सामान्य है तथा यहाँ इनका अनुभावों के रूप में जो उल्लेख किया गया है, वह विशेषता-द्योतक है । अर्थात् इच्छा-योग आदि के सिद्ध हो जाने के फलस्वरूप अनुकम्पा आदि कोमल, सात्त्विक वृत्तियों का जीवन में असाधारण उद्रेक हो जाता है ।

[ ९ ]

एवं ठियम्मि तत्ते नाएण उ जोयणा इमा पयडा ।  
चिइवंदणेण नेया नवरं तत्तण्णुणा सम्मं ॥

योग की तात्त्विक स्थिति—उसके सामान्य-विशेष स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है । चैत्य-वन्दन के दृष्टान्त से तत्त्ववेत्ता उसे और स्पष्टतया समझे ।

[ १०-११ ]

अरिहंतचेइयाणं करेमि उस्सग एवमाईयं ।  
सद्धाजुत्तस्स तथा होइ जहत्थं पयत्ताणं ॥  
एवं चऽत्थालंबण जोगवओ पायमविवरीयं तु ।  
इयरेसि ठाणाइसु जत्तपराणं परं सेयं ॥

चैत्य-वन्दन के सन्दर्भ में जब कोई श्रद्धायुक्त पुरुष “अरिहंतचेइयाणं करेमि काउस्सगं ………” इत्यादि चैत्य-वन्दन-सूत्र का यथावत् शुद्ध उच्चारण करता है, तब उसे जागरूकतावश चैत्य-वन्दन-सूत्र के पदों का यथार्थ ज्ञान होता है ।

यह यथार्थ ज्ञान अर्थ एवं आलम्बनमूलक योग को साध लेने से अविपरीत—साक्षात् मोक्षप्रद है ।

जो अर्थ एवं आलम्बन योग से रहित हैं, केवल स्थान तथा ऊर्ण योग के साधक हैं, उनके लिए यह परम्परा से मोक्षप्रद है ।

तात्पर्य यह है, यह सद्गुणान दो प्रकार का है—पहला अमृतानुष्ठान तथा दूसरा तद्धेतु-अनुष्ठान । पहला साक्षात्—शीघ्र मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है तथा दूसरा परम्परया—विलम्ब से मोक्ष-प्राप्ति का हेतु है ।

[ १२ ]

इहरा उ कायवासियपायं अहवा महामुसावाओ ।  
ता अणुरुवाणं चिय कायव्वो एयविन्नासो ॥

जो व्यक्ति अर्थ-योग एवं आलम्बन-योग से रहित है, स्थान-योग तथा ऊर्ण-योग से भी शून्य है, उसका यह (चैत्य-वन्दनमूलक) अनुष्ठान केवल कायिक चेष्टा है । अथवा महामृषावाद—निरी मिथ्या प्रवचन है । अतः अनुरूप—अधिकारी, सुयोग्य व्यक्तियों को ही चैत्य-वन्दन-सूत्र सिखाना चाहिए ।

[ १३ ]

जे देसविरइजुत्ता जम्हा इह वोसरामि कायं ति ।  
सुव्वइ विरईए इमं ता सम्मं चितियव्वमिणं ॥

जो देश-विरत—अंशतः विरत हैं—व्रतयुक्त (पंचम गुणस्थानवर्ती) हैं, वे इसके अधिकारी हैं। क्योंकि चैत्य-वन्दन-सूत्र में 'कार्यं वोसरामि' देह का व्युत्सर्ग करता हूँ, इन शब्दों से कायोत्सर्ग की जो प्रतिज्ञा प्रकट होती है, वह सुव्रती के विरति-भाव या व्रत के कारण ही घटित होती है। इस तथ्य को भली भाँति समझ लेना चाहिए।

इस सन्दर्भ में इतना और जोड़ लेना चाहिए—देशविरत से उच्च-स्थानस्थ षष्ठ गुणस्थानवर्ती साधक तत्त्वतः इसके अधिकारी हैं तथा देश-विरत से निम्नस्थानस्थ अपुनर्बन्धक या सम्यक्दृष्टि व्यवहारतः इसके अधिकारी माने गये हैं।

[ १४ ]

तित्थस्सुच्छेयाइ वि नालंबणमित्थ जं स एमेव ।  
सुत्तकिरियाइनासो एसो असमंजसविहाणा ॥

तीर्थ के उच्छेद—नाश की बात कहकर अर्थात् वैसा न करने से तीर्थ उच्छिन्न हो जायेगा, ऐसा प्रतिपादित कर—बहाना बनाकर विधिशून्य अनुष्ठान का सहारा नहीं लेना चाहिए। क्योंकि अविधि का आश्रय लेने से असमंजस—शास्त्रविरुद्ध क्रम प्रतिष्ठित होता है। इससे शास्त्रविहित क्रिया आदि का लोप हो जाता है। यही तीर्थोच्छेद है। अर्थात् ऐसा करने से तीर्थ के अनुच्छेद के नाम पर वास्तव में तीर्थ का उच्छेद हो जाता है।

[ १५ ]

सो एस वंको चिय न य सयमयमारियाणमविसेसो ।  
एयं पि भावियव्वं इह तित्थुच्छेयभीरुहिं ॥

अविधि के पक्षपात एवं आग्रहवश तथाकथित गुरु द्वारा प्रदत्त उपदेश से जो शास्त्र-निरूपित विधि का नाश होता है, वह वक्र—विपरीत या अनिष्ट फलप्रद है।

कोई स्वयं मर जाएँ अथवा दूसरों द्वारा मारे जाएँ, यह एक जैसी बात नहीं है। अज्ञान के कारण स्वयं मर जाने वालों की मौत के लिए दूसरा कोई दोषी नहीं होता पर जो दूसरों द्वारा मारे जाते हैं, उनकी मौत का

दोष तो मारने वालों पर ही है। इसी प्रकार जो स्वयं अज्ञान के कारण विधिभ्रान्त अनुष्ठान में लगे हैं, उनका दोष किसी दूसरे पर नहीं है पर जो दूसरों से उपदिष्ट होकर वैसा करते हैं, उसका दोष तो उन उपदेशक गुरुओं को है ही।

तीर्थोच्छेद का कल्पित भय खड़ा करने वालों को चाहिए, वे इस पर गहराई से चिन्तन करें।

[ १६ ]

मुत्तूण लोगसन्नं उड्डूण य साहसमयसम्भावं ।  
सम्मं पयट्टियव्वं बुहेणमइनिउणबुद्धीए ॥

लोक-संज्ञा—गतानुगतिक लोक-प्रवाह का त्याग कर, शास्त्र-प्रति-पादित शुद्ध सिद्धान्त ग्रहण कर प्रबुद्ध या विवेकशील व्यक्ति को अत्यन्त कुशल बुद्धिपूर्वक साधना में सम्यक्तया प्रवृत्त होना चाहिए।

अनुष्ठान-विश्लेषण—

[ १७ ]

कयमित्थ पसंगेणं ठाणाइसु जत्तसंगयाणं तु ।  
हियमेयं विन्नेयं सदणुट्ठाणत्तणेण तहा ॥

प्रस्तुत प्रसंग में इतना विवेचन पर्याप्त है। अब मूल विषय को लें—स्थान-योग, ऊर्ण-योग, अर्थ-योग, आलम्बन-योग तथा अनालम्बन-योग में जो यत्नशील—अभ्यासरत हों, उन्हीं के अनुष्ठान को सदनुष्ठान समझना चाहिए।

[ १८ ]

एयं च पीइभत्तागमाणुगं तह असंगया जुसं ।  
नेयं चउव्विहं खलु एसो चरमो हवइ जोगो ॥

प्रीति, भक्ति, आगम—शास्त्रवचन तथा असंगता—अनासक्ति के सम्बन्ध से यह अनुष्ठान चार प्रकार का है, यों समझना चाहिए। इनमें अन्तिम असंगानुष्ठान अनालम्बन-योग है।

अनुष्ठान के इन चारों भेदों का विवेचन इस प्रकार है :—

प्रीति-अनुष्ठान—योगोन्मुख क्रिया में इतनी अधिक प्रीति हो कि व्यक्ति अन्यान्य क्रियाओं को छोड़कर केवल उसी क्रिया में अत्यन्त तीव्र भाव से यत्नशील हो जाए, इसे प्रीति-अनुष्ठान कहा जाता है ।

भक्ति-अनुष्ठान—आलम्बनात्मक विषय के प्रति विशेष आदर-बुद्धि-पूर्वक तत्सम्बद्ध क्रिया में तीव्र भाव से प्रयत्नशील होना भक्ति-अनुष्ठान है ।

आगमानुष्ठान—वचनानुष्ठान—शास्त्रवचनावली की ओर दृष्टि रखते हुए योगी की जो साधनानुरूप समुचित प्रवृत्ति होती है, वह आगमानुष्ठान या वचनानुष्ठान है ।

असंगानुष्ठान—जब संस्कार साधना में इतने दढ़ ढल जाएँ, ओत-प्रोत हो जाएँ कि तन्मूलक प्रवृत्ति करते समय शास्त्र का स्मरण करने की कोई अपेक्षा ही न रहे, धर्म जीवन में एकरस हो जाए, वह असंगानुष्ठान की स्थिति है ।

प्रस्तुत कृति में उपर्युक्त रूप में योग के अस्सी भेद बतलाये हैं । अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के रूप में योग के पाँच भेद हुए । इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि के रूप इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद और हुए । अर्थात् स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन तथा अनालम्बन के ये चार-चार प्रकार हैं । यों ये बीस भेद बनते हैं । इन बीस में से प्रत्येक के प्रीति-अनुष्ठान, भक्ति-अनुष्ठान, आगमानुष्ठान तथा असंगानुष्ठान—ये चार-चार भेद हैं । इस प्रकार कुल अस्सी भेद हो जाते हैं ।

[ १६ ]

आलंबणं पि एयं रूचिमरूची य इत्य परमु त्ति ।  
तगुणपरिणइरूचो सुहुमोऽणालंबणो नाम ॥

प्रस्तुत कृति में किये गये विवेचन के अनुसार 'आलम्बन' तथा 'अनालम्बन' के रूप में ध्यान के दो भेद हैं । आलम्बन या—ध्येय भी रूपी—मूर्त्त, स्थूल या इन्द्रियगम्य तथा अरूपी—अमूर्त्त, सूक्ष्म या इन्द्रिय-अगम्य के रूप में दो प्रकार का है । आलम्बन ध्यान में रूपी आलम्बन रहता है तथा अनालम्बन ध्यान में अरूपी । परम मुक्त आत्मा अरूपी आलम्बन है ।

उनके गुणों से अनुभावित ध्यान सूक्ष्म—अतीन्द्रिय होने से अनालम्बन योग कहा जाता है ।

[ २० ]

एयम्मि मोहसागरतरणं सेढी य केवलं चेव ।

तत्तो अजोगजोगो कमेण परमं च निव्वणं ॥

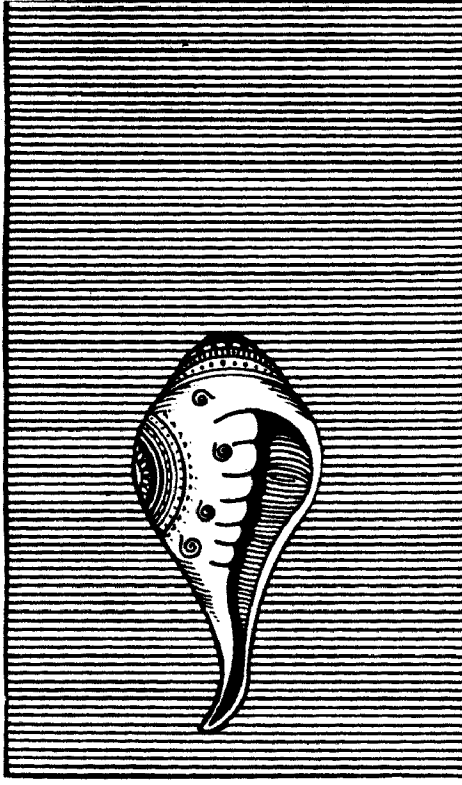
इस अनालम्बन योग के सिद्ध हो जाने पर मोह-सागर तीर्ण हो जाता है । क्षपक-श्रेणी प्रकट हो जाती है । फलतः केवलज्ञान उद्भासित होता है तथा अयोग—प्रवृत्तिमात्र के अपगम या अभाव रूप योग के सध जाने पर परम निर्वाण प्राप्त हो जाता है, जो योगी की साधना का चरम लक्ष्य है ।



॥ योग विशिका समाप्त ॥







श्लोकानुक्रमणिका

- योग दृष्टिसमुच्चय
- योग बिन्दु
- योग शतक
- योग विशिका

परिशिष्ट



# श्लोकानुक्रमणिका

## योगदृष्टि समुच्चय

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
अतस्त्वयोगो योगानां	११	आदरः करणे प्रीतिः	१२३
अतस्तु नियमादेव	६३	आद्यावञ्चकयोगाप्त्या	२१३
अतीन्द्रियार्थसिद्धयर्थ	६८	इत्थं सदाशयोपेतस्	६०
अतोऽग्निः क्लेदयत्यम्बु....	६३	इत्यसत्परिणामानुबिद्धो	७७
अतोऽन्यदुत्तरास्वस्मात्	७०	इत्वापूर्तानि कर्माणि	११५
अत्वरपूर्वकं सर्वं	५१	इन्द्रियार्थाश्रया बुद्धिर्ज्ञानं	१२१
अनन्तरक्षणभूतिरात्मभूतेह	१६३	इयं चावरणापाय....	१८
अनेकयोगशास्त्रेभ्यः	२०७	इहार्जुहिसादयः पञ्च	२१४
अन्यथा स्यादियं नित्यं	२०१	इहैवेच्छादियोगानी	२
अपायदर्शनं तस्मात्श्रुतदीपान्न....	६६	उपादेयाधियात्यन्तं	२५
अपायशक्तिमालिन्यं	६८	ऋत्विग्भिर्मन्त्रसंस्कारै....	११६
अपूर्वासन्नभावेन	३६	एक एव तु मार्गोऽपि	१२८
अबाह्यं केवलं ज्योतिः	१५७	एक एव सुहृद्भूमौ	५६
अभिसन्धेः फलं भिन्न	११८	एकाऽपि देशनैतेषां	१३६
अल्पव्याधिर्यथा लोके	३७	एतच्च सत्प्रणामादिनिमित्तं	३५
अवस्था तत्त्वतो नो चेत्	२०२	एतत् त्रयमनाश्रित्य	१२
अवज्ञेह कृताऽल्पादि	२२७	एतत्प्रधानः सत्श्राद्धः	१००
अविद्यासंगताः प्रायो	६०	एतत् प्रसाध्यत्याशु	१७७
अवेद्यं सवेद्यपदं	६७	एतद्भावमले क्षीणे	३०
अवेद्यसंवेद्यपदमपदं	७२	एतन्मुक्तश्च मुक्ताऽपि	१६०
अवेद्यसंवेद्यपदमान्द्यं	८५	एतद्वन्तोऽत एवेह	७८
अवेद्यसंवेद्यपदं विपरीतमतो	७५	एवंविधस्य जीवस्य	३३
असंमोहसमुत्थानि	१२६	एवं विवेकिनो धीराः	१५८
अस्यां तु धर्ममाहात्प्यात्	१६३	करोति योगबीजानामुपादानमिह	२२
आगमेनानुमानेन	१०१	कर्तुं मिच्छो श्रुतार्थस्य	३
आचार्यादिष्वपि ह्येतद्	२६	कान्तकान्तासमेतस्य	५२
आत्मानं पाप्मन्त्येते	८२	कान्ताश्चमेतदन्येषां	१६२

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
कुक्कुत्यं कृत्यमाभाति	८०	तस्मात्तत्साधनोपायो	११४
कुतर्कोऽभिनिवेशस्तन्न	८८	तस्मात्सामान्यतोऽप्येनम्	१०६
कुहृष्ट्यादिवन्तो सन्तो	१४२	तत्र द्रागेव भगवान्....	१८६
कुलप्रवृत्तचक्रा ये	२०६	तात्त्विकः पक्षपातश्च	२२३
कुलादियोगभेदेन	२०८	तारायां तु मनाक स्पष्टं	४१
कुलादियोगिनामस्मान्मत्तोऽपि	२२२	तृणगोमयकाष्ठाग्नि	१५
कृतमत्र प्रसंगेन	१५३	तेषामेव प्रणामादि	२२०
कृत्येऽधिकेऽधिकगते	४६	दृष्टान्तमात्रं सर्वत्र	६५
कोशपानादृते ज्ञानोपायो	६४	दिदृक्षाद्यात्मभूतं	२००
खद्योतकस्य यत्तं जस्तदल्पं	२२४	द्विचः द्रव्यव्यविज्ञान....	६६
गुरवो देवता विप्रा	१५१	द्वितीयापूर्वकरणे	१०
गुरुभक्तिप्रभावेन	६४	द्वितीयापूर्वकरणेमुख्यं....	१८२
गोचरस्त्वागमस्यैव	६६	द्विधाऽयं धर्मसंन्यास	६
ग्रहः सर्वत्र तत्त्वेन	१४८	दुःखरूपो भवः सर्व	४७
घातिकर्माभ्रकल्प	१८४	दुःखितेषु दयात्यन्तमद्वेषो	३२
चरमे पुद्गलावर्ते तथा	२४	धर्मबीजं परं प्राप्य	८३
चरमे पुद्गलावर्ते क्षयः	३१	धर्मादपि भवन् भोगः	१६०
चित्रा चाद्येषु तद्रागः	११२	ध्यानं च निर्मले बोधे	१७४
चित्राचित्तविभागेन	११०	ध्यानजं सुखमस्यां तु	१७१
चित्रा तु देशनेतेषां	१३४	ध्यानप्रिया प्रभा प्रायो	१६०
जन्ममृत्युजराव्याधि	७६	न चानुमानविषयं....	१४४
जातिप्रायश्च सर्वोऽयं	६४	न चैतदेवं यत् तस्मात्	१४७
जिनेषु कुशलं चित्तं	२३	न चैतदेवं यत्तस्मात्	८
जीयमाने च नियमा....	८६	न तत्त्वतो भिन्नमता	१०२
तत्पदं साधववस्थानाद्	७४	न त्वेच्छायोगतोऽयोगं	१
तत्स्वभावोपमदोऽपि	१६१	न भेद एव तत्त्वेन	१०६
तदभावे च संसारी	१६६	न युज्यते प्रतिक्रियः	१४१
तदभिप्रायमज्ञात्वा	१३६	न ह्यलक्ष्मीसखी लक्ष्मी	१५६
तदत्र महतां वर्त्म	१४६	नास्माकं महती प्रज्ञा	४८
तद्वत्कथाप्रीतियुता	२१५	नास्यां सत्यामसत्तृष्णा	५०
तन्नियोगान्महात्महे	१८१	नास्मिन् घने यतः सत्सु	३६
तल्लक्षणाविसंवादा....	१३१	निराचारपदो ह्यस्या....	१७६

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
निशानाथ प्रतिक्षेपो	१४०	भोगतत्त्वस्य तु पुनर्	१६७
निश्चभोऽतीन्द्रियार्थस्य	१४३	भोगात्तदिच्छाविरतिः	१६१
नैतद्विदस्त्वयोग्येभ्यो	२२६	भोगान् स्वरूपतः पश्यं	१६६
परपीडेहसृक्ष्माऽपि	१५०	मायाम्भस्तत्त्वतः पश्यन्	१६५
परार्थसाधकं त्वेतत्सिद्धिः	२१८	मायामरीचिगन्धर्वनगरं	१५६
परिष्कारगतः प्रायो	५६	मित्रा तारा बला दीप्रा	१३
पापवत्स्वपि चात्यन्तं	१५२	मित्रायां दर्शनं मन्दं	२१
पुण्यापेक्षमपि ह्येव	१७३	मीमांसाभावतो नित्यं	१६६
प्रतिपत्तिस्ततस्तस्य	१०४	मुख्योऽयमात्मनोऽनादि	१८६
प्रतिपातयुताश्चाद्याश्चतस्रो	१६	यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः	१४५
प्रथमं यद्गुणस्थानं	४०	यथाकण्डूयनेष्वेणं	८१
प्रयाणभंगाभावेन	२०	यथाप्रवृत्तिकरणे	३८
प्रवृत्तचक्रास्तु पुनः	२१२	यथाभव्यं च सर्वेषां....	१३७
प्रशांतवाहितासंज्ञं	१७६	यथाशक्युपचारश्च	४३
प्राकृतेष्विह भावेषु येषां	१२७	यथैवैकस्य नृपते	१०७
प्राणायामवती दीप्रा	५७	यद्वा तत्तन्नयापेक्षा	१३८
प्राणैभ्योऽपि गुरुधर्मः	५८	यमादियोग युक्तानां	१६
फलावञ्चकयोगस्तु	२२१	यस्य येन प्रकारेण	१३५
बडिशामिषवत्तु च्छे	८४	ये योगिनां कुले जाता	२१०
बालू धूलीगृह क्रीडा	१५५	योगक्रियाफलाख्यं यत्	३४
बीजं चास्य परं सिद्धम्	८६	योगिज्ञानं तु मानं चेत	२०३
बोजश्रुतौ च संवेगात्	२६	योग्येभ्यस्तु प्रयत्नेन	२२८
बुद्धिपूर्वाणि कर्माणि	१२४	रत्नादिशिक्षादृग्भ्योऽन्या	१८०
बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहस्त्रिविधो	१२०	रत्नोपलम्भतज्ज्ञान	१२२
बोधरोगः शमापायः	८७	रागादिभिरयं चेह	११६
बोधाम्भः स्रोतसश्चैषा	५३	लाभान्तरफलश्चास्य	४४
भव एव महाव्याधि	१८८	लेखना पूजना दानं	२८
भवत्यस्यां तथाच्छिन्ना	४२	वाणीकूपतडागानि	११७
भवभावानिवृतावप्ययुक्ता	१६८	विशेषेषु पुनस्तस्य	१०५
भयं नातीव भवजं	४५	विपक्षचिन्तारहितं	११७
भवाम्भोऽधिसमुत्तारात्	६६	वेद्यसंवेद्यते यस्मिन्	७३
भवोद्देशश्च सहजो	२७	वेद्यसंवेद्यपदतः	७१

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
व्याधितस्तदभावो वा	२०४	सर्वज्ञपूर्वकं चैतन्नियमादेव	१३३
व्याधिमुक्तः पुमान् लोके	१८७	सर्वज्ञाद्धेषिणश्चैते	२११
शास्त्रयोगस्त्वह ज्ञो यो	४	सर्वज्ञो नाम यः कश्चित्	१०३
शास्त्रसन्दर्शितोपायस्	५	स क्षणस्थितिधर्मा चेद्	१६६
शुभयोगसमारम्भो	५५	संसारातीत तत्त्वं तु	१२६
श्रवणे प्रार्थनीया स्युः	२२५	संसारी तदभावो वा	२०५
श्रुतधर्मे मनो नित्यं	१६४	संसारिणां हि देवानां	११३
श्रुताभावेऽपिभावेऽस्याः	५४	संसारिषु हि देवेषु	१११
स एव न भवत्येतद्	१६४	स्वभावोत्तरपर्यन्त	६२
सच्छ्रद्धासंगतो बोधो	१७	स्वभावोऽस्य स्वभावो यत	१६२
स तत्रैव भवोद्विग्नो	१६८	सिद्धयाख्यपदसम्प्राप्तहेतुभेदा	६
सतोऽसत्वे तदुत्पादस्ततो	१६५	स्थितः शीतांशुवज्जीवः	१८३
सत्प्रवृत्तिपदं चेहा	१७५	स्थिरायां दर्शनं नित्यं	१५४
सदाशिवं परं ब्रह्म	१३०	सुखासनसमायुक्तं	४६
सद्भिः कल्याणसम्पन्नैः	२१६	क्षणस्थितौ तदैवास्य	१६७
समाधिनिष्ठा तु परा	१७८	क्षाराम्भत्यागन्तो	६१
समेघामेघराज्यादौ	१४	क्षाराम्भतुल्य इह च	६२
सम्यग्धेत्वादिभेदेन	६५	क्षीणदोषोऽथ सर्वज्ञः	१८५
सर्वथा तत्परिच्छेदात्	७	क्षीणव्याधिर्यथा लोके	२०६
सर्वपरवशं दुःखं	१७२	क्षुद्रो लाभरतिर्दीनो	७६
सर्वं सर्वत्र चाप्नोति	६७	ज्ञाते निर्वाणतत्त्वेऽस्मिन्	भ३२
सर्वत्र शमसारं तु	२१६	ज्ञानपूर्वाणि तान्येव	१२५
सर्वज्ञतत्त्वाभेदेन	१०८	ज्ञायेरन् हेतुवादेन	१४६



## योगबिन्दु

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
अग्नैरुष्णत्वकल्पं तज् ४३१		अन्यतोऽनुग्रहोऽप्यत्र ७	
अत एव च निर्दिष्टं ४६४		अन्यथाऽऽत्यन्तिको मृत्यु ४१७	
अत एव च योगज्ञैः १७७		अन्यथा योग्यताभेदः २७७	
अत एव च शस्त्राग्निः १४४		अन्यथा सर्वमेवैतद् १४	
अतएव न सर्वेषां*** ५६		अन्यथैकस्वभावत्वाद् १०७	
अत एवेदमार्याणां २१८		अन्यद् बान्धयेत्रभेदोप*** ५१२	
अत एवेह निर्दिष्टा ६७		अन्यसंयोगवृत्तीनां ३६६	
अतः पापक्षयः सत्त्वं ३५६		अन्येषामप्ययं मार्गो ३०१	
अतस्तु भावो भावस्य ३४५		अन्योन्यसंश्रयावेवं ३२४	
अतोऽकरणनियमात् ४१५		अन्वयोऽर्थस्य न आत्मा ४७२	
अतोऽन्यस्य तु धन्यादेः १६२		अपायमाहुः कर्मैव ३७३	
अतोऽत्रैव महान् यत्नः ६५		अपुनर्बन्धकस्यायं ३६६	
अतोऽपि केवलज्ञानं ३६७		अपुनर्बन्धकस्यैवं २५१	
अतोऽयं जस्वभावत्वात् ४३७		अपुनर्बन्धकादीनां ६८	
अतोऽन्यथा प्रवृत्तौ तु २६		अपेक्षते ध्रुवं ह्येनं २२८	
अत्राप्येतद् विचित्रायाः १०६		अभिमानसुखाभावे १६१	
अधिमुक्त्याशयस्थैर्यं २६४		अभ्यासोऽयैव विज्ञेयः ३६०	
अध्यात्मभावना ध्यानं ३१		अभ्युत्थानादियोगश्च ११२	
अध्यात्ममत्र परमं ६८		अमुख्यविषयो यः स्याद् २८	
अध्रुवेक्षणतो नो चेत् ४७४		अमुत्र संशयापन्न*** ४२	
अनादिमानपि ह्येष १६५		अयमस्यामवस्थायां २७०	
अनादिरेष संसारो ७४		अयोगिनो हि प्रत्यक्षगोचर ५०	
अनादिशुद्ध इत्यादिः ३०३		अर्थादावविधानेऽपि २२३	
अनाभोगवतश्चैतद् १५८		अविद्याकल्पितेषूच्चैः ३६४	
अनिवृत्ताधिकारायां १०१		अविद्या क्लेश-कर्मादि ३०५	
अनीदृशस्य तु पुनः ३५६		अविशेषेण सर्वेषाम् ११७	
अनीदृशस्य च यथा १८८		असत्यस्मिन् कुतो मुक्तिः ५२०	
अनुग्रहोऽप्यनुग्राह्य १२		असद् व्ययपरित्यागः १२६	
अनेन भवनैगुण्यं २८४		असातोदयशून्योऽन्धः ३५४	
अनेनापि प्रकारेण १४६		असंप्रज्ञात एषोऽपि ४२१	



श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
अस्थानं रूपमन्धस्य	३१५	इदानीं तु समासेन	३६
अस्मादतीन्द्रियज्ञप्तिं...	४२६	इष्यते चैतदप्यत्र	२५०
अस्मिन् पुरुषकारोऽपि	४१४	इहामुत्र-फलापेक्षा	१५१
अस्यापि योऽपरो भेदः	३०६	उक्तं च योगमार्गज्ञैः	६६
अस्यावाच्योऽयमानन्दः	५०५	उत्तुंगारोहणात्, पातो	१४३
अस्यैव त्वनपायस्य	३७२	उत्साहान्निश्चयाद् धैर्यात्	४११
अस्यैव सास्रवः प्रोक्ता	३७५	उपचारोऽपि च प्रायो	१५
अस्यैषा मुख्यरूपा स्यात्	१७६	उपदेशं विनाऽप्यर्थकामौ...	२२२
अस्यौचित्यानुसारित्वात्	३४०	उपप्लववशात्, प्रेम	४७५
अहमेतानतः कृच्छ्राद्	२८६	उपायोपगमे चास्या	४१०
अक्षरद्वयमप्येतत्	४०	उभयोः परिणामित्वं	३१०
आगमात्, सर्व एवायं	२३६	उभयोस्तत्स्वभावत्वे	३२६
आगमेनानुमानेन	४१२	उभयोस्तत्स्वभावत्वात्	१०५
आत्मदर्शनतश्च स्यान्	४५७	ऊहतेऽयमतः प्रायो	१६४
आत्मनां तत्स्वभावत्वे	३१२	ऋद्ध्यप्रवर्तनं चैव	३६५
आत्मसंप्रेक्षणं चैव	३६४	एकमेव ह्यनुष्ठानं	१५३
आत्मा कर्माणि तद्योगः	४१३	एकान्त कर्तृभावत्वे	४८०
आत्मा तदभिलाषी स्याद्	२३२	एकान्तनित्यतायां तु	४८३
आत्मा तदन्यसंयोगात्	६	एकान्तफलदं ज्ञेयं	३६२
आत्माद्यतीन्द्रियं वस्तु	५१	एकान्ते सति तद्यत्न	२०
आत्मीयः परकीयो वा	५२५	एकान्तक्षीणसंक्लेशो	५०४
आर्ध्यं व्यापोरमाश्रित्य	२६७	एकैकं वर्धयेद् ग्रासं	१३२
आदिकर्मकमाश्रित्य	३८१	एतच्च योगहेतुत्वाद्	२०६
आद्यान्न दोषविगमस्	२१५	एतच्चान्यत्र महता	८३
आद्यं यदेव मुक्त्यर्थं	११२	एतद्ध्युदप्रफलदं	२२०
आनन्दो जायतेऽत्यन्तं	२८१	एतत्त्यागाप्तिसिद्ध्यर्थं	३४३
आविद्वदंगमासिद्धं...	५५	एकद्रागादिकं हेतुः	१५६
आसन्ना चेत्यस्योच्चैः	१७६	एतद्युक्तमनुष्ठान	१५२
आस्रवो बन्धहेतुत्वाद्	३७६	एतत्, त्रिधाऽपि भव्यानां	२६५
इत्ये द्वयैकभावत्वे	४७१	एतस्य गर्भयोगोऽपि	२४२
इत्थं चैतद् यतः प्रोक्तं	१५४	एनां चाश्रित्य शास्त्रेषु	१८५

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
एवमाद्यत्र शास्त्रज्ञैः.....	५२४	करण परिणामोऽत्र	२६४
एवमाद्युक्तसन्नीत्या	४४३	करुणादि गुणोपेतः	२८७
एवमासाद्य चरमं	४२०	कर्मणा कर्ममात्रस्य	३२८
एवमूह प्रधानस्य	१६६	कर्मणोऽप्येतदाक्षेपे	३३४
एवमेकान्तनित्योऽपि	४७८	कर्मानियतभावं तु	३३१
एवं कालादि भेदेन	२६२	कल्पितादन्यतो बन्धो	५२१
एवं च कर्तृभेदेन	१६१	कायपातिन एवेह	२७१
एवं चरमदेहस्य	३७७	कालादिसच्चिवश्चाय	७६
एवं च चरमावर्त	३३७	कांचनत्वाविशेषेऽपि	६
एवं च तत्त्वतोऽसार	४३८	कर्मणो योग्यतायां हि	१३
एवं च तत्त्व संसिद्धे	६४	किचान्यद् योगतः स्वर्यं	५२
एवं पुरुषकारस्तु	३२३	कुण्ठी भवन्ति तीक्ष्णानि	३६
एवं पुरुषकारेण	३३६	कुमारीसुतजन्मादि	४६६
एवं च योगमार्गोऽपि	४८८	कुमार्यं भाव एवेह	४६७
एवं च सर्वस्तद्योगादयमात्मा	१६६	कृतमत्र प्रसंगेन	५१०
एवं चानादिमान् मुक्तो	१६६	कृतश्चास्या उपन्यासः	१८०
एवं चापगमोऽप्यस्याः	१७०	कृतमत्र प्रसंगेन	८४
एवं तु मूलशुद्धयेह	५११	कृत्स्नकर्मक्षयान्मुक्तिः	१३६
एवं तु वर्तमानोऽयं	३५२	केचित् तु योगिनोऽप्येतद्	४२७
एवं भूतोऽयमाख्यातः	२६३	केवलस्यात्मनो न्यायात्	८
एवं लक्षणयुक्तस्य	२००	क्रोधाद्यबाधितः शान्त	१६३
एवं विचित्रमध्यात्मं.....	४०४	ग्रन्थिभेदे यथैवायं	४१६
एवं सामान्यतो ज्ञेयः	२६७	ग्रहं सर्वत्र संत्यज्य	३१७
ऐदमर्प्यं तु विज्ञेयं	१६	गुणप्रकर्षरूपो यत्	२६८
औचित्यादि वृत्तमुक्तस्य	३५८	गुणाधिक्य परिज्ञानाद्	१२०
औचित्यारम्भणोऽक्षुद्राः	२४४	गुर्वादि पूजनाग्रेह	१४६
औचित्यं भावतो यत्र	३४४	ग्रंथेयकाप्तिरप्येवं	१४५
अंतर्विवेकसम्भूतं	२४६	गोच रश्च स्वरूपं च	५
अंशतस्त्वेष दृष्टान्तो	४३४	जपः सन्मन्त्रविषयः	३८२
अंशावतार एकस्य	५१४	जात्यकाञ्चनतुल्यास्तत्.....	२४३
कण्टकज्वरमोहैस्तु	३७४	जात्यन्धस्य यथा पुंसस्	२८३

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
जिनोदितमितित्वाद्	१६०	तस्मादवश्यमेष्टव्या	१६८
जिज्ञासायामपि ह्यत्र	१०३	तथा च जन्मबीजाग्नि	३८
चतुर्थमेतत् प्रायेण	१६३	तथा च तत्स्वभावत्व	३३०
चरमे पुद्गलावत्	७२	तथा च भिन्ने दुर्भेदे	२८०
चारित्रिणिस्तु विज्ञेयः	३७१	तथा चान्यैरपि ह्येतद्	१००
चारिसंजीवनी चारन्याय	११६	तथा चेहात्मनो ज्ञत्वे	४३०
चारु चैतद् यतो ह्यस्य	२०६	तथा तथा क्रियाविष्टः	४६६
चिद्रस्यारय तथाभावे	७७	तथात्मपरिणामात् तु	८०
चिन्तयत्येवमेवैतत्	२८६	तथा नामेव सिद्धैव	४५२
चैतन्यं च निज रूपं	४४५	तथा भव्यत्वतश्चित्रं	२६१
चैतन्यं चेह संशुद्धं	४५६	तथाऽयं भवकान्तारे	३५५
चैतन्यमात्मनो रूपं	४२८	तपोऽपि च यथाशक्ति	१३१
चैतन्यमेव विज्ञानमिति	४४७	तदासनाद्यभोगश्च	११५
तत् पुनर्भाविक् वा स्याद्	४८५	तदत्र परिणामस्य	२६६
ततस्तथा तु साध्वेव	४६३	तदन्यकर्मविरहान्न	१६७
ततस्तदात्वे कल्याण	१०४	तदभावेऽपि तद् भावो	४०७
ततः शुभमनुष्ठानं	१७१	तद्भंगादिभयोपेतम्	३६३
तत्तत्कल्याणयोगेन	२८८	तद्दृष्टाद्यनुसारेण	२७
तत्तत्स्वभावता चित्रा	२६३	तदयं कर्तृभावः स्याद्	४७६
तत्तत्स्वभावतां मुक्त्वा	२६६	त्यागश्च तदनिष्टानां	११४
तत्कारी स्यात् स नियमात्	२४०	तात्त्विकोऽतात्त्विकश्चाय	३६८
तत्प्रकृत्यैव शेषस्य	१८२	तात्त्विकोऽतात्त्विकाश्चायं	३२
तत्प्रणेतुसमाक्रान्तं	२४७	तात्त्विकोभूत एव स्यादन्यो	३३
तत्त्वेन तु पुनर्नैका	६२	तीव्रपापाभिभूतत्वाज्	८५
तत्स्वभावत्वतो यस्माद्	४६१	तुच्छं च तुच्छनिलय	२५५
तत्त्वचिन्तनमध्यात्मं	३८०	तुल्य एव तथा स्वर्गः	१०८
तत्त्वं पुनर्द्वयस्यापि	३३६	तुल्यत्वमेवमनयो	३३८
ततोऽस्थानप्रयासोऽयं	३०७	नृणादीनां च भावानां	६५
तस्मात् सदैव धर्मार्थी	२२४	तृतीयमप्यदः किन्तु	२१४
तस्मादचरमावर्त्तव्यध्यात्मं	६३	तृतीयाद् दोषविगमः	२१६
तस्मादनुष्ठानगतं	४४०	नृष्णां यज्जन्मनो यानि	४६०

श्लोक	क्रमांक
तैजसानां च जीवनां	६४
त्रिधा शुद्धमनुष्ठानं	२१०
दत्तं यदुपकाराय	१२४
दावादिः प्रतिमाक्षेपे	३३३
दिव्यभोगाभिलाषेण	१५७
दिदृक्षादिनिवृत्त्यादि	४८६
दिदृक्षाभवबीजादि	१६६
दिदृक्षा विनिवृत्ताऽपि	४५५
द्वितीयाद् दोषविगमो न	२१७
द्वितीयं तु यमाद्येव	२१३
दीनान्ध कृपणा ये तु	१२३
दूरं पश्यतु वा मा वा	४४२
दृष्टबाधैव यत्रास्ति	२४
देवतापुरतो वाऽपि	३८३
देवादिवन्दनं सम्यक्	३६७
देवान् गुरुन् द्विजान् साधून्	४४
देशादिभेदश्चित्रमिदं	३५७
दैवं नामेव तत्त्वेन	३१६
दैवं पुरुषकारश्च	२१
दैवं पुरुषकारश्च	३१८
दैवं पुरुषकारण दुर्बलं	३२७
दैवमात्मकृतं विद्यात्	८५
धर्मस्यादिपदं दानं	१२५
धर्मार्थं लोकपक्तिः स्यात्	६०
धर्ममेधोऽमृतात्मा च	४२२
धर्मरागोऽधिकोऽस्यैवं	२५७
धृतिः क्षमा सदाचारो	५४
न किन्नरादिगेयादौ	२५४
न चाकृतस्य भोगोऽस्ति	४८१
न चात्मदर्शनादेव	४७३
न चेह ग्रन्थिभेदेन	२०५

श्लोक	क्रमांक
न चेतेषामपि ह्येतन्	६०
न चैतद् भूत संघात	५६
न चैवं तत्र नो राग	२५८
नत्वाऽऽद्यन्तविनिर्मुक्तं	१
न देशविप्रकर्षोऽस्य	४३३
न निमित्तवियोगेन	४४६
न भवस्थस्य यत् कर्म	३२१
नवताया न चात्यागस्	५०२
नवनीतादिकल्पस्तत्	६६
न यस्य भक्तिरेतस्मिन्	२२६
न सद्योगभव्यस्य	२४१
न ह्यपश्यन्नहमिति	४६१
न ह्यपायान्तरोपेय	२३६
न ह्येतद्भूतमात्रत्व	४७
नाचार्यं महतोऽर्थस्य	१७५
नात एवाणवस्तस्य	१७२
नान्यतोऽपि तथाभावाद्	५२२
नास्तियेषामयं यत्र	१४०
निश्चयेनात्र शब्दार्थः	३७८
निजं न हापयत्मेव	२६१
निमित्तमुपदेशस्तु	३४६
निमित्ताभावतो नो चेत्	४५३
नियमात् प्रतिमा नात्र	३३२
निरावरणमेतद् यद्	४५४
निवृत्तिरशुभाभ्यासाच्	३६१
निषिद्धासेवनादि यद्	४०१
नृपस्यैवाभिधानाद्	४८७
नेदमात्मक्रियाभावे	३२६
नैरात्म्यदर्शनादन्ये	४५८
नैरात्म्यदर्शनं कस्य	४६५
नैरात्म्यसात्मनोऽभावः	४६३

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
नोदनाऽपि च सा यतो	४५	फलवद् द्रुमसद्बीजं	२४८
पठितः सिद्धिदूतोऽयं	२३७	बुद्ध्यध्यवसितं यस्माद्	४४४
परलोकविधौ शास्त्रात्	२२१	बोधमात्रेऽद्वये सत्ये	४७७
परार्थरसिको धीमान्	२७२	बंधाच्च भवसंसिद्धिः	४८६
परिणामित्व एवैतत्	५००	ब्रह्मचर्येण तपसा	५७
परिणामिन्यतो नीत्या	४६०	भवाभिनन्दि दोषाणां	१७८
पल्लवाद्यपुनर्भावो	४०८	भवाभिनन्दिनः प्रायः	८६
पूर्वोपलक्षितो यद् वा	३८४	भवाभिनन्दिनो लोकपक्ष्या	८६
प्रक्रान्ताद् यदनुष्ठानादौ	३४७	भवाविष्वंग भावेन	१५०
प्रकृतेर्भेदयोगेन	१६५	भवंश्चाप्यात्मनो यस्माद्	२६६
प्रकृतेर्वाऽनुगुण्येन	३४८	भार्या यथान्यसक्ताया	२०४
प्रकृतेरायतश्चैव	२०७	भावनादि त्रयाध्यासाद्	४०५
प्रकृष्टपुण्यसामर्थ्यात्	४२६	भाववृद्धिरतोऽवश्यं	३५१
प्रतिक्रमणमप्येवं	४००	भावाविच्छेद एवायं	४६६
प्रत्यक्षेणानुमानेन	२५	भिन्नग्रन्थेस्तु यत् प्रायो	२०३
प्रदीर्घभवसद्भावान्	७३	भिन्नग्रन्थेस्तृतीयं तु	२६६
प्रलापमात्रं च वचो	४८	भेदोऽपि चास्य विज्ञेये	२८२
प्रवृत्तिरपि चैतेषां	२४६	भोगांगशक्ति वैकल्यं	१६०
प्रस्तावे मितभाषित्वं	१२८	भोगिनोऽस्य स दूरेण	२६०
प्रोल्लसद्भावरोमांचं	३६६	भ्रांति-प्रवृत्ति-बन्धास्तु	१८
पातात् त्वस्येत्वरं कालं	२५६	मण्डूक-भस्म-न्यायेन	४२३
पापसूदनमप्येवं	१३५	मलिनस्य यथाऽज्यन्तं	२२६
पापामयौषधं शास्त्रं	२२५	मलिनस्य यथा हेम्नो	४१
पात्रे दीनादिवर्गं च	१२१	महामोहाभिभूतानामेवं	१३६
पित्रो सम्यगुपस्थानाद्	५८	माता पिता कलाचार्य	११०
पुरुषोऽविकृतात्तमैव	४४६	माध्यस्थ्यमवलम्ब्यैव	३००
पुरुषः क्षेत्रविज्ञानं	१७	मासोपवासमित्याहु	१३४
पुष्पैश्च बलिना चैव	११६	मिथ्याचारपरित्याग	३६८
पुत्रदारादिसंसारः	५०६	मिथ्याविकल्परूपं तु	१८६
पूजनं चास्य विज्ञेयं	१११	मुक्तस्येव तथाभाव	५२३
पूर्वसेवा तु तन्त्रज्ञैः	१०६	मुक्ताविच्छापि यच्छ्लाघ्या	२१६

श्लोक	क्रमांक
मुक्तांशत्वे विकारित्वे.....	५१५
मुक्तो बुद्धोऽर्हन्, वाऽपि	३०२
मुक्तौ दृढानुरागस्य	३४२
मुक्त्वाऽतो वाद संघट्ट	६६
मुक्तिमार्गपरं युक्त्या	६६
मुख्यतत्त्वानुवेधेन	३०
मुख्ये तु तत्र नैवासौ	२६
मुनीन्द्रैः शस्यते तेन	३८८
मूलं च योग्यता ह्यस्य	४०६
मैत्री-प्रमोद-कारुण्य	४०२
मोहान्धकारगहने	२८५
मोक्षहेतुत्वमेवास्य	४
मोक्षहेतुर्यतो योगो	३
यः श्राद्धो मन्यते मान्या	२१७
यत्, सम्यग्दर्शनं बोधिः	२७३
यत्तथोभयभावत्वे	४८२
यतो विशिष्टः कर्तायं	१६२
यथात्मगुरुर्लिंगानि	२३१
यथा प्रतिज्ञमस्येह	३८७
यथेह पुरुषाद्वैते	५१३
यथोदितायाः सामग्र्या	४२४
यदा नार्थान्तरं तत्त्वं	५१६
यश्चात्र शिखिदृष्टान्तः	२४५
यस्य त्वनादरः शास्त्रे	२२८
यादृच्छिकं न तत्कार्यं	७६
युज्यते चैतदप्येवं	१८३
येषामेव न मुक्त्यादौ	१४७
योगाः कायादिकर्माणि	३६१
योगिनो यत्, समध्यक्षं	४६
योगः कल्पतरुः श्रेष्ठो	३७
योगस्यैतत्, फलं मुख्यं	५०६

श्लोक	क्रमांक
योग्यताऽऽत्मस्वभावस्तत्	४६८
योग्यतापगमेऽप्येवं	५०३
योग्यता चेह विज्ञेया	२७८
योग्यतायास्तथात्वेन	११
योग्यतामन्तरेणास्य	१०
योगेभ्यो जनवादाच्च	३६०
योजनाद् योग इत्युक्तो	२०१
लिंगं मार्गानुसार्येषु	३५३
लोकपक्तिमतः प्राहुः.....	६१
लोकशास्त्राविरोधेन	२२
लोकाचारानुवृत्तिश्च	१३०
लोकापवादभीरुत्वं	१२६
लोकाराधनहेतोर्या	८८
वचनाद्यस्य संसिद्धे	२३
वरबोधि समेतो वा	२७४
वरबोधेरपि न्यायात्	२७६
वरं वृन्दावनं रम्ये	१३८
वशिता चैव सर्वत्र	३६३
वादांश्च प्रतिवादांश्च	६७
विद्वत्तायाः फलं नान्यत्	५०८
विधाने चेतसो वृत्तिः	३८५
विनिवृत्ताग्रहत्वं च	५३
विपश्चितां न युक्तोऽयं	३०६
विभवतेदृक्परिणती	४५०
विरोधिन्यपि चैव स्यात्	१६८
विवेकिनो विशेषेण	४०३
विशेषं चास्य मन्यन्ते	२६५
विशेषस्यापरिज्ञानाद्	३०४
विषयात्मानुबन्धैस्तु	२११
विषं गरोजननुष्ठानं	१५५
विषं लब्ध्याद्यपेक्षात्	१५६

श्लोक	क्रमांक
विन्नोतोगमने न्याय्यं	३६५
वृथा कालादिवादश्चेत्	८१
वेलावलनवन्नद्याः	२०२
व्यापारमात्रात् फलदं	३२२
व्रतस्था लिगिनः पात्रं	१२२
श्वतेन्यूनं नाधिकत्वेन	२६२
शान्तोदात्तत्वमत्रैव	१८६
शान्तोदात्तः प्रकृत्येह	१८७
शास्त्रे भक्तिर्जगन्द्बन्धैर्	२३०
शिरोदकसमो भाव	३४६
शुभात् ततस्त्वसौ भावो	३३५
शुभैकालम्बनं चित्तं	३६२
शुद्धं यध्यवसतिस्वैवं	४४८
शुद्धं यल्लोके यथारत्नं	१८१
शुश्रूषा धर्मरागश्च	२५३
श्रद्धालेशान्नियोगेन	४३
श्रूयन्ते च महात्मान	६३
श्रूयन्ते चेतदालापा	२३७
सकृतादावर्तनादीनां	३७०
सच्चेष्टितमपि स्तोत्रं	१४८
सज्ज्ञानादिश्च यो मुक्तेः	१४१
सति चाश्मिन् स्फुरद्रत्न	२०८
सत्यात्मनि स्थिरे प्रेम्णि	४६२
सत्वाद्यभेद एकान्ताद्	५१८
सत्साधकस्य चरमा	१७३
सत्क्षयोपशमात् सर्वं	३५०
सद्गोचरादिसंशुद्धि	५०७
सदाद्यमत्र हेतुः स्यात्	५१७
सदुपायश्च नाध्यात्माद्	७१
सदुपायाद् यथैवाप्तिः	७०
सन्तापनादिभेदेन	१३३

श्लोक	क्रमांक
समाधिराज एतत् तत्	४५६
समाधिरेष एवान्यैः	४१६
समुद्रोर्मिसमत्वं च	५१६
समुद्धृत्यार्जितं पुण्यं	५२७
स योगाभ्यास जेयोयत्	४६२
सर्वत्र निन्दासंत्यागो	१२७
सर्वत्र सर्वसामान्य	४३५
सर्वथा योग्यताभेदे	२७६
सर्वथैवात्मनोऽभावे	४६४
सर्वमेवेदमध्यात्मं	३६६
सर्वान् देवान् नमस्यन्ति	११८
सर्वेषां तत्त्वमादत्वात्	३११
सर्वेषामेव सत्त्वानां	७५
सर्वेषां योगशास्त्राणाम्	२
सहजं तु मलं विद्यात्	१६४
संकलेशायोगतो भूयः	१८४
संकलेशीसंज्ञिताच्चेह	४६५
संयोगयोग्यताभावो	४६७
संविग्नो भवनिर्वेदाद्	२६०
संसारदस्य निर्वेदः	३४१
संक्षेपात् सफलो योग	३७६
साकल्यस्याय विज्ञेया	१६
सागरोपमकोटीनां	२६८
साधु चैतद् यतो नीत्या	३०८
सामग्र्या कार्यहेतुत्वं	८२
सामान्यवद् विशेषाणं	४३६
सामान्येन तु सर्वेषां	६१
सारार्णं वा यथाशक्तिः	११३
सास्त्रवो दीर्घसंसारः	३४
साक्षादतीन्द्रियानर्थान्	४२५
सांसिद्धि कमलाद् यद् वा	१६७

श्लोक	क्रमांक
सांसिद्धिकं च सर्वेषां.....	३१३
सांसिद्धिकमदोऽप्येवमन्यथा	३१४
सांसिद्धिकमिदं ज्ञेयं	२७५
सिद्ध्यन्तरस्य सद् बीजं	२३३
सिद्ध्यन्तरांगसंयोगात्	२३५
सिद्ध्यन्तरं न सन्धत्	२३४
सिद्धे रासन्न भावेन	१७४
स्थानकालक्रमोपेतं	३६८
स्फटिकस्य तथानाम	४५१
स्वतन्त्रनीतितस्त्वेव	२५२
स्वनिवृत्तिस्वभावत्वे	४७०
स्वनिवृत्तिः स्वभावश्चेत्	४६६
स्वप्नमन्त्रप्रयोगाच्च	४६
स्वप्ने वृत्तिस्तथाभ्यासाद्	६२
स्वभाववादापत्तिश्चेद्	७८
स्वभावविनिवृत्तिश्च	५०१
स्वभावापगमे यस्माद्	४८४

श्लोक	क्रमांक
स्वरूपं निश्चयनैतद्	३२०
स्वरूपं संभवं चैव	३५
स्वल्पमत्यनुकम्पायै	५२६
स्वाराधनाद् यथैतस्य	१४२
स्थिरत्वमित्थं न प्रेम्णो	४७६
स्थूलसूक्ष्मा यतश्चेष्टा	४०६
स्वौचित्यालोचनं सम्यक्	३८६
हस्तस्पर्शसमं शास्त्रं	३१६
हेतुभेदो महानेव	२५६
हेतुमस्य परं भावं	४१८
हेयोपादेयतत्वस्य	४४१
क्षणिकत्वं तु नैवास्य	४६८
क्षुद्रौ लाभरतिर्दीनो	८७
क्षेत्ररोगाभिभूतस्य	१०२
ज्ञानवान् मृग्यते कश्चित्	४३६
सो ज्ञेये कथमज्ञः स्याद्	४३२





योगशतक : गाथानुक्रमणिका

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
अकुसलकम्मोदय	४६	एवं चिय अवयारो जायइ	२६
अणसणमुद्धीए इहं	९९	एयम्मि परिणयम्मी	३८
अणिगूहणा बलम्मी	३४	एवमणाई एसो सम्बन्धो	५७
अणुभुयवत्तमाणो	५५	एवं तु बन्धमोक्खा	५८
अत्थे रागम्मि उ अज्जणाइ	६९	एवं पुन्नं पि दुहा	८७
अद्धेणं गच्छन्तो सम्मं	७	एसो चेवेत्थ कमो	८०
अनियत्ते गुणे तीए	१०	एसो सामाइयसुद्धिं	१६
एवं अब्भासाओ तत्तं	७७	कम्मं च चित्तपोगं रूवं	५४
असमत्ती य उ चित्तेसु	९३	कायकिरियाए दोसा	८६
अहवा ओहेणं चिय	७८	किरिया उ दंडजोगेण	१९
अहिगारिणो उवाएण	८	गमणाइएहिं कायं	४०
अहिगारी पुण एत्थं	९	गुरुकुलवासो गुरुत्तयाए	३३
आणाए चित्तणम्मि	७४	गुरुणा लिगेहिं तओ	२४
उड्डं अहियगुणेहिं	४४	गुरुणो अजोगिजोगो	३७
उत्तरगुणबहुमाणो	४५	गुरुदेवयाहिं जायइ	६२
उवएसो विसयम्मी	३६	गुरुदेवायपमाणं	६१
उवओगो पुण एत्थं	७६	गुरुविणओ सुस्सुसाइया	५
एईय एस जुत्तो सम्मं	८५	चउसरणगमण	५०
एएण पगारेणं जायइ	९०	चरमाणपवत्ताणं	५१
एएसिं नियनियभूमिगाए	२१	चियवंदण-जइविस्सामणा	३१
एएसिं पि य पायं	२३	चित्तेज्जा मोहम्मी	७१
एएसु जत्तकरणा	४९	जह खलु दिवसभत्थं	९४
एतो चिण कालेण नियमा	६	जह चेव मंतरयणाइएहिं	६३
एत्थ उवाओ य इमो	४२	जोगाणुभावओ चिय	८३
एमाइ जहोचिय	८९	ठाणा कायनिरोहो	६४
एमाइ वत्थुविसओ	३२	तइ तब्भवेण जायइ	९२
एयस्स उ भावाओ	७३	तइयस्स पुण विचित्ता	२९
एयं खु तत्तनाणं	६६	तग्गयचित्तस्स तहोव	६५
एयं पुण निच्छयओ	१२	तत्थाभिस्संगो खलु रागो	५९
एयं विसेसनाणा	१८	तप्पोगलाण तग्गज्जसहावा	११

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
तल्लक्खणजोगाओ	२२	मुत्ते णममुत्तिमओ	५६
तस्साऽऽसन्नतणओ	२८	रयणाई लद्धीओ	८४
तह कायपायणो न	८८	रागो दोसो मोहो एए	५३
ता इय आणाजोगो	१०१	रोगजरापरिणामं	६८
ता सुद्धजोगमगो	६५	लेसा य वि आणाजोगओ	१००
थीरागम्मि तत्तं तासिं	६७	वणलेवो धम्मणं	८२
दोसम्मि उ जीवाणं	७०	ववहारओ य एसो	४
नमिऊण जोगिनाहं	१	वंदणमाई उ विही	४३
नाऊण तओ तव्विसय	६०	वासीचंदणकप्पो	२०
नाणं चागमदेवाय	६७	वासीचंदणकप्पं तु एत्थ	६१
नाभावोच्चिय भावो	७२	सत्ते सु ताव मेत्ति	७६
निच्छायओ इह जोगो	२	स धम्माणुवरोहा वित्ती	३०
निययसहावालोयण	३६	सन्नाणं वत्थु गओ बोहो	३
पइरिव्वके वाघाओ	७५	सरणं गुरु उ एत्थं	४८
पडिसिद्धे सु य देसे	१७	सरणं भए उवाओ	४७
पढमस्स लोकधम्मे	२५	संवरनिच्छिड्डत्तं	३५
परिसुद्धचित्तरयणो	६६	साहारणो पुण विही	८१
पावं न तिव्वभावा कुणइ	१३	सुस्सूस धम्मराओ	१४
बीयस्स उ लोगुत्तरधम्मम्मि	२७	सुहसंठाणा अन्नो कायं	४१
भावण-सुयपाढो	५२	सुहसावथाइभक्खण	६८
मगणुसारी सद्धो	१५		



योगविशिका : गाथानुक्रमणिका

श्लोक	क्रमांक	श्लोक	क्रमांक
अणुकपा निव्वेओ संवेगो	८	कयमित्थ पसंगेणं	१७
अरिहंतचेइयाणं	१०	जे देस विरइजुत्ता	१३
आलंबणं पि एयं	१६	ठाणुन्नत्थालंबण-रहिओ	२
इक्किक्को य चउद्धा	४	तज्जुत्त कहापीईइ	५
इहरा उ कायवासिय	१२	तह चैव एयबाहगं	६
एए य चित्तरूवा	७	तित्थस्सुच्छेयाइ वि	१४
एयं च पीइभत्तागमाणुगं	१८	देसे सव्वे य तथा	३
एयम्मि मोहसागरतरणं	२०	मुत्तूण लोगसन्नं	१६
एवं चत्थालंबण	११	मोक्खेण जोयणाओ	१
एवं ठियम्मि तत्ते	६	सो एस वकओ चिय	१५



- 'योग' शरीर एवं चित्त के प्रदूषण को रोकता है, विचारों का संशोधन एवं विशोधन कर, स्फूर्ति, स्वास्थ्य, ऊर्जा और असीम बल जागृत करता है.
- शरीर एवं मन के समस्त विकारों का निरोधक, आत्मा की ऊर्ध्वगामिता का सोपान--'योग' सबके लिए सहज हो, स्वतर्क्य पठनीय-मननीय है, प्रस्तुत-- 'जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय'

— युवाचार्य मधुकर मुनि



S. Bharati / AG

# जैन योग ग्रन्थ चतुष्टय